सूर्य्यकुमारी-पुस्तकमाला—११

हिंदी-रसगंगाधर

लेखक
पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

आलोचना व निबन्ध

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

संवत् १९८६] [मूल्य ३॥)

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंह जी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुमारीजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पति-वियोग दोनों का

असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निदेशानुसार इसका कार्य्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार उमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्य्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

निवेदन

पुञ्जीभूतिः सुबहुजनिभिः श्रेयसां संचितानाम्
साक्षाद्भाग्यं ननु निवसतां नन्दपल्लीषु पुंसाम्।
पात्रं प्रेम्णां व्रजनववधूमानसादुद्गतानाम्
आम्नायानां किमपि हृदयं स्मर्यतां मञ्जुमूर्ति ॥

उद्देश्य और परिस्थिति

जिस समय मैं श्रीनाथद्वार की संस्कृत पाठशाला में अध्यापक था, उस समय मेरे एक मित्र वैद्य श्रीकृष्ण शर्मा हिंदी साहित्य सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा दे रहे थे। वे कभी कभी मेरे पास भी रसों और अलंकारों का विषय समझने के लिये आ जाया करते थे। मुझे उस समय अनुभव हुआ कि हिंदी भाषा में रसों और भावों के विषय को प्राचीन शैली से यथार्थ रूप में समझा देनेवाला कोई भी ग्रंथ नहीं है। उन्होंने मुझसे आग्रह भी किया था कि आप इस विषय में कुछ लिखिए; पर अवसराभाव से उस समय कुछ भी न हो सका। अस्तु।

उस बात को आज कोई चार-पाँच वर्ष हो गए। विक्रम संवत् १९८२ के माघ मास में मैंने किसी विशेष कारण-वश श्रीनाथद्वार छोड़ दिया। उसके कुछ ही दिनों बाद—चैत्र में—बंबई निवासी गोस्वामिकुलकौस्तुभ श्रीगोकुलनाथजी महाराज

ने मुझे जूनागढ़ और चापासनी (जोधपुर, मारवाड़) के आचार्यासनों पर विराजमान चि० गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमलालजी तथा चि० गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी के अध्यापन के लिये नियुक्त किया। इसी अवसर में मुझे काशी की साहित्याचार्य परीक्षा के लिये रसगंगाधर के अध्ययन और मनन की आवश्यकता हुई। रसगंगाधर से परिचित सभी संस्कृताभिज्ञ इस बात को मानते हैं कि रसों और भावों का जैसा विशद विवेचन रसगंगाधर में है, वैसा और कहीं नहीं है। अतः इस समय मेरे हृदय में अपने पूर्वोक्त मित्र के आग्रह की स्मृति जागरित हुई और विचार हुआ कि क्या ही अच्छा हो, यदि यह ग्रंथ हिंदी-भाषा-भाषियों के भी उपयोग में आ सके। इस विचार के कुछ दिन पूर्व, मेरे मित्र और भूपाल-नोबल्स-स्कूल, उदयपुर (मेवाड़) के अध्यापक साहित्यशास्त्री श्रीगिरिधर शर्मा व्यास ने मुझसे इस अनुवाद के लिये कहा भी था। कदाचित् उनका यह विश्वास था कि मेरा अनुवाद संस्कृत रसगंगाधर के अध्येता छात्रों के लिये भी उपयोगी होगा।

चापासनी एक छोटा सा गाँव है, इतना छोटा कि वहाँ सब मिलाकर सौ मनुष्यों की भी बस्ती नहीं है। यद्यपि अध्ययन, अध्यापन और भोजन-निर्माणादि के कारण (क्योंकि मैं वहाँ सकुटुंब नहीं रहता था) बहुत ही कम समय बच पाता था; तथापि वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो मुझसे इस समय को भी छीन लेता। हाँ, यदि मैं उसका दुरुपयोग ही

करना चाहता तो बात दूसरी थी। सो मैंने इस अनुवाद का कार्य आरम्भ कर ही डाला।

पर पूर्वोक्त आचार्यकुमार यहाँ स्थिर रूप से नहीं रह पाते। उन्हें भारतवर्ष के अधिकांश भाग में फिरते रहना होता है। और मैं तो रहा उनके साथ; इस कारण तथा अन्यान्य कारणों से भी मुझे खूब ही भ्रमण करना पड़ता है। सो इस (प्रथमानन) के अनुवाद के लिखते समय मैंने कराँची, हैदराबाद (सिंध), जोधपुर (कई बार), जयपुर (कई बार), अहमदाबाद, बड़ौदा, ईडर, बीकानेर, नागोर, जूनागढ़ (कई बार), काशी, मथुरा और श्रीनाथद्वार आदि अनेक प्रसिद्ध नगरों के अतिरिक्त काठियावाड़ के शतावधि गाँवड़ों में—प्राय: आज पहुँचे और कल चले, इस हिसाब से—भ्रमण किया है, और आज भी यही क्रम वर्त्तमान है।

गाँवड़ों में प्राय: किसानों के घरों में रहना होता है। उन गोमयगंधी अंधतमसावृत तथा खटमलों और पिस्सुओं के नियत निवासों में जिन कष्टों का अनुभव होता है, उन्हें अनुभविता के अतिरिक्त कौन समझ सकेगा? हाँ, कभी-कभी अच्छे घर भी प्राप्त हो जाते हैं; पर भाग्य से ही। फिर वहाँ पहुँचते ही घर जमाना, भोजन बनाना, पूर्वोक्त कुमारों को पढ़ाना और आवश्यकता हो तो व्याख्यानादि भी देना पड़ता है। इसके उपरांत यदि सद्भाग्य से कुछ समय प्राप्त हो गया और शरीर तथा मन स्वस्थ रहा तो इस अनुवाद के लिखने का अवसर

आता है। पर, ऐसी परिस्थिति में एकाग्रता और स्वास्थ्य कहाँ तक रह सकते हैं, इसका पता भुक्तभोगी को ही हो सकता है।

मुझे इस बात का बोध है कि मैं यह सब लिखकर आपका और अपना दोनों का समय नष्ट कर रहा हूँ; तथापि यह समझकर कि मेरी परिस्थिति का अनुभव हो जाने के कारण, आप, इस अनुवाद में कदाचित् कोई त्रुटि रह गई हो तो क्षमा कर सकेंगे, ये बातें लिख दी गई हैं। मैं आशा करता हूँ कि आप मुझे इस समय घातित्व के दोष से मुक्त कर देंगे।

अनुवाद

मैं अनुवाद उसे मानता हूँ, जिसे, जिस भाषा में वह लिखा गया है, उस भाषा-मात्र को जाननेवाला मनुष्य समझ सके। उसे मूलग्रंथ की भाषा के अध्ययन की आवश्यकता ही न पड़े। पर, आजकल हिंदी-भाषा में संस्कृत-भाषा ऐसी मिल गई है कि बिना उसके हिंदी का कुछ काम ही नहीं चल सकता; इसे उससे सर्वथा पृथक् कर देना असंभव ही है। जब समाचारपत्रों की भाषा भी संस्कृतप्रचुर होती जा रही है, तब पुस्तकों की भाषा के विषय में तो कहना ही क्या है। फिर यह तो एक ऐसे ग्रंथ का अनुवाद है जिसके विषय और भाषा इतने गंभीर हैं कि उनकी टक्कर से, ऐसे वैसे संस्कृतज्ञों का तो सिर चकराने लगता है। ऐसी स्थिति में

हमारे जैसा अल्पज्ञ और व्यग्रचित्त प्राणी इस कार्य में कृत-कृत्य होने की आशा करे, यह यद्यपि दुस्साहस-मात्र ही है तथापि यह समझकर कि संस्कृत-भाषा के महा विद्वान् तो इस काम को हाथ में लेंगे नहीं; क्योंकि वे बहुधा हिंदी में लेख लिखने में अपना अपमान मानते हैं, हमने अपनी अयो-ग्यता समझते हुए भी यह कुचेष्टा कर ही डाली। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि हमने अपने पूर्वोक्त सिद्धांत के अनुसार, जहाँ तक हो सका, अनुवाद के सरल और बामुहाविरे बनाने के प्रयत्न में किसी प्रकार की कमी नहीं की; और नव्य न्याय की शैली से लिखे हुए इस ग्रंथ के अनुवाद में भी, बिना किसी विशेष कारण के, कहीं अवच्छेदक तथा अवच्छिन्न शब्द नहीं आने दिया और उन स्थलों का तात्पर्य लिखने का प्रयत्न किया है। अब हम सफल हुए अथवा असफल, इस बात का निर्णय विद्वान् लोग करेंगे। वे कृपाकर इस बात को भी ध्यान में रखेंगे कि शास्त्रीय विषय सरल से सरल करने पर भी कहानी नहीं बन सकता।

पद्यानुवाद

हमने एक और कुचेष्टा की है। वह है उदाहरण-पद्यों का पद्यानुवाद। इसका कारण केवल यह है कि पद्य में जो एक प्रकार की बन्धकृत विशेषता होती है, वह केवल गद्यानुवाद में नहीं आ सकती; और हमारी इच्छा थी कि हिंदी के

ज्ञाता मात्र भी उसका अनुभव कर सकें। अतएव हमने अनुवाद में इस बात का ध्यान रखा है कि मूल में जहाँ नागरिका, उपनागरिका अथवा ग्राम्य वृत्ति है वहाँ अनुवाद में भी वही वृत्ति रहे, यहाँ तक कि जहाँ एक पद्य में तीन-तीन वृत्तियाँ बदली हैं, वहाँ भी उनके निर्वाह का यथाशक्ति प्रयत्न किया जाय। इतने पर भी मतभेद हो सकता है, और ऐसा होना अनिवार्य भी है।

विषय-विवेचन

हमने एक अनधिकार चेष्टा और की है। वह है भूमिका का 'विषय-विवेचन' भाग। इसमें हमने जिन विषयों का विवेचन किया है, वे अत्यन्त गंभीर और अत्यधिक सामग्री तथा अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं; और हमें विश्वास है कि इस विषय में हमारे जैसे अल्पज्ञ और अल्पबुद्धि प्राणी से अनेक भूलें हुई होंगी। और कई बातों की कमी तो हमारे जानते में भी रह गई है, जिसे हम पूरा नहीं कर सके। सद्भाग्य से यदि हमारे सामने इसके द्वितीय संस्करण का सुयोग आवेगा और उस समय हमारी परिस्थिति अच्छी होगी, तो हम उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे। इतने पर भी यह समझकर कि हमारे इस विषय को छोड़ देने पर, संभव है, कोई भावी विद्वान् इसे सर्वांगपूर्ण बना सके और इस समय भी जैसा कुछ संभव है, वह इन विषयों के अध्येताओं के उपयोगी हो, हमसे जो कुछ

बन पड़ा लिख ही दिया है। इसके लिखने में भी हमें अपनी परिस्थिति के कारण अत्यंत कष्ट उठाना पड़ा है। हम आशा करते हैं कि हमारे गुणग्राहक विद्वान् हमारी अल्पज्ञता और परिस्थिति को समझकर तथा भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की इस उक्ति को स्मरण करके कि "सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" दोषों पर दृष्टि न देंगे और हमें क्षमा करेंगे। 'विषय विवेचन' प्रकरण में जो आचार्यों के काल लिखे गए हैं, वे प्रायः म०म० श्रीदुर्गाप्रसादजी द्विवेदी की साहित्यदर्पण की भूमिका से और श्रीसुशीलकुमार दे, एम० ए० के 'संस्कृत पोयटिक्स' से लिए गए हैं, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद है।

अड़चनें

अनुवाद करने में हमें अनेक अड़चनें भी उपस्थित हुईं सबसे बड़ी अड़चन तो यह थी कि इस ग्रंथ पर कोई विवेचना-पूर्ण और विशद व्याख्या नहीं है, केवल नागेश भट्ट की गुरुमर्म-प्रकाश नामक टिप्पणी है, जिसमें उसके नामानुसार मोटे मोटे मर्म्मों पर प्रकाश डाला गया है; अतः अधिकांश स्थलों की विवेचना का भार इस अल्पज्ञ की तुच्छ बुद्धि पर ही आ पड़ा। दूसरी अड़चन यह थी कि यह ग्रंथ अब तक दो स्थानों से प्रकाशित हुआ है। एक काशी से और दूसरा 'काव्यमाला' में बंबई से। पर, न जाने क्यों दोनों ही संस्करण स्थान स्थान पर अशुद्ध हैं। काशीवाला संस्करण तो मुद्रणोपयोगी

लेख-चिह्नों से भी शून्य है, उसमें तो विशेषतः पाराग्राफ तोड़ने का भी परिश्रम नहीं किया गया। यथेष्ट व्याख्या से रहित अशुद्ध और जटिल ग्रंथ को शुद्ध करके उसका यथोचित अनुवाद करने में कितनी कठिनता होती है, उसे वही समझ सकता है, जिसे यह काम पड़ा हो। सो यह भार भी इस तुच्छ बुद्धि पर ही आ पड़ा। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों पुस्तकों के संवाद से हमें संशोधनकार्य में बहुत कुछ सहायता मिली है। तीसरी अड़चन यह थी कि उपर्युक्त भ्रमण के कारण हमें अपेक्षित पुस्तकादि भी नहीं प्राप्त हो सकती थीं; और सुतरां काठियावाड़ में; क्योंकि यहाँ संस्कृत भाषा का बिलकुल प्रचार नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारे स्वास्थ्य ने भी समय समय पर अंतराय उपस्थित कर दिया। पर, इन सब अड़चनों के होते हुए भी जहाँ तक हो सका, हमने गड़बड़-घोटाला चलाने की कोशिश नहीं की; इस प्रकार प्रथमानन का यह अनुवाद आप की सेवा में उपस्थित है। इसमें संदेह नहीं कि यदि हमारी परिस्थिति और स्वास्थ्य अच्छे होते तो यह अनुवाद इससे कहीं अच्छे रूप में सिद्ध होता। अस्तु, ईश्वरेच्छा।

अनुग्राहक

अब अंत में हम अपनी अनुग्राहक मंडली का स्मरण करके इस कथा को समाप्त करते हैं—

इस विषय में हम सबसे पहले अपने परमपूजनीय पितृ-चरण पंडित श्रीमथुरालालजी चतुर्वेदी का, जो इस समय अनंत सुख का अनुभव कर रहे हैं, स्मरण करेंगे; क्योंकि यह जो कुछ आपके सामने है, वह उन्हीं के अकृत्रिम प्रेम, संस्कृत-शिक्षण, श्रम और हार्दिक आशीर्वाद का फल है।

तदनंतर श्रीमद्वल्लभाचार्य के प्रधान पीठ पर विराजमान गोस्वामितिलक श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज और उनके विद्या-प्रेमी कुमार श्रीदामोदरलालजी महोदय के निःस्वार्थ अनुग्रह और मेरे विद्यागुरु शीघ्र कवि श्रीनन्दकिशोर शास्त्रीजी के उप-कार का स्मरण आवश्यक है; क्योंकि इस अकिंचन का, किशोरावस्था के अनंतर, शिक्षण और रक्षण उन्हीं की सहा-यता से हुआ है।

इसके बाद हमारे परममाननीय महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदीजी का स्मरण अपेक्षित है; क्योंकि रसगंगाधर की अनेक ग्रंथ-ग्रंथियों के शिथिलीकरण में उनका बहुत कुछ हाथ है।

अब यदि इस अवसर पर हम अपने परम सुहृद् काशी-निवासी साहित्यभूषण श्रीसाँवलजी नागर का स्मरण न करें, तो कदाचित् हमारा सा कृतघ्न कोई न होगा; क्योंकि इस पुस्तक का लेखन और प्रकाशन उनके उत्साहदान और निष्काम सौहार्द से बहुत कुछ संबंध रखता है।

अंत में श्रीगोवर्द्धनधरण से प्रार्थना करते हैं कि वे इस अनुवाद को साहित्यानुरागियों का प्रेमपात्र और चिरायु करें। इति शम्।

वैशाख कृष्ण ८ शुक्रवार } पुरुषोत्तम शर्म्मा चतुर्वेदी
सं० १९८४ जयपुर

पंडितराज का परिचय

जाति, वंश, अभ्युदय और शिष्य आदि

पंडितराज जगन्नाथ तैलंग[1] जाति के ब्राह्मण थे। उनका जातीय उपनाम वेगिनाडु अथवा वेल्लनाडु था, जिसे वेल्लनाटीय[2] भी कहा जाता है और जो श्रीमद्वल्लभाचार्य के सजातीय उत्तरभारतीय तैलंगों का, अब तक, उपनाम है। इनका एक 'उपनाम' त्रिशूली,[3] भी था, जो कि जयपुर की जनता में अब तक भी प्रसिद्ध है। उनके पिता का नाम पेरुभट्ट[4] अथवा पेरम[5] भट्ट था और माता का नाम 'लक्ष्मी'[6]। पेरुभट्ट महाविद्वान् थे। उन्होंने ज्ञानेंद्र[7] भिक्षु नामक विद्वान् यति से वेदांत शास्त्र, महेंद्र पंडित से न्याय और वैशेषिक शास्त्र, खंड-

---

१—'...तैलंग कुलावतंसेन पंडितजगन्नाथेन...' ('आसफविलास' का आरंभ)।

२—कुलपति मिश्र ने (आगे उद्धृत) अपने पद्य में 'वेलनाटीय' शब्द ही लिखा है।

३—मिश्र जी ने भी यह उपनाम लिखा है; अतः यह संदेह अनुचित है कि त्रिशूली जगन्नाथ कोई अन्य था।

४—रसगंगाधर में।

५—प्राणाभरण में।

६—रसगंगाधर में।

७—रसगंगाधर के आरंभ का द्वितीय पद्य।

देव पंडित से पूर्वमीमांसा शास्त्र और शेष[1] वीरेश्वर पंडित से व्याकरण महाभाष्य पढ़ा था। इसके अतिरिक्त वे वेदादिक अन्य शास्त्रों के भी ज्ञाता थे, जैसा कि रसगंगाधर के 'सर्व विद्याधर'[2] पद से सूचित होता है। पंडितराज ने प्रायः इन्हीं से अध्ययन किया था; पर इनके गुरु शेष वीरेश्वर से भी कुछ पढ़ा हो ऐसा प्रतीत होता है; यह बात 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक ग्रंथ के 'अस्मद्गुरुपंडितवीरेश्वराणाम्' इस पद से सूचित होती है। ये स्वयं भी वेद, वेदांत, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, व्याकरण और साहित्य आदि शास्त्रों के महाविद्वान् थे, ऐसा रसगंगाधर में स्थान स्थान पर उद्धृत प्रमाणों, लेखों और प्रतिपादन-शैली से सिद्ध है और इस विषय में किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती।

जब ये नवयुवक ही थे, उसी समय, इनका, तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ के दरबार में प्रवेश हो गया था, और बादशाह ने इनकी विद्वत्ता से संतुष्ट होकर इन्हें 'पंडितराज'[3] की पदवी प्रदान की थी। इनकी युवावस्था का अधिकांश शाहजहाँ[4]

१—यह उनका उपनाम था।

२—'एतेन तदितरशास्त्रवेदादिज्ञातृत्वं सूचितम्' (गुरुमर्मप्रकाशः)।

३—'...सार्वभौमश्रीशाहजहाँप्रसादादधिगतपंडितराजपदवीकेन...' ('आसफविलास' का आरंभ)।

४—'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः' (भामिनी-विलास)।

तथा उसके पुत्र दाराशिकोह[1] की छत्रच्छाया में ही व्यतीत हुआ था। शाही जमाने के संस्कृत-पंडितों में हम इन्हें परम भाग्यशाली मानते हैं, क्योंकि 'तख्तताऊस' और 'ताजमहल' आदि परम-रम्य वस्तुओं के बनवानेवाले और बड़ी भारी शान-शौकत से रहनेवाले सार्वभौम शाहजहाँ के उस शक्रोपम वैभव के भोग में इनका भी एक भाग था।

'संग्राम-सार'[2] और 'रस-रहस्य'[3] आदि ग्रंथों के निर्माता, जयपुर-नरेश श्रीरामसिंहजी प्रथम के आश्रित, व्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि माथुर चतुर्वेदी श्रीकुलपति मिश्र, जो आगरे के रहनेवाले थे, इनके शिष्य थे और इन पर उनकी अत्यंत श्रद्धा-भक्ति थी। इसके प्रमाण में हम 'संग्राम-सार' से दो पद्य उद्धृत करते हैं। वे ये हैं—

शब्द-जोग में शेष, न्याय गौतम कनाद मुनि।
सांख्य कपिल, अरु व्यास ब्रह्मपथ, कर्मनु जैमिनि॥
वेद अंग-जुत पढ़ैं, शील-तप ऋषि वसिष्ठ सम।
अलंकार-रस-रूप अष्टभाषा-कविता-क्षम॥

१—'जगदाभरण' नामक ग्रंथ में दाराशिकोह का ही वर्णन है।

२—'संग्राम-सार' वि० सं० १७३३ में बना था, यह म० म० श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदीजी के पिता कविवर श्री गोकुलचंद्रजी का कथन है।

३—'रस-रहस्य' का समय तो कवि ने स्वयं ही लिखा है—'संवत् सत्रह सौ वरष (अरु) बीते सत्ताईस। कातिक बदी एकादशी बार बरनि वानीश।' (रसरहस्य, अष्टम-वृत्तांत, पद्य २११)

तैलंग वेलनाटीय द्विज जगन्नाथ तिरशूलधर।
शाहिजहाँ दिल्लीश किय पंडितराज प्रसिद्ध धर॥
उनके पग को ध्यान धरि इष्टदेव सम जानि।
उक्ति-जुक्ति बहु भेद भरि ग्रंथहि कहौं बखानि॥

—संग्रामसार, प्रथम परिच्छेद, पद्य ४-५

इसके अतिरिक्त 'रस-रहस्य' में जो उन्होंने काव्यलक्षण लिखा है, वह भी इन्हीं की शैली का है। काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण के काव्यलक्षण पृथक् लिखे गए हैं तथा साहित्यदर्पण के काव्यलक्षण का तो खंडन भी किया गया है। रसरहस्य का काव्यलक्षण यों है—

जग ते अद्भुत सुख-सदन शब्द रु अर्थ कवित्त।
यह लक्षण मैंने कियो समुझि ग्रंथ बहु चित्त॥

पर मिश्रजी के इस पद्य से एवम् उनके रचित समग्र रस-रहस्य से भी यह सिद्ध होता है कि जिस समय पंडितराज और मिश्रजी का समागम रहा, उस समय या तो पंडितराज रसगंगाधर लिख नहीं पाए थे, या इनका समागम ही स्वल्प रहा था; क्योंकि उस पुस्तक में केवल इस लक्षण के अतिरिक्त जितनी बातें लिखी गई हैं, वे सब 'काव्यप्रकाश' से ली गई हैं और इस लक्षण में भी शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना गया है, जो कि 'रसगंगाधर' के लक्षण के विरुद्ध है।

पंडितराज के एक दूसरे शिष्य का भी पता लगता है। वे पंडितराज के सजातीय थे और उनका नाम नारायण भट्ट था।

उनके विषय में उनके भतीजे हरिहर भट्ट ने, जो महाविद्वान् थे, स्वनिर्मित 'कुलप्रबंध' नामक काव्य में यों लिखा है कि—

लब्ध्वा विद्या निखिलाः पंडितराजाज्जगन्नाथात् ।
नारायणस्तु दैवादल्पायुः स्वपुरीमगमत् ॥

अर्थात् पंडितराज जगन्नाथ से सब विद्याएँ प्राप्त करके नारायण भट्ट तो, भाग्यवशात्, थोड़ी ही अवस्था में स्वर्ग को सिधार गए[1] ।

इस सबसे यह पता लगता है कि पंडितराज के, संस्कृत और हिंदी दोनों भाषाओं के ज्ञाता, अनेक अच्छे अच्छे विद्वान् शिष्य थे ।

किंवदंतियाँ और समय

पंडितराज के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग कहते हैं कि "जगन्नाथ पंडितराज ने तैलंग देश से जयपुर आकर वहाँ एक पाठशाला स्थापित की थी और वहीं उन्होंने किसी काजी को, जो दिल्ली से आया था, मुसलमानों के मजहबी ग्रंथों को बहुत शीघ्र पढ़कर विवाद में हरा दिया था। वह काजी जब दिल्ली गया, तो उसने बादशाह के

१—नारायण भट्ट और हरिहर भट्ट के वंश में इस समय शुद्धाद्वैत-भूषण भट्ट श्रीरमानाथ शास्त्रीजी (बंबई) तथा साहित्याचार्य्य भट्ट श्रीमथुरानाथ शास्त्रीजी (जयपुर) आदि अनेक भट्ट विद्यमान हैं और उनकी प्राप्त की हुई जीविका को भोगते हैं ।

सामने पंडितराज की विद्या-बुद्धि की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इन्हें जयपुर से दिल्ली बुलाकर इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। वहाँ ये महाशय किसी यवन-कन्या पर आसक्त हो गए और बादशाह की कृपा से इनका उसके साथ ब्याह भी हो गया। इस तरह इन्होंने अपनी यौवनावस्था बादशाह के आश्रय में में ही सुखपूर्वक बिताई। जब ये बुड्ढे हुए तब काशी चले गए। पर वहाँ अप्पय दीक्षित आदि विद्वानों ने यह कहकर कि 'यह तो यवनी के संसर्ग से दूषित है' इनका तिरस्कार किया और इन्हें जाति से निकाल दिया। तब ये गंगातट पर गए और सबसे ऊपर की सीढ़ी पर बैठकर उसी समय बनाए हुए अपने पद्यों से (जिनका संग्रह 'गंगालहरी' नामक पुस्तक में है) लगे गंगाजी की स्तुति करने। फिर क्या था, भक्तवत्सला गंगाजी प्रसन्न हुईं और प्रत्येक श्लोक पर एक एक सीढ़ी चढ़ती गईं और बावनवें पद्य के पढ़ने पर पंडितराज के पास आ पहुँचीं, एवं उस यवन-कन्या सहित इन महाशय को अपनी प्रेमपूर्ण गोदी में बिठाकर स्नान करवा दिया। ईर्ष्या-द्वेष से कलुषित बेचारे काशी के पंडित पंडितराज के इस प्रभाव को देखकर अत्यंत चकित हो गए और फिर कुछ न बोल सके।"

दूसरे लोगों का यह भी कहना है कि—"जब ये महाशय दिल्ली-नरेंद्र शाहजहाँ के कृपापात्र हो गए और उनकी कृपा से इन्हें अच्छी संपत्ति प्राप्त हो गई, तब, जवानी के दिन तो

थे ही, इनके विवेक का प्रकाश लुप्त हो गया और ये अंधे होकर किसी यवनयुवती पर आसक्त हो गए। पर थोड़े समय के बाद वह मर गई। बेचारे पंडितराज उसके विरह में बड़े घबड़ाए और दिल्ली छोड़कर काशी चले गए। पर वहाँ के पंडितों ने, जो पहले इनके आचरणों को सुन चुके थे, इनका अनादर किया और ये स्वयं भी पंडितों के तिरस्कार एवं प्रियतमा की विरहाग्नि से दुःखित हुए और कहीं चैन न पा सके। परिणाम यह हुआ कि अपनी बनाई हुई गंगा-लहरी को पढ़ते हुए, जब बरसात में गंगा की बाढ़ आ रही थी तब, उसमें कूद पड़े और डूबकर मर गए।[1]"

एक किंवदंती यह भी है कि—"जब ये वृद्ध होकर काशी में जा रहे थे, तब एक दिन प्रभात के समय, ठंडी ठंडी हवा में, पंडितराज अपनी उस यवनयुवती को बगल में लिए हुए, गंगातट पर, मुँह पर वस्त्र ओढ़े हुए सोए हुए थे और इनकी सफेद चोटी खटिया से नीचे लटक रही थी। इतने में अप्पय दीक्षित वहाँ स्नान करने चले आए। उन्हें एक वृद्ध मनुष्य की यह दशा देखकर दुःख हुआ और कहने लगे कि "किं-निश्शंकं शेषे, शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ।" अर्थात् महा-

---

१—ये दोनों किंवदंतियाँ काव्यमाला में प्रकाशित रसगंगाधर की भूमिका से ली गई हैं। वहाँ यवनी की आसक्ति के अनुमापक श्लोक भी लिखे हैं, पर उन्हें अश्लील समझकर हमने छोड़ दिया है और वे सर्वत्र प्रसिद्ध भी हैं।

शय, मौत आ चुकी है, अब इस शेष वय में क्यों निडर होकर सो रहे हो ? अब तो कुछ ईश्वर का स्मरण-भजन करो और अपने जीवन को सुधारो। पर, इस पद्य के सुनते ही पंडित-राज ने ज्योंही मुँह उघाड़कर उनकी तरफ देखा, त्योंही पंडितराज को पहचानकर अप्पय दीक्षित ने इस पद्य का उत्तरार्ध यों पढ़ दिया कि "अथवा सुखं शयीथा, निकटे जागर्त्ति जाह्नवी भवतः" अर्थात् अथवा आप सुख से सोते रहिए क्योंकि आपके पास में भगवती जाह्नवी जग रही हैं। बस, आपकी फिकर उन्हें है, आप निडर रहिए[1]।"

यह भी कहा जाता है कि "पंडितराज जिस समय काशी में पढ़ते थे, उस समय जयपुर-नरेश मिरजा राजा जयसिंहजी काशीयात्रा करने गए थे। वहाँ की विद्वन्मंडली में इनकी प्रगल्भता देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें अपने साथ जयपुर ले आए। साथ ले आने का कारण यह था कि शाही दरबार में राजपूत लोगों के विषय में मुल्ला लोग यह कहा करते थे कि 'आप लोग वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं; क्योंकि जब परशुरामजी ने पृथ्वी को २१ बार निःक्षत्रिय कर दिया, तो फिर आप लोगों के पूर्वज बच कहाँ से सकते थे ?' दूसरे, यह भी कहा जाता था कि 'अरबी भाषा संस्कृत-भाषा से प्राचीन है'। ये बातें पूर्वोक्त नरेश को बहुत खटका करती थीं। पंडितराज ने वादा किया था कि हम उन्हें निरुत्तर कर

१—यह किंवदंती कुवलयानंद (निर्णय सागर) की भूमिका में है।

देंगे। जब वे उन्हें साथ ले आए, तब पंडितराज ने कहा कि—'पहली बात का—अर्थात् राजपूत लोगों के वास्तविक क्षत्रिय होने का—जवाब तो हम आज ही दे सकते हैं; पर दूसरी बात का—अर्थात् अरबी संस्कृत से प्राचीन है, इसका—जवाब तब दिया जा सकता है जब हम अरबी पढ़ लें। सो राजाजी ने उन्हें अरबी पढ़ने की अनुमति दी और उन्होंने कुछ दिन आगरे में रह-कर अरबी का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। तदनंतर ये बादशाह के सामने उपस्थित किए गए। पूछने पर इन्होंने पहली बात का यह प्रत्युत्तर दिया कि—'निःक्षत्रिय होने का अर्थ यदि यह लगाया जाता है कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा, तो फिर आप ही कहिए कि पृथ्वी २१ बार कैसे निःक्षत्रिय हुई; क्योंकि क्षत्रियमात्र की समाप्ति तो एक ही बार में हो गई होगी। और यदि यह कहो कि कुछ बच रहते थे, तो जब २० बार बचते रहे तो २१ वीं बार भी अवश्य ही कुछ बच रहे होंगे। बस, उन्हीं की संतान ये राजपूत लोग हैं।' और दूसरी बात के उत्तर के विषय में यों कहा जाता है कि अरबी भाषा में मुसलमानों की एक धर्मपुस्तक बताई जाती है, जिसका नाम 'हदीस' है। उसमें एक जगह यह लिखा है कि—'ऐ मुसलमानो! हिंदू लोग जिस तरह मानते हैं, उससे उलटा तुम्हें मानना चाहिए।' सो पंडितराज ने कहा कि 'बिना भाषा के तो कोई धर्म हो नहीं सकता, और आपका 'हदीस' इस बात की सूचना देता है कि उस वाक्य से पहले भी हिंदुओं

का कोई धर्म था। अतः जब धर्म था तो भाषा अवश्यमेव थी और हिंदुओं की धार्मिक भाषा संस्कृत के अतिरिक्त अन्य कोई हो नहीं सकती; इस कारण आपको मानना पड़ेगा कि संस्कृत अरबी से प्राचीन है।' कहा जाता है कि इन तर्कों से बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और तब से शाही दरबार में इनका भारी दबदबा हो गया[१]।"

यह तो हुई किंवदंतियों की बात। अब समय का विचार कीजिए। इस विषय में अब तक लोगों ने मोटे तौर पर यह सोच लिया है कि शाहजहाँ का राज्याभिषेक सन् १६२८ ई० में हुआ और सन् १६५८ ई० में औरंगजेब के द्वारा वह कैद कर लिया गया तथा सन् १६६६ ई० में मर गया। बस, यही पंडितराज का समय है। अतएव यह कहा जाता है कि 'अप्पय दीक्षित पंडितराज के समकालिक नहीं थे एवं उनके इनके कुछ विरोध नहीं था' इत्यादि।

पर, इस विषय में अब कुछ नवीन प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है। अप्पय दीक्षित का एक ग्रंथ 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' नाम का है। उसके कुंभकोण-वाले संस्करण की भूमिका में विद्वान् भूमिका-लेखक ने २-३ श्लोक ऐसे लिखे हैं कि जिनसे पंडितराज के समय के विषय

१—यह किंवदंती महामहोपाध्याय श्रीगिरिधर शर्माजी चतुर्वेदी के मुख से सुनी गई है, और अन्य किंवदंतियों की अपेक्षा कुछ प्रामाणिक प्रतीत होती है।

में कुछ सूक्ष्म विचार हो सकता है और पहली किंवदंती का कुछ अंश सिद्ध सा हो जाता है। उनमें से पहला श्लोक, जिसको उन्होंने काव्यप्रकाश की व्याख्या में नागेश भट्ट का लिखा हुआ बतलाया है, यह है—

दृप्यद्द्राविड़दुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा
यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।
तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्नात्कुचं
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्यप्पयाद्यान् स्थितान्॥

अर्थात् गर्वयुक्त द्राविड़ (अप्पय दीक्षित अथवा द्राविड़ लोगों) के दुराग्रह रूपी भूत के आवेश से गुरुद्रोही भट्टोजि दीक्षित ने भरी सभा में बिना सोचे-समझे (पंडितराज से) अस्पष्टतया जो 'म्लेच्छ' यह शब्द कह दिया था उसको धैर्यनिधि पंडितराज ने सत्य कर दिखाया; क्योंकि इतने अप्पयादिक विद्वानों के विद्यमान रहते हुए, उन्हें विवश करके भट्टोजि दीक्षित की मनोरमा (सिद्धांतकौमुदी की व्याख्या) का कुचमर्दन (खंडन) कर दिया। बात भी ठीक है, जब पंडितराज को म्लेच्छ ही बना दिया गया, तो वे म्लेच्छ कहनेवाले की मनोरमा (स्त्री) का कुचमर्दन करके क्यों न उसे म्लेच्छता का चमत्कार दिखा देते।

दूसरा श्लोक 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' नामक पुस्तक का है। वह यों है—

अप्पय्यदुर्ग्रहविचेतितचेतनानामार्यद्रुहामयमहं शमयेऽवलेपान्।

अर्थात् अप्पय दीक्षित के दुराग्रह से जिनकी बुद्धि मूर्च्छित हो गई है, उन गुरुद्रोहियों के गर्वों को यह मैं शांतकर रहा हूँ।

तीसरा श्लोक बाल कवि का बनाया हुआ बताया जाता है, जिनको अप्पय दीक्षित के भ्राता के पौत्र नीलकंठ ने 'नल-चरित' नामक ग्रंथ में अप्पय दीक्षित के समकालिक माना है। उन्होंने लिखा है कि—

> यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता
>
> भट्टोजिप्रमुखाः, स पंडित जगन्नाथोऽपि निस्तारितः।
>
> पूर्वेऽर्धे, चरमे, द्विसप्ततितमस्याऽब्दस्य सद्विश्वजि—
>
> द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजज्ज्योतिः सतां पश्यताम्॥

अर्थात् अप्पय दीक्षित ने अपनी आयु के ७२वें वर्ष के पूर्वार्ध में, विश्वजित् यज्ञ करने के लिये, पृथ्वी के चारों तरफ घूमते हुए भट्टोजि दीक्षित आदि सब विद्वानों को विजय किया और उस—सुप्रसिद्ध—पंडित जगन्नाथ का भी उद्धार कर दिया। फिर इसी वर्ष के उत्तरार्ध में विश्वजित् यज्ञ किया और चिदंबरक्षेत्र में सब सज्जनों के देखते हुए आत्मज्योति को प्राप्त हो गए।

अब यहाँ विचार करने की बात यह है कि अप्पय दीक्षित पंडितराज के समकालिक हो सकते हैं, अथवा नहीं। हमारी समझ से समकालिक हो सकते हैं। कारण यह

है कि भट्टोजि दीक्षित के गुरु शेषश्रीकृष्ण थे[1]। और शेषवीरेश्वर शेषश्रीकृष्ण के पुत्र थे यह भी सिद्ध है[2]। यही शेषवीरेश्वर पंडितराज के पिता पेरुभट्ट के एवं पंडितराज के गुरु हैं, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। सो यह सिद्ध हो जाता है कि शेषवीरेश्वर और भट्टोजि दीक्षित समकालिक थे; क्योंकि एक शेषश्रीकृष्ण के पुत्र थे और दूसरे शिष्य। और बहुत संभव है कि शेषवीरेश्वर भट्टोजि दीक्षित से बड़े रहे हों। कारण, एक तो उन्होंने अपने विद्यमान रहते भी मनोरमा का खंडन अपने त्र और शिष्य (पंडितराज) के द्वारा करवाया और अपने स्वयं पिता की पुस्तक के खंडन के प्रतिवाद में, कुछ भी न लिखा, जिसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने से छोटों की प्रतिद्वंद्विता करना अनुचित समझा हो। यह असंभव भी नहीं; क्योंकि प्राचीन पंडितों के शिष्य तो अति वृद्धावस्था तक—किंबहुना, देहावसान तक—हुआ करते थे और आज-दिन भी ऐसा देखा जाता है। पर, इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों समकालिक थे। साथ ही पूर्वोद्धृत श्लोकों से भी यह सिद्ध हो जाता है कि भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित समकालिक थे। तब, जब पंडितराज शेषवीरेश्वर से

१—'......शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णपंडितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनाः......' ('मनोरमाकुचमर्दन' में भट्टोजि दीक्षित का विशेषण)।

२—'मनोरमाकुचमर्दन' का वही आरंभ का भाग।

पढ़ सकते थे, तो भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित भी उनके समय में रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पर, यहाँ एक और भी विचारणीय बात है, जिसने कि अप्पय दीक्षित को जगन्नाथ के समकालिक मानने में ऐतिहासिकों को भ्रांत कर दिया है। वह यह है कि पूर्वोक्त नीलकंठ दीक्षित, जो अप्पय दीक्षित के भ्राता के पौत्र थे, अपने बनाए हुए 'नीलकंठविजय' नामक चंपू में लिखते हैं—

अष्टत्रिंशदुपस्कृतसप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु।
कलिवर्षेषु गतेषु ग्रथितः किल नीलकंठविजयोऽयम्॥

अर्थात् वह 'नीलकंठविजय' कलियुग के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा गया है।

यह समय ईसवी सन् १६३७ के लगभग होता है और उस समय शाहजहाँ का राजत्वकाल था। सो यह सिद्ध किया जाता है कि यह नीलकंठ पंडितराज का समकालिक था, इसके दादा अप्पय दीक्षित नहीं।

नीलकंठ ने स्वनिर्मित 'त्यागराजस्तव' में यह लिखा है कि—

योऽतनुताऽनुजसूनुजमनुग्रहेणात्मतुल्यमहिमानम्॥

अर्थात् जिन (अप्पय दीक्षित) ने अपने छोटे भाई के पौत्र (मुझ) को, अनुग्रह करके, अपने समान प्रभाववाला बना दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि नीलकंठ ने अप्पय दीक्षित से अध्ययन किया था। पर उसी भूमिका में 'ब्रह्मविद्यापत्रिका' का हवाला देकर यह लिखा गया है—

'नीलकंठविजय' को कवि ने अपनी आयु के तीसवें वर्ष में लिखा है और कवि जिस समय बारह वर्ष का था, उसी समय सत्तर वर्ष के वृद्ध अप्पय दीक्षित ने उस पर अनुग्रह किया था। अतः अप्पय दीक्षित का जन्म सन् १५५० ई० होता है[१]।

ऊपर उद्धृत बाल कवि के श्लोक से यह सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षित का देहावसान ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ था। महामहोपाध्याय श्री गंगाधर शास्त्रीजी ने सिद्धांतलेश-संग्रह के काशीवाले संस्करण की भूमिका में एक पद्य स्वयं अप्पय दीक्षित का भी उद्धृत किया है। वह यों है—'वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा न किंचिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्। अर्थात् मेरी अवस्था इस समय ७० वर्ष से ऊपर है, अब मुझे विषय-भोग की अभिलाषा नहीं रही, अब तो केवल कैलास-वास की इच्छा है।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनका प्रयाण उपर्युक्त श्लोक के वर्णित समय में ही हुआ होगा। सो ब्रह्मविद्यापत्रिका के अनुसार उनका मृत्युकाल १६२२ ई० सिद्ध होता है, जो शाहजहाँ के राजत्व काल से पहले है।

पर यह बात पूर्णतया निर्णीत नहीं कही जा सकती। क्योंकि यह मानना कि 'दीक्षितजी ने सत्तर वर्ष की अवस्था में

१—"ब्रह्मविद्यापत्रिकाकारास्तु—'नीलकंठविजयश्च कविना त्रिंशे वर्षे प्रणायि। कविश्च द्वादशवर्ष एव सप्ततिवयसा दीक्षितेनानुगृहीतः। अतस्तेषामवतारकालः कल्पाब्दः ४६५०, शकाब्दः १४७१, सन् १५५०' इत्युजादहुः"। (सिद्धांतलेशभूमिका)।

१२ वर्ष के पौत्र पर अनुग्रह किया था', केवल किंवदंतीमूलक है, और पूर्वोक्त सिद्धांतलेशसंग्रह के भूमिका-लेखक भी इसके मानने में विप्रतिपन्न हैं। अतः हमारी समझ में तो यह आता है कि 'नीलकंठविजय' के लिखते समय दीक्षितजी भी उपस्थित थे, और पौत्र की अवस्था उस समय ३० वर्ष की थी। नीलकंठ ने स्वयं भी अप्पय दीक्षित की वंदना में वर्तमान काल का प्रयोग किया है[१], और ७०-७२ वर्ष के दादा के ३० वर्ष का पौत्र होना कुछ असंभव भी नहीं। सो यह सिद्ध हो जाता है कि अप्पय दीक्षित भी शाहजहाँ के राजत्वकाल तक विद्यमान थे।

अब यह विचार कीजिए कि पंडितराज दारा के विनाश और शाहजहाँ के कारावास तक दिल्ली में थे अथवा नहीं। यह कहा जा सकता है कि दारा के अभ्युदय और यौवन तक वे वहाँ थे, जैसा कि 'जगदाभरण' के प्रणयन से सिद्ध होता है। सो यह तो उस दुर्घटना के बहुत पूर्वकाल में भी बन सकता है। कारण, औरंगजेब के राज्यारोहण का वय चालीस वर्ष है, जो इतिहासप्रसिद्ध है। तब वह शाहजहाँ के राज्यारोहण के समय दस वर्ष का सिद्ध होता है। और, दारा तो उससे लगभग ६ वर्ष बड़ा होना चाहिए; क्योंकि औरंगजेब से बड़ा शुजा और उससे बड़ा दारा था। सो ई० सन् १६३९ तक, जो 'नीलकंठविजय' का

१—'श्रीमानप्पयदीक्षितः स जयति श्रीकंठविद्यागुरुः' (नीलकंठ-विजय)।

लेखनकाल है, दारा सत्ताईस वर्ष के लगभग सिद्ध होता है, जब कि उसका पूर्ण यौवन कहा जा सकता है। अब, यदि हम पंडितराज को दारा के समवयस्क मान लें तो कोई अनुपपत्ति न होगी; प्रत्युत यह सिद्ध हो सकता है कि समवयस्कों में प्रीति अधिक हुआ करती है, इस कारण समवयस्क ही रहे हों। और, यदि यह माना जाय कि दारा का उनके पास अध्ययनादि, जो कि उसके हिंदूधर्म की अभिरुचि और संस्कृत-ज्ञान आदि ऐतिहासिक वृत्तों से विदित है, हुआ हो, तो अधिक वय भी हो सकता है। निदान यह सिद्ध हो जाता है कि पंडितराज अप्पय दीक्षित की वृद्धावस्था में अवश्य विद्यमान थे। हाँ, यह कहा जा सकता है कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित आदि वृद्ध रहे होंगे और पंडितराज युवा। अतएव उस समय के उन कट्टर सामाजिक लोगों ने, बादशाही दरबार में रहने के कारण, इन पर संदेह करके इन्हें तिरस्कृत किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अप्पय दीक्षित द्राविड़ थे, भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्र और पंडितराज तैलंग; और आज-दिन तक भी इन जातियों में परस्पर सहभोज होता है; अतः अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित ने, जो उस समय वृद्ध थे, इनकी पंचायती में प्रधानता पाई हो तो कोई असंभव बात नहीं। अप्पय दीक्षित अंतिम वय में कुछ समय काशी रहे भी थे और वहाँ के समाज में उनका अच्छा सम्मान था, यह भी उसी भूमिका से सिद्ध होता है। पंडितराज ने भी रस-

गंगाधर में अप्पय दीक्षित के नाम के स्थान पर, कई जगह, 'द्रविडशिरोमणिभिः' और 'द्रविडपुङ्गवैः' शब्द लिखे हैं; जो कि इनके सरपंच होने की सूचना देते हैं।

जब यह बात ठीक हो गई कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित इनके समय में थे, तो पूर्वोक्त श्लोकों के अर्थ को मिथ्या मानने में कोई विशेष उपपत्ति नहीं रह जाती। अब यह बात सामने आती है कि भट्टोजि दीक्षित ने इन्हें भरी सभा में 'म्लेच्छ' क्यों कहा था। विचारने पर इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि यवन सम्राट् के दरबार में रहने के कारण इन पर यवनों के संसर्ग का आक्षेप किया गया हो, और दूसरा वही, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है कि इनका किसी यवनयुवती से संपर्क रहा हो। पहले कारण में तो प्रमाण देने की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वे शाहजहाँ और दाराशिकोह के कृपापात्र थे यह निस्संदेह है। रही दूसरी बात, सो वह भी सर्वथा असंभव तो नहीं है; क्योंकि दिल्लीश्वर के कृपापात्र अतएव सर्वविध संपत्ति से संपन्न और तत्कालीन दिल्ली जैसे विलासमय नगर के निवासी नवयुवक को, उन उन्मादक नवयौवन के दिवसों ने, जो कंगालों को भी पागल बना देते हैं, यदि किसी यवन विलासिनी पर आसक्त होने के लिये विवश कर दिया हो और उन्होंने किसी यवनी को रख लिया हो तो आश्चर्य की क्या बात है। रही काव्यमालासंपादक की यह बात, कि यवन

युवती की आसक्ति को प्रमाणित करनेवाले श्लोक उनकी किसी पुस्तक में नहीं मिलते। सो यह कोई ऐसी दुःसमाधेय बात नहीं है; क्योंकि सभी कवियों के सभी पद्य पुस्तकों में संगृहीत नहीं होते, कुछ फुटकर भी रह जाते हैं। फिर पंडितराज जैसे विद्वान् अपनी पुस्तक में उन उन्मादक दिवसों के लिखे हुए कुसंसर्ग-सूचक श्लोकों को संगृहीत करते यह भी अघटित ही है।

अस्तु, कुछ भी हो। हम एक महा विद्वान् को कलंकित करना नहीं चाहते; पर इतिहास की दृष्टि से हमारे विचार में जो कुछ सत्य आया, उसे छिपाना भी उचित नहीं था। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध है कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित पंडितराज के समय में वर्तमान और जाति के सरपंच थे, और उनको इन पर यवन-संसर्ग का संदेह था, तथा इसी कारण इनका उनका मनोमालिन्य था। बाल कवि के श्लोक से यह भी सिद्ध है कि अप्पय दीक्षित की अंतिमावस्था में इनका निस्तार भी हो गया था। पर, इनका वर्षों का द्वेष इतने मात्र से सर्वथा शुद्ध न हुआ और वह रसगंगाधर में झलक ही आता है।

हाँ, दूसरी किंवदंती में जो यह कहा गया है कि 'वे डूब मरे' सो सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि रसगंगाधर गंगालहरी के बहुत पीछे बना है और इसमें स्थान स्थान पर उसके पद्य उद्धृत हैं। तीसरी किंवदंती भी मिथ्या प्रतीत होती है; क्योंकि अप्पय दीक्षित के सामने पंडितराज का वृद्ध होना किसी तरह सिद्ध नहीं होता।

स्वभावादि

पंडितराज का स्वभाव उद्धत, अभिमानपूर्ण और महान् से महान् पुरुष के भी दोषों को सहसा उघाड़ देनेवाला था। नमूने के तौर पर एक एक उदाहरण सुनिए। पहले उद्धतता को लीजिए। किसी कवि से उसके बनाए हुए पद्य सुनने के पहले आप कह रहे हैं कि—

> निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यंतपाकद्रव-
>
> न्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
>
> काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां
>
> नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वांताद्बहिर्मा कृथाः।

हे सखे! यदि आप अत्यंत पक जाने के कारण टपकती हुई दाख और शहद की मधुरता के मद को दूर कर देने में तत्पर वचनों की रचना के पूर्णतया मर्मज्ञ हैं, तब तो अपनी कविता को मेरे से मनुष्यों के सामने बड़े मजे से कहते रहिए। पर यदि आपमें वह शक्ति न हो, तो, जिस तरह मनुष्य अपने किए हुए पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं करता, उसी तरह आप भी अपनी कविता को अपने हृदय से बाहर न होने दीजिए। आप अपने उस अपराध को मन के मन में ही रखिए, कहीं ऐसा न हो कि जबान पर आ जाय।

देखिए तो कैसी उद्धतता है। कविता को अपराध तो बना ही दिया, केवल सजा देना बाकी रह गया। सो, शायद, वह बेचारा वैसे पद्य बोला ही न होगा, अन्यथा, अधिक

नहीं तो, एकाध थप्पड़ का पुरस्कार तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता।

अब अभिमान की बात सुनिए। आप कहते हैं—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

सुमेरु पर्वत की तरहटी से लेकर मलयाचल से घिरे हुए समुद्रतट तक, जितने भी कविता करने में निपुण पुरुष हैं, वे निर्भय होकर कहें कि दाखों के अंदर से निकलनेवाली चिकनी रसधारा की मधुरता का भग्य जिन्हें प्राप्त है—अर्थात् जिनकी कविता उसके समान मधुर है, उन वाणियों के आचार्य पद का अनुभव करने के लिये मेरे अतिरिक्त कौन पुरुष धन्य हो सकता है। इस विषय में तो मैं एक ही धन्य हूँ, दूसरे किसी की क्या मजाल है कि वह इस पद को प्राप्त कर सके।

देखिए तो आचार्यजी महाराज कितने अभिमत्त हो गए हैं। आपने किसी दूसरे के धन्यवाद की भी तो अपेक्षा नहीं रखी, उस रस्म को भी अपने आप ही पूरा कर लिया; क्योंकि शायद किसी अन्य को यह धन्यवाद देने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता तो आचार्यजी को कृतज्ञता दिखाने के लिये उसके सामने थोड़ी देर तो आँखें नीची करनी पड़तीं ही।

अच्छा, अब दोषोद्घाटन की तरफ भी दृष्टि दीजिए। अप्पय दीक्षितादि को तो छोड़िए; क्योंकि उनके दोषोद्घाटन

में तो आपने हद ही की है। पर आप ध्वनिकार श्रीआनंदवर्धनाचार्य के परम भक्त हैं, समय समय पर आपने उनका बड़े आदर से स्मरण किया है; किंतु उस दोषदर्शिनी दृष्टि के पंजे से वे भी कैसे बच सकते थे? एक जगह (रूपकध्वनि के उदाहरण में) चक्कर में आ ही गए। फिर क्या था, झट से लिख दिया 'आनंदवर्धनाचार्यास्तु...' और 'तच्चिंत्यम्'।

आपके उदाहरणों में शाही जमाने की झलक भी आ ही जाती है। उस समय कबूतरों के जोड़े पालने का बहुत प्रचार था, और अब भी यवनों में इस बात का प्रचार है। सो आपने लज्जा-भाव की ध्वनि के उदाहरण में लिख ही दिया—

निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव ॥[1]

उत्तर भारत में रहने पर भी आप पर दाक्षिणात्यता का प्रभाव ज्यों का त्यों था। देखिए तो भावशबलता का दृष्टांत किस तरह का दिया गया है—

नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथा स्वादो भावानां संहतौ तथा ॥

अर्थात् जिस तरह नारियल के जल, दूध, मिश्री और केलों के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह भावों के मिश्रण में भी होता है। क्या इस विलक्षण मिक्स्चर को दाक्षिणात्यों के सिवा कोई पहचान सकता है?

१—इसका अर्थ अनुवाद में देख लीजिए।

इसी तरह अन्यान्य बातें भी इस पुस्तक के पाठ से आपके हृदय में अवतरित हो सकेंगी, हम अधिक उदाहरण देकर इस प्रकरण को विस्तृत नहीं करना चाहते।

धर्म और अंतिम वय

आप वैष्णवधर्म के अनुयायी और भगवान् श्रीकृष्णचंद्र तथा भगवती भागीरथी के परम भक्त थे; यह मंगलाचरण में लिखित और स्थान स्थान पर उदाहृत श्लोकों से सिद्ध है। पर शिव तथा देवी आदि की स्तुति करने में भी हिचकते नहीं थे। श्रीमद्भागवत[1] और वेदव्यास[2] पर आपको अत्यंत श्रद्धा थी। भगवन्नामोच्चारण में आपको बड़ा आनंद प्राप्त होता था। देखिए, आपने लिखा है कि—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
तत्त्वं ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः॥

हे मेरे जीवात्मन्! तूने अंगूर चक्खे हैं, मिश्री अच्छी तरह खाई है और दूध तो खूब ही पिया है। इसके अतिरिक्त (पहले जन्मों में कभी) स्वर्ग में जाने पर अमृत भी पिया है और स्वर्गीय अप्सरा रंभा के अधर को भी खंडित

१—देखिए, 'रस नव ही क्यों हैं' आदि प्रकरण।

२—'ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि, नियमेन। आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्व्यासः' (स्मरणालंकार) आदि।

किया है। सो तू बता कि संसार में बार बार घूमते हुए तूने, 'कृष्ण' इन दो अक्षरों में जो मधुरता का उभार है, उसे भी कहीं देखा है? ओह! यह अपूर्व माधुरी और कहीं कैसे प्राप्त हो सकती है! देखा भावोद्रेक!

वास्तव में सरसहृदयों के लिये, भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई, भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्तम और सुंदर साधन है भी नहीं।

अंतिम वय में पंडितराज काशी अथवा मथुरा में जा बसे थे और भगवत्सेवा करते रहते थे।[1]

निर्मित ग्रंथ

१—अमृतलहरी—इसमें यमुनाजी की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।

२—आसफविलास—इसमें नवाब आसफखाँ का वर्णन है। काव्यमाला-संपादक ने लिखा है कि यह ग्रंथ हमें नहीं मिल सका, कुछ पंक्तियाँ ही मिली हैं।

३—करुणालहरी—इसमें विष्णु की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।

४—चित्रमीमांसाखंडन—इसमें रसगंगाधर में स्थान स्थान पर जो चित्रमीमांसा के अंशों का खंडन किया गया है, उसका संग्रह है और काव्यमाला में छप चुका है।

१—'भामिनीविलास' के अंत में 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते' और कुछ पुस्तकों में 'संप्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते' लिखा हुआ है।

५—**जगदाभरण**—इसमें शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह की प्रशंसा है। काव्यमाला के संपादक का कथन है कि प्राणाभरण में और इसमें इतना ही भेद है कि इसमें प्राणनारायण के नाम के स्थान पर दाराशिकोह का नाम है।

६—**पीयूषलहरी**—इसका सुप्रसिद्ध नाम गंगालहरी है और यह अनेक जगह अनेक बार छप चुकी है।

७—**प्राणाभरण**—इसमें नैपालनरेश प्राणनारायण का वर्णन है और यह काव्य-माला में छप चुका है।

८—**भामिनीविलास**—यह पण्डितराज के पद्यों का संग्रह है और अनेक बार छप चुका है।

९—**मनोरमाकुचमर्दन**—यह सिद्धान्तकौमुदी की मनोरमा व्याख्या का खंडन है, पर इसका प्रचार नहीं है।

१०—**यमुनावर्णन**—यह ग्रंथ गद्य में लिखा गया है; क्योंकि रसगंगाधर के उदाहरणों में इसके दो तीन गद्यांश उद्धृत किए गए हैं; पर मिलता नहीं।

११—**लक्ष्मीलहरी**—इसमें लक्ष्मीजी की स्तुति है और यह काव्यमाला आदि में छप चुकी है।

१२—**रसगंगाधर**—यह आपके सामने प्रस्तुत है। पंडितराज का सबसे प्रौढ़ और मुख्य ग्रंथ यही है; परंतु आज दिन तक न यह पूरा मिल सका और न पूरा मिलने की अब आशा है।

कुछ लोगों का कथन है कि इनके अतिरिक्त 'शशिसेना',

'पंडितराजशतक' नामक दो और ग्रंथ भी पंडितराज के बनाए हुए हैं; पर वे देखने में नहीं आते।

अंतिम ग्रंथ

काव्यमाला-संपादक का कथन है कि—रसगंगाधर पंडितराज का अंतिम ग्रंथ नहीं है, इसके बनाने के अनंतर भी वे जीवित रहे। इसका कारण वे यह बताते हैं कि पंडितराज ने इसके अनंतर 'चित्रमीमांसाखंडन' लिखा है। पर, हमारी समझ में, यह हेतु यथेष्ट नहीं। इसका कारण यह है कि 'चित्रमीमांसाखंडन' कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, उसमें रसगंगाधर के वे अंश, जिनमें उस पुस्तक का खंडन आया है, ज्यों के त्यों संगृहीत कर लिए गए हैं। संग्रह का कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय आज-कल की तरह मुद्रण-कला का प्रचार नहीं था, इस कारण किसी भी ग्रंथ का दूर देशों तक प्रचार बहुत विलंब से होता था और पंडितराज को अप्पय दीक्षित के हिमायतियों को उनकी भूलें दिखा देने की बहुत आतुरता थी; वे चाहते थे कि लोगों पर जो अप्पय दीक्षित का प्रभाव पड़ा हुआ है, वह मेरे सामने ही कम हो जाय। सो पूर्वोक्त संग्रह की अनेक प्रतियाँ, जो समग्र रसगंगाधर की अपेक्षा थोड़े समय और व्यय में हो सकती थीं और रसगंगाधर की समाप्ति के पूर्व ही उन लोगों के हाथों में पहुँचाई जा सकती थीं, लिखवाकर उन्होंने उन सब लोगों के पास भिजवा दीं और आगे का ग्रंथ लिखते रहे।

अन्यथा जो सब बातें रसगंगाधर में आ गई थीं उनके पृथक् संग्रह की—और वह भी ऐसे संग्रह की कि जिसमें कुछ भी नवीनता नहीं है—क्या आवश्यकता थी। "चित्रमीमांसा-खंडन" के आरंभ में यह श्लोक लिखा है—

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानामप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यात्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि॥

अर्थात् इस अप्पय दीक्षित की कृति (चित्रमीमांसा) में मैंने, सूक्ष्म विचार करके, जो कुछ दूषण दिखाए हैं, उनका यदि कोई निर्मत्सर पुरुष उद्धार कर दे तो उस निर्मलबुद्धि पुरुष के दोनों पैरों को मैं अपने सिर पर रखूँगा। इससे भी इस संग्रह का कारण यही प्रतीत होता है।

काव्यमाला-संपादक ने यह भी लिखा है कि इतना अनुमान किया जा सकता है कि पंडितराज ने अप्पय दीक्षित के द्वेष से रसगंगाधर के द्वारा 'चित्रमीमांसा' का अनुकरण करना प्रारंभ किया था, सो उन्होंने भी अपने ग्रंथ को असमाप्त ही छोड़ दिया। पर यह बात बनती नहीं। कारण, यदि यह ग्रंथ चित्रमीमांसा के अनुकरण पर ही लिखा गया होता तो मीमांसा में तो काव्यलक्षण, रस, भाव, गुण आदि का कहीं निशान भी नहीं। फिर भला इस पुस्तक में इन सब विषयों के विवेचन की क्या आवश्यकता थी? और यदि वैसा ही करना था—अर्थात् अधूरा ही छोड़ना था—तो क्या पंडितराज भी चित्रमीमांसा की तरह ही, कोई श्लोक बनाकर

अंत में नहीं रख सकते थे, क्यों उत्तरालंकार के उदाहरण के तीन पादों पर ही ग्रंथ लटकता रह गया ?

दूसरे, इस बात को तो काव्यमाला-संपादक भी मानते हैं कि पंडितराज रसगंगाधर के पाँच आनन बनाना चाहते थे, अतएव उन्होंने इस पुस्तक के प्रकरणों का नाम 'आनन' रखा था; क्योंकि गंगाधर (शिव) के पाँच आनन (मुख) होते हैं। फिर, चित्रमीमांसा का अनुकरण तो अधिक से अधिक अलंकारसमाप्ति तक हो सकता था, जो दूसरे आनन में समाप्त हो जाता। यदि उसका अनुकरण ही करना था, तो वे क्यों आगे लिखना चाहते थे। तीसरे, रसगंगाधर के उद्देश्यों में भी यह बात नहीं है कि जिससे यह अनुमान किया जाय।

अतः हमारी तुच्छ बुद्धि के अनुसार तो यह मानना उचित है कि पंडितराज का अंतिम ग्रंथ रसगंगाधर ही है और इसकी समाप्ति के पूर्व ही उनका देहावसान हो गया था।

अन्य जगन्नाथ

इसके अतिरिक्त एक और बात समझ लेने की है। वह यह कि अब तक संस्कृत भाषा में ग्रंथ निर्माण करनेवाले अनेक जगन्नाथ पंडित हो गए हैं, सो उनके नाम हम यहाँ काव्यमाला की भूमिका से इसलिये उद्धृत कर रहे हैं कि कोई उनकी पुस्तकों को भी पंडितराज की पुस्तकें न समझ ले।

१—तंजौरवासी जगन्नाथ—इनके ग्रंथ अश्वधारी, रतिमन्मथ और वसुमतीपरिणय हैं।

२—**जयपुरनिवासी सम्राट् जगन्नाथ**—इनके ग्रंथ रेखागणित, सिद्धांतसम्राट् और सिद्धांतकौस्तुभ हैं।

३—**जगन्नाथ तर्कपंचानन**—इनका ग्रंथ विवाद-भंगार्णव है।

४—**जगन्नाथ मैथिल**—इनका ग्रंथ अतंद्रचंद्रिक नाटक है।

५—**श्रीनिवास के पुत्र जगन्नाथ पंडित**—इनका ग्रंथ अनंगविजय भाण है।

६—**जगन्नाथ मिश्र**—इनका ग्रंथ सभातरंग है।

७—**जगन्नाथ सरस्वती**—इनका ग्रंथ अद्वैतामृत है।

८—**जगन्नाथ सूरि**—इनका ग्रंथ समुदाय प्रकरण है।

९—**जगन्नाथ**—इनका ग्रंथ शरभगजविलास है।

१०—**नारायण दैवज्ञ के पुत्र जगन्नाथ**—इनका ग्रंथ ज्ञानविलास है।

११—**जगन्नाथ**—इनका ग्रंथ अनुभोगकल्पतरु है।[१]

वैशाखवदि द्वितीया शनिवार
संवत् १९८५
७ एप्रिल सन् १९२८

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
जयपुर।

१—इस प्रकरण में जिन विद्वानों से साक्षात् अथवा उनके पुस्तकादि के द्वारा सहायता प्राप्त हुई है, उनका, और विशेषतः काव्यमाला-संपादक का, लेखक हृदय से कृतज्ञ है।

विषय-विवेचन

काव्यलक्षण का विवेचन

कवि और काव्य

इस ग्रंथ को स्वयं ग्रंथकर्त्ता ने 'काव्यमीमांसा'[1] कहा है, और सबसे पहले काव्य-लक्षण का ही विवेचन किया है; अत: यह सोचिए कि जिसकी मीमांसा इस ग्रंथ में की जा रही है और जिसका लक्षण सबसे प्रथम लिखा गया है, वह काव्य क्या वस्तु है? अर्थात् काव्य शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? और साथ ही यह भी सोचिए कि वह काव्य-लक्षण अब तक किन किन विवेचकों की टक्करें खाकर किस किस रूप में परिणत हो चुका है।

'काव्य' शब्द का अर्थ, व्याकरण की रीति से, 'कवि[2] की कृति' होता है, अर्थात् कवि जो कार्य करता है, उसे 'काव्य' कहा जाता है। तब यह समझने की आवश्यकता होती है कि कवि शब्द का अर्थ क्या है, और वह क्या कार्य करता है। व्याकरण के अनुसार कवि शब्द का अर्थ

१—मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपंडितनरेंद्रः। रसगंगाधर-नाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम्।—प्रथमानन, ७ श्लोक।

२—'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति कर्मणि ष्यञ्।

किसी विषय का कहनेवाला[१] अथवा प्रतिपादन करनेवाला होता है और कोषकार उसे पंडित[२] शब्द का पर्याय-वाची मानते हैं। अतः व्याकरण और कोष दोनों, अथवा यों कहिए कि योग और रूढ़ि दोनों, की दृष्टि से एक साथ विचार करने पर इस शब्द का अर्थ 'किसी विषय का प्रतिपादन करनेवाला विद्वान्' होता है। इसी बात को सीधे शब्दों में यों कह सकते हैं कि कवि उस जानकार का नाम है, जो अपनी जानी हुई बातों का प्रतिपादन कर सके।

शुरू शुरू में यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत होता था। अतएव सर्वज्ञ और, वेदों के द्वारा, सब पदार्थों का सूक्ष्म रूप से प्रतिपादन करनेवाले जगदीश्वर के लिये वेदों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" (शुक्लयजुः-संहिता अ० ४० मं० ८)। इसी प्रकार वेदों के सर्व-प्रथम विद्वान् और प्रकाशयिता ब्रह्मा को भी पुराणों में "आदिकवि" कहा गया है—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" (श्रीमद्भागवत १–१–१)। जिस तरह वैदिक वाणी के प्रथम-प्रकाशक ब्रह्मा को यह पदवी प्राप्त हुई, उसी प्रकार लौकिक वाणी में सर्वप्रथम वर्णयिता महर्षि वाल्मीकि भी "आदिकवि" की पदवी से विभूषित किए गए। उनके अनंतर महाभारत जैसे

१—'कुङ्-शब्दे' कवते इति कविः; 'कबृ वर्णे' इत्यनेन तु नेदं सिध्यति तस्य पवर्गीयोपधत्वात्।

२—संख्यावान् पंडितः कविः, इत्यमरः।

महोपाख्यान और अष्टादश महापुराणों के प्रणेता महामुनि कृष्ण द्वैपायन (वेदव्यास) "कवि" पदवी के अधिकारी हुए। इसी तरह पुराणों के समय तक अन्यान्य विद्वान् वर्णयिताओं को, चाहे उनकी रचनाओं में सौंदर्य अधिक मात्रा में होता या न होता, कवि कहा जाता था; जैसे राजनीति आदि के लेखक शुक्राचार्य आदि को। कवि शब्द का वह व्यापक अर्थ, जिसके द्वारा प्रत्येक वर्णयिता को कवि कहा जा सकता था, पुराणों के समय तक प्रचलित था। यह बात अग्निपुराण के काव्यलक्षण से स्पष्ट हो जाती है, जिसका वर्णन अभी किया जायगा।

परन्तु पीछे से यह शब्द उन विद्वानों के लिये व्यवहृत होने लगा, जो सौंदर्यपूर्ण विषय का सौंदर्यपूर्ण वर्णन करते थे और जिनके वर्णन को सुनकर मनुष्य मुग्ध हो जाते थे। अतएव व्यास और वाल्मीकि को कवि मान लेने पर भी, किसी ने, मनु, याज्ञवल्क्य अथवा पराशर जैसे विद्वानों को, यद्यपि उन्होंने भी छंदोबद्ध ग्रंथ लिखे हैं, कवि नहीं कहा। काव्यलक्षण में अनेक परिवर्तन होते होते भी, शास्त्रीय दृष्टि से, यह शब्द आज दिन भी प्रायः इसी अर्थ में व्यवहृत होता है।

अच्छा, यह तो हुई कवि की बात। अब यह समझिए कि उसका कार्य क्या है। उसका कार्य, कवि शब्द के साधारण अथवा प्रारंभिक अर्थ के अनुसार 'किसी विषय का प्रतिपादन' और विशेष अथवा आधुनिक अर्थ के अनुसार 'किसी सौंदर्यपूर्ण विषय का सौंदर्यपूर्ण वर्णन' है। प्रति-

पादन अथवा वर्णन शब्दों के रूप में होता है, अतः यह समझना भी कठिन नहीं कि वह शब्द ही कवि का कार्य है।[1] तब इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारंभ में किसी विषय के प्रतिपादन करनेवाले शब्दों को काव्य कहा जाता था।

अब आप देखिए कि काव्य का यह साधारण लक्षण किन किन विवेचकों की कैसी कैसी विचारधाराओं में प्रवाहित हुआ और अनेक टक्करें खाकर आज वह किस रूप में है।

अग्निपुराण (समय अनिश्चित)

सबसे प्रथम 'काव्यलक्षण' प्राप्य ग्रंथों में से अग्निपुराण में मिलता है। वहाँ लिखा है—

> संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
>
> काव्यम्.................................॥

अर्थात् संक्षेप से जो वाक्य होता है, उसका नाम काव्य है। और संक्षेप से वाक्य का अर्थ यह है कि जिस अर्थ को कहना चाहते हैं, वह जितने से कहा जा सकता है, उससे न अधिक और न न्यून, इस तरह की पदावली काव्य है।

१—यद्यपि शब्दों की योजना कवि का कार्य्य है, तथापि जिस तरह कुम्हार का काम घड़े का निर्माण हो जाने पर भी घड़ा माना जाता है, उसी तरह शब्द भी कवि का कार्य्य कहलाता है। तात्पर्य्य यह कि यहाँ कर्म शब्द से की जानेवाली चीज ली गई है, करना नहीं और यह बात शास्त्रसिद्ध एवं विद्वत्संमत है।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि "काव्य उस पदावली को कहते हैं, जिसमें, जो कुछ हम कहना चाहते हैं, वह थोड़े में पूर्णतया कह दिया जाय; न तो व्यर्थ का विस्तार हो और न यही हो कि जो बात कह रहे हैं, वही साफ साफ न कही जा सके।

दंडी (छठी शताब्दी, अनुमित)

"काव्यादर्श"कार आचार्य 'दंडी' का भी, जिनको कि प्राचीन आचार्यों में माना जाता है, प्राय: यही काव्य-लक्षण है। उन्होंने अग्निपुराण के लक्षण में से 'संक्षेपाद् वाक्यम्' इस भाग को निकालकर केवल उसकी व्याख्या को ही स्वीकार किया है; पर दोनों में भेद कुछ भी नहीं है। वे कहते हैं—
"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।"

रुद्रट (वामन[1] से पूर्व)

इनके बाद आलंकारिक-शिरोमणि रुद्रट का समय आता है। उन्होंने अथवा उनके पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य ने, अपनी सूक्ष्म दृष्टि से, एक गहरी बात सोची है। वह यों है—

हम पहले कह आए हैं कि काव्य शब्द का वास्तविक अर्थ कवि की कृति है। अब सोचिए कि कवि जिस तरह

१—यद्यपि रुद्रट का समय पूर्णतया निश्चित नहीं हो सका है; तथापि अलंकारसर्वस्वकार ने, जो कि काव्यप्रकाशकार से प्राचीन हैं, उन्हें वामन से प्राक्तन आचार्यों में समझा है, सो हमने भी वही समय स्वीकृत किया है।

शब्दों को ढंग से जोड़कर पद्यादिक के रूप में परिणत करता है, उसी तरह वह जिन अर्थों का वर्णन करता है, उनको भी आवश्यकतानुसार नए साँचे में ढाल देता है। यही क्यों, यदि यथार्थ में सोचें तो यह कहा जा सकता है कि कवि के वर्णन किए जानेवाले पदार्थ उसी के होते हैं, वे ईश्वरीय सृष्टि के वास्तविक पदार्थों से पृथक् एवं केवल कविकल्पनाप्रसूत होते हैं। सच पूछिए तो ऐतिहासिक सीता-शकुंतला से भवभूति और कालिदास की सीता-शकुंतला निराली हैं। इसी प्रकार कालिदास का हिमालय और श्रीहर्ष का चंद्र भी लौकिक हिमालय और चंद्र से विलक्षण हैं। थोड़ा और सोचिए; सीता-शकुंतला आदि का तो इतिहास से कुछ संबंध भी है; पर भवभूति के "मालतीमाधव" को लीजिए; वह नाटक नहीं प्रकरण है; और यह सिद्ध है कि प्रकरण का कथानक कल्पित होता है। अब बताइए, उसमें जिन मालती, माधव तथा अन्यान्य पात्रों का वर्णन है, उन्हें किसने उत्पन्न किया? विवश होकर यही कहना पड़ेगा—कवि ने। बस तो इसी बात को अन्यत्र भी लगाइए और समझिए कि कवि के वर्णनीय अर्थ मानस होते हैं, वास्तविक नहीं; अतः शब्दों की तरह वे भी कवि की कृति ही हैं। अतएव अग्निपुराण के ही शब्दों को लेकर ध्वन्यालोक में लिखा है--

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥

अर्थात् काव्यरूपी जो अनंत जगत् है, उसमें कवि ही प्रजापति[१] है—उस जगत् का सृष्टिकर्त्ता वही है; उसे जिस तरह का संसार पसंद होता है, इस जगत् को उसी प्रकार बदल जाना पड़ता है।

अब तक जो केवल शब्द (पदावली) को काव्य कहा जाता था, वह उन्हें न जँचा और उन्होंने उसके साथ अर्थ को भी जोड़ दिया। उन्होंने कहा—"ननु[२] शब्दार्थौ काव्यम्।" तात्पर्य यह कि रुद्रट के, अथवा रुद्रट और दंडी के मध्य के, समय में पदावली और उससे वर्णन किए जानेवाले अर्थ दोनों को काव्य कहा जाने लगा।

वामन (नवम शताब्दी के पूर्वार्ध से पहले)

इनके अनंतर सुप्रसिद्ध आलंकारिक वामन का समय आता है। यद्यपि सौंदर्ययुक्त वर्णन को काव्य मानना अग्निपुराण के समय से ही प्रचलित हो गया है; यह बात उसके लक्षण से पूर्णतया सिद्ध न होने पर भी विवेचन से सिद्ध है; तथापि वामन के समय से काव्य में सौंदर्य का प्राधान्य समझा जाने लगा। यह बात उनके अलंकार-सूत्रों से स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं—"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्" और "सौंदर्यमलंकारः"; जिसका तात्पर्य यह है कि काव्य का ग्रहण करना उचित है; क्योंकि उसमें सुंदरता होती है।

१—'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमरः।

२—"पृष्टप्रतिवाक्ये ननुः" इति तट्टीकाकर्तुर्नेमिसाधोर्हृदयम्।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि वामन के समय में काव्य की सुंदरता का कारण गुणों और अलंकारों को माना जाता था। उन्होंने लिखा ही है—"स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्"; अर्थात् वह सौंदर्य दोषों के छोड़ देने और गुणों तथा अलंकारों के ग्रहण करने से होता है। अतएव वे पूर्वोक्त सूत्रों की स्वनिर्मित वृत्ति में 'काव्यलक्षण' के विषय में कहते हैं—"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते"; अर्थात् जिन शब्दों और अर्थों में काव्य की पुट लगी हो, वे काव्य कहलाते हैं।

पर, उनके ग्रंथ से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द और अर्थ के साथ 'गुणों और अलंकारों से युक्त' विशेषण उनकी अभिनव ही सृष्टि है; क्योंकि वे उसी के साथ लिखते हैं कि "भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो गृह्यते"। इसका तात्पर्य यह होता है कि, अब तक जो 'केवल शब्द और अर्थ' को काव्य कहा गया है, वह काव्य स्वरूप का वास्तविक विवेचन न होने के कारण कहा गया है, और अब वह रूढ़ हो गया है; पर उसे काव्य शब्द का मुख्य अर्थ नहीं, किंतु लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। सो वामन के सिद्धांत के अनुसार काव्य शब्द का अर्थ 'गुणों और अलंकारों से युक्त शब्द और अर्थ' हुआ।

आनंदवर्धनाचार्य (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध)

इनके अनंतर भावी व्यंग्यविवेचना के प्रथम प्रवर्त्तक ध्वनि-मर्मज्ञ श्री आनंदवर्धनाचार्य ने काव्यलक्षण को स्पष्ट रूप में तो

नहीं लिखा है; पर यह अवश्य स्वीकार किया है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है। वे एक प्रसङ्ग में कहते हैं कि "शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्।"

भोज (ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)

इनके बाद संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध प्रेमी धाराधराधीश्वर महाराज भोज का नंबर आता है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से कोई 'काव्यलक्षण' नहीं लिखा है; तथापि उनके "निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्त्तिं प्रीतिं च विंदति।" इस सरस्वतीकंठाभरणस्थ पद्य से यह सिद्ध होता है कि वे भी शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानते हैं। क्योंकि एक तो उन्होंने जो काव्य को 'रसान्वितम्' विशेषण दिया है, वह अर्थ को काव्य माने बिना ठीक ठीक नहीं घट सकता; क्योंकि रस का साक्षात् अन्वय केवल शब्दों से नहीं हो सकता। दूसरे 'अलंकारैः' से भी उन्हें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों अभीष्ट हैं; सो अर्थ को काव्य माने बिना अर्थालंकार अलंकृत किसे करेंगे ?[1]

मम्मट (बारहवीं शताब्दी)

अब आगे चलिए। आगे आलंकारिक जगत् के देदीप्यमान रत्न महामति मम्मटाचार्य का स्थान है। उन्होंने वामन

१—वामनाचार्य झलकीकर ने काव्यप्रकाश की भूमिका में जो यह लिखा है—"निर्दोषं गुणालंकाररसवद् वाक्यं काव्यमिति भोजमतम्" सो प्रतीत होता है कि पुरःस्फूर्त्तिक है।

के मत को अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से देखा। वामन का 'गुणसहित' कहना तो उनकी समझ में आया; पर अलंकारों पर उतना जोर देना उन्हें न जँचा। बात भी ठीक है; काव्य में अलंकारों का अनिवार्य होना सर्वथा आवश्यक भी नहीं है। सो उन्होंने कहा कि "सब जगह अलंकार रहें; पर यदि कहीं वे स्पष्ट न भी रहें; तथापि दोषरहित और गुणसहित शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाना चाहिए"।

वाग्भट (बारहवीं शताब्दी, मम्मट के पीछे)

पर, पीछे के विद्वानों का ध्यान, ध्वनिकार के सिद्धांतों का अच्छा प्रचार हो जाने के कारण, काव्य के जीवन रस की ओर गया। वाग्भट ने देखा, वामन गुणों और अलंकारों सहित शब्द और अर्थ को काव्य, और 'रीति' को काव्य का आत्मा मानते हैं, और काव्यप्रकाशकार दोषरहित और गुणसहित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं; तथा रस को काव्य का आत्मा कहते हैं; तो लाओ हम इन सभी को लिख डालें। इसलिये उन्होंने "गुण, अलंकार रीति और रससहित तथा दोषरहित शब्द और अर्थ" को काव्य कहना शुरू किया।

पीयूषवर्ष (बारहवीं शताब्दी का उत्तराध)

इधर पीयूषवर्ष (चंद्रालोककार जयदेव) तो और भी बढ़े। वे तो दोषरहित एवं लक्षण, रीति, गुण, अलंकार,

रस और वृत्ति—इन सबसे सहित वाणी को काव्य कहने लगे। अर्थात् अब तक जो कुछ उत्कर्षाधायक, जीवनदायक अथवा शोभाविधायक धर्म उन्हें दिखाई पड़े, उन्होंने उन सबको वाक्य के साथ में लगाकर एक लंबा लक्षण बना डाला। पर, यह बात एक प्रकार से मानी हुई ही है कि उनका लक्षण-निर्माण सरल और हृदयङ्गम होने पर भी उतना विवेचनापूर्ण नहीं है। वही बात यहाँ भी हुई है।

विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी)

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से काव्यलक्षण का रुख फिर से बदला और उसकी लंबाई को कम करने का यत्न होने लगा। जहाँ तक हम समझते हैं, सबसे पहले, सुप्रसिद्ध निबंध 'साहित्यदर्पण' के रचयिता महापात्र विश्वनाथ ने उसे कम किया और कहा कि "जिसकी जीवनज्योति रस-भाव आदि हैं, जो इन्हीं के द्वारा चमत्कारी होता है, उस वाक्य का नाम 'काव्य' है"। उनका अभिप्राय यह है कि वाक्य में चाहे अलंकार आदि कोई उत्कर्षाधायक वस्तु न हो और दोष भी हों, तथापि यदि उससे रस, भाव और उनके आभासों की अभिव्यक्ति होती हो, तो उसे काव्य कहा जा सकता है।

यह बात कुछ नवीन नहीं, बहुत पुरानी है। शौद्धोदनि नामक एक आचार्य ने इस बात को बहुत पहले ही लिख दिया था, महापात्रजी ने प्रायः उसी को उठाकर लिख दिया है। यह बात केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' से स्पष्ट हो

जाती है। वे कहते हैं—'अलंकारसूत्र-कार भगवान् शौद्धोदनि ने काव्य का स्वरूप यों लिखा है—"काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।" अर्थात् जिस वाक्य में रस आदि हों, उसे 'काव्य' कहा जाता है। 'रस आदि' में जो 'आदि' शब्द है, उससे उन्होंने (केशव मिश्र) अलंकार का ग्रहण किया है और कहते हैं कि रस अथवा अलंकार दोनों में से एक के होने पर वाक्य को काव्य कहा जा सकता है। पर साहित्य-दर्पणकार को अलंकारमात्र के होने पर काव्य मानना अभीष्ट नहीं; अतः उन्होंने आदि शब्द को उड़ा दिया और केवल 'रस' शब्द लिखकर उससे रस भाव-आदि आस्वादनीय व्यंग्यों का ग्रहण कर लिया है।

गोविंद ठक्कुर[1] (सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, अनुमित)

तदनंतर 'काव्यप्रकाश' के मर्मज्ञ 'काव्यप्रदीप'-कार श्रीगोविंद ठक्कुर का समय आता है। उन्होंने 'काव्यप्रकाश' के लक्षण का विवेचन करते हुए यह लिखा है कि—काव्य-प्रकाशकार को रस-रहित होने पर और अलंकार के स्पष्ट न होने पर भी शब्द और अर्थ को काव्य मानना अभीष्ट है। पर यह उचित नहीं। क्योंकि जहाँ रस न होगा और अलं-

---

१—ये यद्यपि व्याख्याकार हैं, तथापि हम इन्हें आचार्यों में मानते हैं और हमें विश्वास है कि 'प्रदीप' के मर्मज्ञों को इसमें विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

कार भी स्पष्ट न होगा, तो बताइए, वहाँ चमत्कार किसका होगा? और काव्य में चमत्कार ही असली चीज है, यदि वही न रहा, तो उसे काव्य कहा ही कैसे जायगा ? अतः यह मानना चाहिए कि जहाँ, रस हो, वहाँ यदि अलंकार स्पष्ट न हो, तथापि शब्द और अर्थ को काव्य कहा जा सकता है; पर जहाँ रस न हो वहाँ अलंकार का होना आवश्यक है। सो रस और अलंकार—इन दोनों में से किसी एक से भी युक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाना चाहिए। इनका यह लक्षण प्रायः केशव मिश्र के लक्षण से मिल जाता है।

पंडितराज (सत्रहवीं शताब्दी)

इनके अनंतर अनुपाद्य ग्रंथ के निर्माता मार्मिक तार्किक श्रीपंडितराज का समय है। उन्होंने इस विषय में जो मार्मिक विवेचन किया है, वह तो आपके सामने है और उस पर जो इस अकिञ्चित्कर की टिप्पणी है, वह भी आपके सम्मुख है। अतः इस विषय में अधिक लिखकर हम आपका समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहते।

उपसंहार

जहाँ तक हमारा ज्ञान है, हम कह सकते हैं कि पंडित-राज के अनंतर इस विषय का मार्मिक विवेचन किसी ने नहीं किया। अतएव इसी लक्षण को अंतिम समझकर

हम पूर्वोक्त लक्षणों का सिंहावलोकन करते हुए इस विषय को समाप्त करते हैं--

यह कहा जा चुका है कि वेदादिक के समय में 'किसी भी अर्थ के वर्णन' को काव्य कहा जाता था। उसके अनंतर, पुराणों के समय में, लक्षण के प्राय: प्राचीन रूप में रहने पर भी[1] 'कविकल्पित सुंदर अर्थ के सौंदर्ययुक्त वर्णन' को काव्य माना जाता था। यह बात अग्निपुराण के पाठ से पूर्णतया सिद्ध हो जाती है; क्योंकि उसके लक्षण में सौंदर्य पर उतना जोर न दिया जाने पर भी, पदार्थों के वर्णन के लिये जिस सौंदर्य का संपादन अपेक्षित है, उसका उसमें विस्तृत विवेचन किया गया है। यह मत संभवत: दंडी तक चलता रहा।

तदनंतर रुद्रट, अथवा उनके पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य, के समय से 'सुंदर अर्थ और उसके सौंदर्ययुक्त वर्णन' का नाम

१--'अग्निपुराण' में ऐतिहासिक व्यक्तियों को भी प्रबंध (आख्यायिका आदि) के अनुरूप बना लेने की अनुमति है। और थोड़ा भी फेर-फार होने पर ऐतिहासिकता नष्ट हो जाती है; क्योंकि इतिहास में कल्पना को किंचित् भी स्थान नहीं। अतः हमने अर्थ को 'कविकल्पित' विशेषण लगाया है। इसी—अर्थात् वर्णनीय अर्थों को इच्छानुसार चित्रित कर डालने के ही—कारण, हमने, काव्य में वर्णित ऐतिहासिक और अनैतिहासिक सभी अर्थों को 'कल्पित' माना है; क्योंकि वे यथास्थित पदार्थों से पृथक् हो जाते हैं। सो इस विशेषण को 'काव्यलक्षण' में सर्वत्र अनुस्यूत समझिए।

काव्य हुआ। बाद में, वामन के समय से, 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ और उसके सौंदर्यपूर्ण वर्णन' को काव्य कहा जाने लगा। वामन और उनके पूर्व के समय में शब्द और अर्थ दोनों के सौंदर्य का कारण गुणों और अलंकारों को ही माना जाता था।

उनके बाद आनंदवर्धनाचार्य के समय में सौंदर्य का पूर्णतया अन्वेषण हुआ, और तब सौंदर्य के मूल कारण 'रस' का प्राधान्य हो जाने के कारण, अलंकारों का आदर कम हो गया।

काव्यप्रकाशकार ने अलंकारों को गौण कर दिया और गुणों को केवल रस का धर्म मानकर उनको अभिव्यक्त करने-वाली रचना का अधिक सम्मान किया। उनके हिसाब से रस और रचना सौंदर्य का प्रधान कारण थे और अलंकार अप्रधान। तदनुसार वे भी 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ और उसके सौंदर्यपूर्ण वर्णन' को काव्य मानने लगे।

वाग्भट और पीयूषवर्ष के लक्षण उतने चोदक्षम नहीं हैं; अतः उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

साहित्यदर्पणकार सौंदर्यपूर्ण अर्थ को काव्य नहीं मानते; किंतु उसके वर्णनमात्र को काव्य मानते हैं; और सौंदर्य का कारण एक मात्र रस को समझते हैं। ये महाशय वर्णन के सौंदर्य को आवश्यक मानते हैं; पर अनिवार्य नहीं। अतएव इनके हिसाब से वर्णन की निर्दोषता और सालंकारता सर्वथा अपेक्षित नहीं। यही बात पंडितराज के विषय में भी समझ लीजिए। परंतु पंडितराज के तर्क इस विषय में इनकी अपेक्षा ठोस हैं।

केशव मिश्र और गोविंद ठक्कुर दोनों ही सौंदर्य का कारण रस और अलंकार दोनों को मानते हैं। पर पहले महाशय साहित्यदर्पण के समान 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ के वर्णन' को काव्य मानते हैं, और दूसरे काव्यप्रकाश के अनुयायी होने के कारण 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ और उसके सौंदर्यपूर्ण वर्णन' दोनों को काव्य मानते हैं।

उनके बाद पंडितराज ने भी 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ के वर्णन' को काव्य माना है; पर वे समग्र सौंदर्य की मूलकारणता एक रस को ही दे देना उचित नहीं समझते। उनका कहना है कि चाहे जिस किसी अर्थ के ज्ञान से हमें अलौकिक आनंद, वह थोड़ा हो या तन्मय कर देनेवाला हो, प्राप्त हो जाय, वह प्रत्येक अर्थ सौंदर्य का कारण हो सकता है। उसका रस के साथ सर्वथा संबंध होना आवश्यक नहीं।

रही हमारी टिप्पणी। सो हमसे और पंडितराज से केवल इतना ही मतभेद है कि हम केवल वर्णन को ही कवि की कृति नहीं समझते; किंतु काव्य में वर्णित अर्थों को भी उसी की कृति मानते हैं, जैसा कि रुद्रट का मत लिखते समय हम सिद्ध कर आए हैं।

काव्य का कारण

यह तो हुई काव्य की बात। अब इसके आगे इस ग्रंथ में काव्य के कारण का विवेचन है। काव्य का कारण

प्रतिभा, जिसे शक्ति भी कहा जाता है, है, इस विषय में तो आज दिन तक न किसी को विप्रतिपत्ति हुई और न आगे कभी हो सकती है। पर मतभेद एक तो इस बात में है कि कुछ विद्वान् केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं और कुछ प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को और जोड़ते हैं। अर्थात् कुछ विद्वानों के हिसाब से काव्य का एक कारण है 'प्रतिभा'; और कुछ के हिसाब से तीन हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। प्रतिभा क्या पदार्थ है, यह विषय भी विवादग्रस्त है।

अब देखिए, काव्य का एक कारण माननेवालों में रुद्रट, वामन और पंडितराज आदि विद्वान् हैं; और तीन माननेवालों में दंडी, मम्मट, वाग्भट और पीयूषवर्ष आदि हैं। अब इन विद्वानों के विचारों को सुनिए और उन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाल जाइए।

इनमें से प्राचीनतर आचार्य दंडी का कहना है कि

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्,
अमन्दश्चाऽभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः॥

अर्थात् स्वतःसिद्ध प्रतिभा, अत्यंत और निर्दोष शास्त्र-श्रवण—अर्थात् व्युत्पत्ति, तथा अनल्प[1] अभ्यास—अर्थात्

१—'अभियोगः पौनःपुन्येनाऽनुसन्धानम्' इति बीकानेरराजकीय-पुस्तकालयस्था लिखिता काव्यादर्शव्याख्या। स चाऽभ्यास एवेत्यस्मदुक्तेऽर्थे न काचन विप्रतिपत्तिः।

किसी प्रकार की कमी न करते हुए बार बार पद्य बनाते रहना, ये सब काव्य की संपत्ति—अर्थात् उसके उत्कृष्ट होने के कारण हैं। पर साथ ही वे एक और बात कहते हैं, जो अवश्य ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

अर्थात् यद्यपि पूर्वजन्म की वासना के गुण जिसके पीछे लगे हुए हैं वह संसार को चकित कर देनेवाली प्रतिभा नहीं है, तथापि शास्त्रश्रवण—अर्थात् व्युत्पत्ति और यत्न—अर्थात् अभ्यास—के द्वारा सेवन की हुई वाणी कुछ न कुछ अनुग्रह करती ही है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यद्यपि काव्य के उत्कृष्ट होने के लिये स्वाभाविक प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों आवश्यक हैं, पर यदि वैसी प्रतिभा न हो, तथापि यदि व्युत्पत्ति और अभ्यास का बल उत्पन्न किया जाय तो काव्य बनाया जा सकता है। सारांश यह कि विशिष्ट प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास उत्कृष्ट काव्य के कारण हैं; पर साधारण प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी काव्य बन सकता है।

इनके अनंतर रुद्रट एक शक्ति (प्रतिभा) को ही काव्य का कारण मानते हैं और उसका विवेचन करते हुए यों लिखते हैं—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य,
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।

अर्थात् जिसके होने पर, अच्छी तरह एकाग्र किए हुए मन में अनेक प्रकार के अर्थों की स्फूर्त्ति होती है, और अक्लिष्ट अर्थात् सरल और सुंदर पद सूझ पड़ते हैं, उसका नाम शक्ति है। फिर वे आगे लिखते हैं कि

सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।

उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया।

अर्थात् वह शक्ति दो प्रकार की होती है—एक सहज—अर्थात् स्वतः सिद्ध, और दूसरी उत्पाद्य—अर्थात् उत्पन्न की जानेवाली। उनमें से सहज शक्ति तो ईश्वरदत्त अथवा अदृष्टजन्य होती है; अतः उसके विषय में तो कुछ कहना है नहीं; पर जो उत्पाद्य शक्ति है, वह अत्यंत उत्कृष्ट व्युत्पत्ति से उत्पन्न की जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिभा दो तरह की है; जिनमें से एक का कारण अदृष्ट है और दूसरी का व्युत्पत्ति।

उनके बाद वामन ने भी काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना है। वे लिखते हैं कि "कवित्वबीजं प्रतिभानम्" और उसका विवरण यों करते हैं कि "कवित्वस्य बीजं संस्कारविशेषः कश्चित्; यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्"। अर्थात् कविता का कारण एक विशेष प्रकार का संस्कार है, जिसके बिना काव्य नहीं बन पाता, अथवा यों कहिए कि बना हुआ भी हँसी का पात्र होता है, उसे सुनकर लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं।

अब आगे काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य हैं। वे कहते हैं—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

अर्थात् शक्ति (प्रतिभा) और लोकव्यवहार तथा शास्त्रों और काव्यादिकों के विमर्श से उत्पन्न हुई निपुणता—अर्थात् व्युत्पत्ति, एवं जो लोग उत्कृष्ट काव्य का बनाना और विचारना जानते हैं, उनकी शिक्षा से अभ्यास; ये तीनों सम्मिलित रूप में काव्य के कारण हैं। सारांश यह है कि काव्य का कारण तीन वस्तुएँ हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

इस श्लोक को हम यदि "नैसर्गिकी च प्रतिभा ……" इस पूर्वोक्त दंडी के श्लोक का सुसंस्कृत अनुवाद कहें तो मर्मज्ञ विद्वानों को कुछ भी विप्रतिपत्ति न होगी। हाँ, इतना अवश्य है कि मम्मट ने अपनी व्याख्या में व्युत्पत्ति और अभ्यास का अच्छा विवेचन किया है। पर प्रतिभा की व्याख्या करते हुए उन्होंने जो शब्द लिखे हैं, वे तो ज्यों के त्यों वामन के कहे जा सकते हैं। सो इसे दंडी और वामन दोनों के अभिप्रायों का संकलन कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

वाग्भट लिखते हैं—

प्रतिभा कारणन्तस्य, व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादि कविसंकथा॥

अर्थात् प्रतिभा काव्य को उत्पन्न करती है, व्युत्पत्ति उसको सुशोभित बनाती है और अभ्यास उसकी उत्पत्ति को बढ़ाता है,

इत्यादि कवि लोगों का कथन है। तात्पर्य यह कि काव्य का, प्रतिभा उत्पादक, व्युत्पत्ति सौंदर्याधायक अर्थात् पोषक और अभ्यासवर्धक कारण है।

इसी बात को पीयूषवर्ष ने दृष्टांत देकर स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसंबद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥

अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास सहित प्रतिभा कविता का कारण है; जिस तरह कि मिट्टी और जल से युक्त बीज की उत्पत्ति लता का। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह लता का बीज उत्पादक, मिट्टी पोषक और जल वर्धक कारण है; उसी तरह प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के कारण हैं।

पंडितराज का कथन यह है कि कविता का साक्षात् कारण एकमात्र प्रतिभा है; व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके साक्षात् कारण नहीं, किंतु परंपरा से हैं। अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के पोषक और वर्धक नहीं, किंतु प्रतिभा के पोषक और वर्धक हैं और उसको पुष्ट तथा विवर्धित करके काव्य को उपकृत करते हैं।

प्रतिभा क्या वस्तु है ?

अच्छा, अब इन सब विचारों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालिए। सबसे पहले यह सोचिए कि प्रतिभा है

क्या पदार्थ ? वास्तव में प्रतिभा एक प्रकार की बुद्धि का नाम है। अतएव यह कहा जाता है—

बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

अर्थात् जिसमें नई नई सूझ होती है, उस बुद्धि को प्रतिभा माना जाता है।

अब यह देखिए कि साहित्य के प्राचीन आचार्यों ने प्रतिभा अथवा शक्ति का क्या अर्थ किया है ? दंडी तो इस विषय में कुछ विशेष लिखते नहीं; पर उनके दिए हुए प्रतिभा के विशेषणों से कुछ सिद्ध हो जाता है, जिसे हम आगे लिखेंगे। हाँ, रुद्रट ने 'शक्ति' की व्याख्या अवश्य की है, जो पहले लिखी जा चुकी है। उससे यही सिद्ध होता है कि वे एक प्रकार के संस्कार को शक्ति मानते हैं; क्योंकि उनके हिसाब से 'शक्ति' वह पदार्थ है, जो कविता के अनुकूल अर्थों और शब्दों की स्मृति का निमित्त है। इनके बाद वामन और मम्मट ने तो स्पष्ट शब्दों में एक प्रकार के संस्कार का नाम 'शक्ति' स्वीकार किया ही है।

अब देखिए, संस्कार क्या वस्तु है ? वास्तव में संस्कार एक प्रकार का स्वतंत्र गुण है, जिसे पूर्वजन्म के ज्ञान की वासना कह सकते हैं। पर 'काव्यप्रदीप' के 'संस्कारविशेषः' शब्द की व्याख्या करते हुए नागेश ने 'उद्द्योत' में लिखा है कि शक्ति शब्द से यहाँ एक विशेष प्रकार का अदृष्ट (पूर्व-जन्म के कर्मों का फल) लिया गया है। वे लिखते हैं कि

"देवताराधनादिजन्यं विलक्षणादृष्टं 'शक्नोति काव्यनिर्माणायाऽनये'ति योगाच्छक्तिरित्युच्यते।" अर्थात् व्याकरण की रीति से शक्ति शब्द का अर्थ 'जिसके द्वारा काव्य बनाया जा सकता है' यह होता है, तदनुसार देवता के आराधन आदि से उत्पन्न अदृष्ट को 'शक्ति' कहा जाता है। पर दंडी और रुद्रट जिसे प्रतिभा और शक्ति कहते हैं, उसका और नागेश की व्याख्या का परस्पर कुछ भी मेल नहीं मिलता। देखिए, दंडी ने अपने पद्यों में प्रतिभा को दो विशेषण दिए हैं, जिनसे उनका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि वे किसे प्रतिभा मानते हैं। उनका एक विशेषण है 'नैसर्गिकी' और दूसरा है, 'पूर्ववासनागुणानुबंधि'; जिनका अर्थ हम पहले कर आए हैं। अब सोचिए कि नागेश के कथनानुसार यदि 'संस्कार-विशेष' का अर्थ अदृष्ट मानें तो उसे 'स्वाभाविक' विशेषण देना व्यर्थ है; क्योंकि अदृष्ट तो पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, फिर वह स्वाभाविक कैसा? दूसरे, उनका 'पूर्ववासनागुणानु-बंधि' विशेषण भी घटित नहीं हो सकता; क्योंकि अदृष्ट तो पूर्व कर्मों के फल का नाम है, सो वह पूर्वजन्म के संस्कार से उत्पन्न गुणों का अनुगामी नहीं, किंतु जनक हो सकता है। इस कारण, इनके हिसाब से तो 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि ही हो सकता है, न किसी प्रकार का संस्कार और न अदृष्ट।

अब रुद्रट की तरफ चलिए। वे प्रतिभा को सहज और उत्पाद्य दो तरह की मानते हैं, और उत्पाद्य प्रतिभा को व्युत्पत्ति

के द्वारा उत्पन्न होनेवाली मानते हैं। क्या आप कह सकते हैं कि व्युत्पत्ति से भी कोई अदृष्ट उत्पन्न होता है और वही प्रतिभा है? यदि नहीं तो बात दूसरी ही है। हमारी समझ में तो वामन और मम्मट के 'संस्कारविशेष' शब्द का अर्थ पूर्वजन्मीय वासना मानना ही उचित है। दंडी भी तो इनके सर्वथा अनुकूल नहीं; क्योंकि वे प्रतिभा को 'वासना' नहीं, किंतु 'वासनागुणानुबंधि' मानते हैं। रहे रुद्रट, सो उनकी इनकी भी राय एक नहीं हो सकती; क्योंकि वे तो उसे इस जन्म में भी व्युत्पत्ति के द्वारा उत्पन्न हो सकनेवाली मानते हैं, केवल सहज ही नहीं। इस प्रकार इनका मत मिलता नहीं है।

यह तो हुआ इन लोगों का आपस का मतभेद। अब आप यह सोचिए कि वास्तव में काव्य बनाने में कवि को क्या करना पड़ता है? इसका उत्तर यही होगा कि सुंदर पदों और अर्थों की योजना तथा कल्पना। अब आप थोड़ा सा विचार करते ही समझ सकते हैं कि यह काम बुद्धि से होता है। न तो वह हमारी भोग्य वस्तुओं की तरह हमें अदृष्ट के द्वारा सिद्ध रूप में प्राप्त होता है और न संस्कार से ही बन सकता है। तात्पर्य यह कि यह काम बिना बुद्धि के नहीं हो सकता। अदृष्ट और संस्कार यदि कारण हो सकते हैं, तो हमारी बुद्धि को वैसी बनाने के कारण हो सकते हैं, स्वतंत्रतया काव्य के नहीं हो सकते। तब यदि प्रतिभा को काव्य का कारण मानना है, तो उसके सुप्रसिद्ध अर्थ 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि'

को ही उसका अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा, संस्कार अथवा अदृष्ट को नहीं।

इस संबंध में पंडितराज कितना अच्छा कह रहे हैं। वे कहते हैं कि काव्य बनाने के अनुकूल शब्दों और अर्थों की उपस्थिति (याद आ जाने) का नाम प्रतिभा है, जो आपकी वही 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि' हुई। और यह भी कहते हैं कि उसको वैसी बनाने का कारण कहीं अदृष्ट होता है और कहीं व्युत्पत्ति और अभ्यास, जो अनुभव-सिद्ध है। अब इस विषय का शेष विवरण आप अनुवाद और उसकी टिप्पणी में देख सकते हैं।

काव्यों के भेद

इसके आगे प्रस्तुत पुस्तक में काव्यों के भेदों का वर्णन है; पर उनके विषय में हमें विशेष नहीं लिखना है; क्योंकि, इस विषय में अधिक मतभेद नहीं है। जहाँ तक हमारा ज्ञान है—इस विषय का विशेषरूपेण विवेचन 'ध्वन्यालोक' के तात्पर्यानुसार काव्यप्रकाशकार ने ही किया है। उन्होंने काव्यों के तीन भेद माने हैं; ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र; जिन्हें उत्तम, मध्यम और अधम भी कहा जाता है।

पर साहित्यदर्पणकार ने इनमें से पहले दो भेदों को ही काव्य माना है; वे 'चित्रकाव्य' को काव्य मानना नहीं चाहते। इसका कारण यही है कि वे रस आदि के अतिरिक्त गुणों और अलंकारों को सौंदर्य का कारण नहीं मानते; जैसा कि हम

'काव्यलक्षण' के विवेचन में दिखा आए हैं। पर यह बात ठीक नहीं; क्योंकि, लक्ष्य के अनुसार लक्षण हुआ करते हैं, लक्षण के अनुसार लक्ष्य नहीं। जब कि सारा संसार आज दिन तक केवल गुणों और अलंकारों से युक्त वर्णन को भी काव्य मानता चला आया है और आज भी वही परिपाटी प्रचलित है, तब आप उन्हें काव्यभेदों में से कैसे निकाल सकते हैं? हाँ, यह हो सकता है कि आप उन्हें अधम अथवा उससे भी नीचे दरजे का मान लें।

"चित्रमीमांसाकार' ने 'काव्यप्रकाश' के भेदों को ही लिखा है, उनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं की है।

इनके बाद पंडितराज ने इस विषय पर कलम उठाई है। उन्होंने काव्यप्रकाशकार के भेदों में एक भेद और बढ़ाकर उन्हें चार कर दिया है, जिसे आप अनुवाद में देख लेंगे। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि पंडितराज ने जो एक भेद बढ़ाया है, वह मार्मिक है; काव्यों के भेदों को समझनेवाले उसका किसी तरह निषेध नहीं कर सकते। दूसरे, काव्यप्रकाशकार की अपेक्षा इन्होंने उसे विशद भी अच्छा किया है और अप्पय दीक्षित के साथ शास्त्रार्थ करके ध्वनि का मर्म समझने की शैली भी स्पष्ट कर दी है।

रस

अब रसों की ओर ध्यान दीजिए। यह इतना गंभीर विषय है कि इस पर आज तक अनेक विद्वानों ने विचार

किया है और आगे भी न जाने कहाँ तक होता रहेगा। परंतु, हम प्रस्तुत विषय की ओर चलने के पहले आपसे नाटकों (दृश्य[1] काव्यों) की उत्पत्ति के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि रस का अनुभव, श्रव्य-काव्यों की अपेक्षा, दृश्य-काव्यों में ही स्पष्ट रूप से होता है। अतएव आज दिन तक उन्हीं को लेकर इस विषय का विवेचन किया गया है।

जब किसी भी प्राणी को इष्ट (जिसे वह चाहता है, उस) की प्राप्ति और अनिष्ट (जिसे वह नहीं चाहता, उस) की निवृत्ति होती है, तो उसके अंगों में अपने-आप ही एक प्रकार की स्फूर्त्ति उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् प्रकृति का नियम है कि आनंदित प्राणी के अंग-उपांग विचलित हो उठते हैं। जो प्राणी गंभीर होते हैं, उनमें वह स्फूर्त्ति केवल मुख-विकास नेत्र-विकास आदि ही करके रह जाती है। पर, जो इतने गंभीर नहीं होते, वे ऐसी घटनाओं के होते ही एकदम उछल पड़ते हैं, और उनका वह आनंद इस तरह सब पर प्रकट हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह आनंद उस व्यक्ति

१—काव्य की पुस्तकें दो विभागों में विभक्त हैं—एक दृश्य और दूसरे श्रव्य। दृश्य-काव्य उन्हें कहते हैं, जिनमें वर्णित चरित्रों का अभिनय किया जाता है—जैसे शाकुन्तल आदि। और श्रव्य-काव्य उनका नाम है, जिनका अभिनय नहीं होता, किन्तु लोग उसे सुनकर ही आनन्द उठा लेते हैं—जैसे रघुवंश आदि।

तक ही सीमित नहीं रहता, किंतु जो लोग उसके सुहृत्, संबंधी अथवा हितैषी होते हैं, जिनमें ईर्ष्या-द्वेष की प्रवृत्ति उस आनंद के अनुभव का प्रतिबंध नहीं करती, वे भी आनंदित हो उठते हैं, और उससे सहानुभूति प्रकट करने लगते हैं। बच्चों में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से देख पड़ती है। यही उछल-कूद नाट्य की आदि-जननी है। शुरू शुरू में इष्टप्राप्ति अथवा अनिष्टनिवृत्ति के समय उसका प्राप्त करनेवाला और उससे सहानुभूति रखनेवाले लोग इसी तरह उछल-कूद किया करते थे।

पर, प्रकृति का एक नियम और है। मनुष्य को वास्तविक वस्तुओं के देखने में जो आनंद प्राप्त होता है, उससे कहीं अधिक उसका अनुकरण देखने में प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि एक सिटल्लू बनिया आपका पड़ोसी है, जिसे आप सदा देखा करते हैं, और उसकी चाल-ढाल आदि को देखकर आपको कुछ कौतुक भी हुआ करता है; पर उसके देखने में आपको वह आनंद नहीं आ सकता, जिसे कि एक भाँड़ अथवा बहुरूपिया उन्हीं सेठजी की नक़ल दिखलाकर अनुभूत करा सकता है।

इसके बाद एक बात और भी है। वह यह कि वास्तविक एवं वर्त्तमान व्यक्ति के हर्षादि के अनुकरण में हमें सहानुभूति भी नहीं हो सकती। क्योंकि, उसके वर्त्तमान होने से हमारा उसके साथ किसी न किसी प्रकार का राग-द्वेषमूलक संबंध हो जाता है; इसलिये उस अनुकरण को देखकर राग-द्वेष की

प्रवृत्तियाँ जग उठती हैं, और वे सहानुभूति में, और कभी कभी तो अभिनय में ही, बाधक हो जाती हैं, और बिना सहानुभूति के आनंद की अभिव्यक्ति होती नहीं। इस कारण, यदि किसी प्राचीन अथवा कल्पित घटना का अनुकरण किया जाय तो उस घटना से संबद्ध व्यक्तियों के साथ हमारा आधुनिक संबंध न होने के कारण हमें अभिनय के द्वारा उद्बोधित आनंद का यथार्थ अनुभव हो सकता है; क्योंकि वहाँ बाधक प्रवृत्तियाँ नहीं रहतीं। अतएव अंततोगत्वा मनुष्यों के मनोरंजन के लिये इस तरह के अनुकरणमूलक अभिनय होने लगे।

इन अभिनयों के लिये कवि लोग प्राचीन अथवा कल्पित घटनाओं को पद्यादिबद्ध कर देते थे, जिससे वे और भी अधिक रोचक हो जायँ, जैसे कि आज-कल भी कई-एक ग्राम्य खेलों में होता है। इन्हीं अभिनयों का विकसित रूप हैं आपके दृश्य-काव्य और आधुनिक नाटक-ड्रामा आदि। बस, दृश्य-काव्यों की बात हम इतनी ही करेंगे; क्योंकि हमारे इस प्रकरण से इसका इतना ही संबंध है।

१—प्रारंभ ही प्रारंभ में लोग जब इन अभिनयों को देखने लगे तब उन्हें अनुभव हुआ कि इनमें कुछ आनंद अवश्य है। साथ ही उनमें से जो लोग बुद्धिमान् और तर्कशील थे, उन्होंने सोचना शुरू किया कि इस नाट्य की वस्तुओं में से यह आनंद किस वस्तु में रहता है। फिर क्या था, उसकी खोज

प्रारंभ हुई। वही वस्तु साहित्य की परिभाषा में 'रस्यतेऽसौ रसः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'रस' कही जाती है।

सोचते सोचते पहले पहल वे लोग स्थूल विचार के द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे कि जिससे हम प्रेम आदि करते हैं, वह प्रेम आदि का आलंबन नट को अभिनय करते देखकर हमारे ध्यान में आ जाता है, और उसका बार-बार अनुसंधान करने से हमें आनंद का अनुभव होता है; अतः वह प्रेम आदि का आलंबन—वह विभाव ही रस है। वे कहने लगे कि—"भाव्यमानो विभाव एव रसः"। अर्थात् बार बार अनुसंधान किया हुआ प्रेम-आदि का आलंबन ही रस है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में नौवाँ है।

२—पर, पीछे से लोगों को इस बात के मानने में विप्रतिपत्ति हुई। उन्होंने सोचा कि यदि प्रेम आदि का आलंबन ही रसरूप हो, तो जब वह प्रेम-आदि के प्रतिकूल चेष्टा करे, अथवा प्रेम आदि के अनुकूल चेष्टाओं से रहित हो, तब भी उसे देखकर हमें आनंद आना चाहिए; क्योंकि आलंबन तो तब भी वही था और अब भी वही है, उसमें कुछ फेर-फार तो हुआ नहीं। पर, ऐसा होता नहीं। इस बात को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर लीजिए। कल्पना कीजिए कि एक नट ने पहले दिन सीता अथवा शकुंतला का पार्ट लिया था, और उसे देखकर—उसे अपने प्रेम का आलंबन मानकर—सहस्रों सामाजिक (दर्शक) मुग्ध हो गए थे। उसी नट

को, यदि कोई, दूसरे दिन, उन वेष-भूषाओं और चेष्टाओं से रहित देखे, तो क्या तब भी वह उसी आनंद को प्राप्त कर सकेगा ? कभी नहीं। बस, तो यही समझकर लोगों के विचारों में परिवर्त्तन हुआ और उन्होंने सोचा कि प्रेम आदि का आलंबन रस नहीं, किंतु बार बार अनुसंधान की हुई उसकी चेष्टाएँ और शारीरिक स्थितियाँ, जिन्हें अनुभाव कहा जाता है, रस हैं। वे कहने लगे कि "अनुभावस्तथा"। अर्थात् बार बार अनुसंधान की हुई विभाव की चेष्टाएँ और शारीरिक स्थितियाँ रस हैं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में दसवाँ है।

३—इसके बाद लोग कुछ और आगे बढ़े। उनका ध्यान प्रेम-पात्र की चित्तवृत्तियों की तरफ गया। उन्होंने सोचा कि कोई भी नट या नटी हजार लटका करे; पर यदि वह उस पात्र के अंत:करण के भावों को दर्शकों के सामने यथार्थ रूप में प्रकट न कर सके, तो कुछ भी मजा नहीं आता। अत: यह मानना चाहिए कि न विभाव रस हैं, न अनुभाव; किंतु प्रेम आदि के आलंबन अथवा आश्रय की जो चित्तवृत्तियाँ हैं, जिन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है, वे बार बार अनुसंधान करने पर रसरूप बनती हैं। वे कहने लगे कि "व्यभिचार्येव तथा-तथा परिणमति"। अर्थात् प्रेम आदि के आलंबन तथा आश्रय की चित्तवृत्तियाँ ही उस उस रस के रूप में परिणत होती हैं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में ग्यारहवाँ है।

४—इसके अनंतर उनमें से बहुतेरे लोगों ने पूर्वोक्त मतों की आलोचना आरंभ की। उन्होंने सोचना शुरू किया कि इन तीनों मतों में से कौन ठीक है। अनेक नाट्यों के देखने से उन्हें अनुभव हुआ कि किसी नाट्य में सुंदर और सुसज्जित पात्र, किसी में उनके नयन-विमोहक अभिनय तथा किसी में मनोभावों का मनोहर विश्लेषण मनुष्य को मुग्ध करता है, और किसी में ये तीनों ही रद्दी होते हैं और कुछ मज़ा नहीं आता। तब उन्होंने यह निश्चय किया कि इन तीनों में से जहाँ जो चमत्कारी हो, जो कोई दर्शक के चित्त को आह्लादित कर सके, वहाँ उसे रस कहना चाहिए, और यदि चमत्कारी न हों तो तीनों में से किसी को भी रस कहना उचित नहीं। वे कहने लगे—"त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा तु त्रयोऽपि न"। अर्थात् तीनों में से जो कोई चमत्कारी हो, वही रस है, और यदि चमत्कारी न हों तो तीनों ही रस नहीं कहला सकते। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में आठवाँ है[१]।

१—पंडितराज इस मत के अनुसार भी भरत-सूत्र (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः) की व्याख्या करते हैं। यदि यह मत भरत-सूत्रों के बनने के अनंतर चला हो, तो मानना पड़ेगा कि इस समय जो 'नाट्यशास्त्र' प्राप्त होता है, वह भरत का बनाया हुआ नहीं है; क्योंकि उसमें स्थायी भावों को रसरूप मानने का विस्तृत विवरण है और विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव इन तीनों में से किसी एक को रस मानने का तो कहीं नाम भी नहीं है। और यदि यही

५—अब आगे चलिए। आगे यह बात हुई कि रस का अन्वेषण करते करते जब लोगों की दृष्टि मनो-भावों की तरफ गई तो उनका भी विवेचन होने लगा। विवेचन करने पर विदित हुआ कि उन भावों में से ८ अथवा ९ भाव ऐसे हैं कि जो नाट्य भर में प्रतीत होते रहते हैं; जैसे शृंगार के अभिनय में प्रेम, करुण के अभिनय में शोक इत्यादि। और शेष ऐसे विदित हुए कि जो कभी प्रतीत होते थे और कभी नहीं; जैसे हर्ष, स्मृति, लज्जा-आदि। जो भाव नाट्य भर में प्रतीत होते रहते थे, उन्हें लोग स्थायी कहने लगे; क्योंकि वे स्थिर थे। और, जो कभी कभी प्रतीत होते थे, उन्हें व्यभिचारी अथवा संचारी कहा जाने लगा; क्योंकि वे व्यभिचरित होते रहते थे अर्थात् कभी प्रेम के साथ रहते थे तो कभी शोक आदि के साथ। जब स्थायी भावों का ज्ञान हो गया तब उन्होंने पूर्वानुभूत रस को उन्हीं के अनुसार नौ भेदों में विभक्त कर दिया, जिनका सविस्तर वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में है।

जब यह विभाग हो गया, तब लोगों को पूर्वोक्त चारों मतों की निस्सारता प्रतीत हुई। उनको ज्ञात हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव, इन तीनों में से किसी एक को (फिर वह चमत्कारी हो अथवा अचमत्कारी)

नाट्यशास्त्र भरत-निर्मित है तो कहना पड़ेगा कि यह व्याख्या कल्पित है। पर, इस झगड़े को ऐतिहासिकों पर छोड़ देने के सिवाय, इस समय, हमारे पास और कोई उपाय नहीं है।

रसरूप मानना सर्वथा भ्रम है। इसका कारण यह था कि जिस तरह व्याघ्र आदि प्राणी भयानक रस के विभाव होते हैं, वैसे ही वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी हो सकते हैं; क्योंकि वे जिस प्रकार भय के आलंबन होते हैं, उसी प्रकार उत्साह, आश्चर्य और क्रोध के भी आलंबन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि भी जैसे शृंगार-रस के अनुभाव होते हैं, वैसे ही करुण और भयानक रस के भी हो सकते हैं; क्योंकि ये जिस तरह प्रेम के कारण उत्पन्न होते हैं, उसी तरह शोक और भय के कारण भी उत्पन्न हो सकते हैं। व्यभिचारी भावों की भी यही दशा है; क्योंकि चिंता आदि चित्तवृत्तियाँ जिस तरह शृंगार-रस के स्थायी भाव प्रेम को पुष्ट करती हैं, उसी तरह वीर, करुण और भयानक रसों में यथा—उत्साह, शोक और भय को भी पुष्ट कर सकती हैं। अब यदि इन तीनों में से किसी-एक को रस माना जाय, तो जो प्रेम आदि एक ही चित्तवृत्ति की प्रत्येक नाट्य के पूरे भाग में स्थिर रूप से प्रतीति होती है, वह न बन सके। अतः वे लोग यह मानने लगे—"विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः"। अर्थात् विभावादिक तीनों इकट्ठे रसरूप हैं, उनमें से कोई एक नहीं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में सातवाँ है।

६—स्थायी भावों का ज्ञान हो जाने और उसके अनुसार इसका विभाग स्थिर हो जाने के अनंतर विद्वानों ने उस पर फिर विचार किया और उन्हें पूर्वोक्त मत भी न जँचा। उनको

विदित हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तीनों ही पृथक् पृथक् अथवा सम्मिलित—किसी भी रूप में—रस नहीं हो सकते। क्योंकि जिस वस्तु का हम आस्वादन करते हैं, जिससे हमें यह आनंद प्राप्त होता है, वह ये नहीं, किंतु वही पूर्वोक्त चित्तवृत्ति है, जो भिन्न भिन्न नाट्यों में भिन्न भिन्न रूपों में स्थिरतया प्रतीत होती रहती है। अर्थात् यह निर्णीत हुआ कि प्रेम आदि स्थायी भावों का नाम रस है। साथ ही यह भी विदित हुआ कि विभाव उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उसके द्वारा उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारी भाव उसके साथ रहकर उसे पुष्ट करते हैं। इस-लिये यह सिद्ध हो गया कि इन सब में स्थायी भाव ही प्रधान हैं; क्योंकि ये सब उसके उपकरणभूत हैं; और इन तीनों के संयोग से वह रसरूप बनकर हमें आनंदित करता है। अर्थात् नाट्यादिक में हम इन तीनों से संयुक्त, परंतु इन सब से प्रधान, उसी चित्तवृत्ति का आस्वादन करते हैं।

इसी विमर्श को नाट्य-शास्त्र के परमाचार्य महामुनि भरत ने लिखा है। उन्होंने पूर्वोक्त सिद्धांत को अपने नाट्यशास्त्र में अच्छी तरह स्थिर कर दिया, और—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

यह सूत्र बनाया। यह सूत्र आज दिन तक प्रमाण माना जाता है और अनंतरभावी आचार्यों ने इसी सूत्र पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इस सत्र का अर्थ यों है कि विभाव-

अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग—अर्थात् मिश्रण—से स्थायी भाव रसरूप बनते हैं। यद्यपि इस सूत्र की अनेक व्याख्याएँ हुई हैं, तथापि हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार यह प्रतीत होता है कि भरत मुनि ने इस सूत्र को पूर्वोक्त अर्थ में ही लिखा है; क्योंकि नाट्यशास्त्र में इस सूत्र की जो व्याख्या[1] लिखी गई है, उससे यही बात सिद्ध होती है।

भरत मुनि ने इस बात को दृष्टांत देकर स्पष्ट करने के लिये जो दो श्लोक लिखे हैं, उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं; क्योंकि इनसे उनके विचार विशदरूपेण विदित हो जाते हैं। वे ये हैं—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसंबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥

अर्थात् जिस तरह भात के रसज्ञ पुरुष अनेक पदार्थों से तथा अनेक दाल-शाक आदि व्यंजनों से युक्त भात को खाते हुए उसका आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् लोग भावों

१—"को दृष्टांतः ? अत्राह—यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।" इसका तात्पर्य्य यह है कि जिस तरह गुड़ वगैरह वस्तुओं, मसालों और धनिया-पोदीना वगैरह से चटनी वगैरह तैयार की जाती है, उसी तरह अनेक भावों से मिश्रित भी स्थायी भाव रस बन जाते हैं।

और अभिनयों से संबद्ध स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं; अतः (उन्हें) नाट्य के 'रस' कहा जाता है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि विभावादिक रसरूप नहीं, किंतु इनसे परिष्कृत स्थायीभाव रसरूप होते हैं[1]।

१—यद्यपि इसके आगे हमें अग्निपुराण का रस-विवेचन लिखना चाहिए था, क्योंकि भरत के अनंतर वही क्रम प्राप्त है; तथापि शुद्ध पुस्तक प्राप्त न होने के कारण हम उस पर विशेष विवेचन न कर सके। इस कारण, जो कुछ हमें उपलब्ध हुआ उस भाग को और उसके यथा-मति भावार्थ को हम टिप्पणी में दे रहे हैं। आशा है कि विद्वान् लोग इसका यथामति उपयोग करेंगे। उसमें लिखा है—

अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोथ(त्थ) परिघो(पो)पस्वलक्षणाः॥
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः।
रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते॥
वीरोऽवष्टम्भजः सङ्कोचभूर्बीभत्स इष्यते।
शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः॥

पूर्वोक्त भरत-सूत्र की सबसे पहली व्याख्या[1] आचार्य भट्ट-लोल्लट ने लिखी है, जिसे मीमांसा के अनुसार माना जाता

वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद् बीभत्साद्भयानकः ।
शृङ्गारवीरकरुणरौद्रवीरभयानकाः ॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो (?) रसाः ।
लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥

अर्थात् जिसे वेदान्तों में अविनाशी, नित्य, अजन्मा, व्यापक, अद्वितीय, ज्ञानरूप, स्वतः प्रकाशमान अथवा तमोनिवर्त्तक और सर्वसमर्थ परब्रह्म कहा गया है उसमें स्वतःसिद्ध आनंद विद्यमान है। वह आनंद किसी समय प्रकट हो जाया करता है और उस आनंद की वह अभिव्यक्ति, चैतन्य, चमत्कार अथवा रस नाम से पुकारी जाती है। उसी (आनंद की अभिव्यक्ति) का जो पहला विकार है, उसे अहंकार माना जाता है। उस अहंकार से अभिमान अर्थात् ममता उत्पन्न होती है, जिसमें यह सारी त्रिलोकी समाप्त हो गई है। तात्पर्य्य यह कि त्रिलोकी में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो किसी न किसी की ममता की पात्र न हो। उसी अभिमान—अथवा ममता—से रति अर्थात् प्रेम अथवा अनुराग उत्पन्न होता है। वही रति व्यभिचारी आदि भावों की समानता से—अर्थात् समान रूप में उपस्थित व्यभिचारी आदि भावों से—परिपुष्ट होकर शृंगार-रस कहलाती है। उसी के हास्यादिक अन्य भी अनेक भेद हैं। (वही रति सत्वादि गुणों के विस्तार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच इन चार रूपों में परिणत होती है; उनमें से) राग से शृंगार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और संकोच से बीभत्स की उत्पत्ति मानी जाती है। स्वभावतः ये चार ही रस हैं। पर, बाद में, शृंगार से हास, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति हुई। (और रति—अथवा अनुराग के अभाव रूप

है। उन्होंने इस सूत्र की व्याख्या यों की है—'कामिनी आदि आलंबन विभाव रति आदि स्थायी भावों को उत्पन्न करते हैं, बाग-बगीचे आदि उद्दीपन विभाव उन्हें उद्दीप्त करते हैं, कटाक्ष और हाथों के लटके आदि अनुभाव उनको प्रतीत होने के योग्य बनाते हैं तथा उत्कंठा आदि व्यभिचारी भाव उन्हें पुष्ट करते हैं और तब वे रसरूप बन जाते हैं।' इसके अनंतर उन्होंने इस पर यों विमर्श किया है कि यह सब तो ठीक है; पर यह सोचिए कि वे रति आदि स्थायी भाव, जिन्हें आप रसरूप मानते हैं, रहते किसमें हैं? मान लीजिए कि आप एक ऐसे काव्य का अभिनय देख रहे हैं जिसमें दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम का वर्णन है। अब यह बताइए कि वह प्रेम काव्य में वर्णन किए हुए दुष्यंत से संबंध रखता है, अथवा आप जिसका अभिनय प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उस नट

निर्वेद से शांत रस की उत्पत्ति हुई; अर्थात् रति-भाव से आठ रसों की और रति के अभाव से एक रस की उत्पत्ति हुई।) इस तरह रसों के शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ नाम हुए। जिस तरह किसी के पास लक्ष्मी—अर्थात् संपत्ति—हो, पर वह किसी भी काम में उसका त्याग—अर्थात् व्यय अथवा दान—न करता हो, तो वह शोभित नहीं होती, लोगों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता; ठीक वही दशा बिना रस की वाणी की होती है। अर्थात् नीरस वाणी कृपण के धन के समान निरुपयोगी और प्रभावशून्य होती है, और उसका होना न होना समान है।

१—यहाँ से चार मतों के क्रम आदि काव्यप्रकाश तथा काव्यप्रदीप से लिए गए हैं।

से ? आपको विवश होकर यही कहना पड़ेगा कि दुष्यंत से; क्योंकि काव्य में वर्णित शकुंतला का प्रेम नट से तो हो नहीं सकता। पर यदि ऐसा मानें तो यह शंका उत्पन्न होती है कि भला, उस दुष्यंत के प्रेम से सामाजिक (दर्शक) लोगों को कैसे आनंद मिल सकता है; क्योंकि दुष्यंत तो उनके सामने है नहीं, है तो नट। इसका समाधान वे यह करते हैं कि सामाजिक लोग नट को उसी रंग-ढंग का देखकर उस पर दुष्यंत का आरोप कर लेते हैं—अर्थात् उसे झूठे ही दुष्यंत समझ लेते हैं। बस, इसी कारण उन्हें आनंद प्राप्त होता है, दूसरा कुछ नहीं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में पाँचवाँ है।

७—पर, इसी सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार आचार्य श्री-शंकुक को, जिनकी व्याख्या न्यायशास्त्र के अनुसार मानी जाती है, यह बात न जँची। उन्होंने कहा—आप जो यह कह रहे हैं कि "रस मुख्यतया दुष्यंत आदि में रहता है, और नट पर उसका आरोप कर लिया जाता है" सो ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि खींच खाँचकर नट पर रस का आरोप कर लेने पर भी दर्शक लोगों से तो उसका कुछ संबंध हुआ नहीं; फिर बताइए, उन्हें किस तरह आनंद आ सकता है? यदि आप कहें कि उन्हें नट के ऊपर आरोपित रस का ज्ञान होता है—वे उसे जानते हैं; अतः उन्हें आनंद का अनुभव होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि, यदि जान लेने मात्र से ही आनंद प्राप्त होता हो तो यदि कोई रस शब्द बोले

और हम उसका अर्थ समझ लें, तब भी हमें वही आनंद प्राप्त होना चाहिए; क्योंकि हमें शब्द के द्वारा रस का ज्ञान तो हो ही गया। पर यदि आप यह युक्ति बतलाएँ कि अनुभाव आदि के विज्ञान के बल से जो नट पर आरोप किया जाता है, उससे आनंदानुभव होता है, केवल शब्दादि के द्वारा ज्ञान से नहीं; तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि चंदनादि के लेप आदि से जो आनंद आता है, उसमें हमें न अनुभाव की आवश्यकता होती है, न विभाव की। केवल स्पर्शेंद्रिय से, अथवा अन्य किसी इंद्रिय से, ज्ञान होते ही आनंद आने लगता है। दूसरे, इस बात में कोई प्रमाण भी नहीं है कि ऐसी कल्पना की जाय। रही भरत-सूत्र की बात, सो वह दूसरी तरह भी लगाया जा सकता है।

श्री शंकुक ने इस सूत्र का तात्पर्य यों समझाया—"विभावादि के द्वारा नट में अनुमान किया जानेवाला और जिस दुष्यंतादि का अनुकरण किया जा रहा है, उसमें रहनेवाला रति आदि स्थायी भाव रस है।" अर्थात् मुख्यतया रस दुष्यंतादि में ही रहता है; पर नट में उसका अनुमान कर लिया जाता है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने लिखा है कि जगत् में चार तरह के ज्ञान प्रसिद्ध हैं; सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान और सादृश्यज्ञान। राम के देखनेवाले को जो 'यह राम ही है,' 'यही राम है' और 'यह राम है ही' ये तीनों

ज्ञान होते हैं, वे **सम्यग्ज्ञान** कहलाते हैं। इनमें से पहले—अर्थात् 'यह राम ही है' इस ज्ञान में 'इसके राम न होने' का—अर्थात् 'यह राम नहीं है' इस ज्ञान का निवारण होता है। दूसरे—अर्थात् 'यही राम है' इस ज्ञान से 'इसके अतिरिक्त अन्य किसी के राम होने' का—अर्थात् 'राम और कोई है' इस ज्ञान का—निवारण होता है। और तीसरे अर्थात् 'यह राम है ही' इस ज्ञान से 'सर्वथा राम न होने' का—अर्थात् 'यह राम है ही नहीं' इस ज्ञान का निवारण होता है। इन्हीं तीनों निवारणों को संस्कृत में क्रमशः अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यंतायोगव्यवच्छेद कहते हैं। **मिथ्याज्ञान** उसे कहते हैं, जिसमें पहले से 'यह राम है' ऐसा जान पड़ने पर भी पीछे से जान पड़े कि 'यह राम नहीं है'। 'यह राम है अथवा नहीं' इस परस्पर विरोधी ज्ञान को **संशयज्ञान** कहा जाता है; और 'यह राम के समान है' इस समानता के ज्ञान को **सादृश्यज्ञान** कहते हैं।

इन चारों ज्ञानों के अतिरिक्त एक और भी ज्ञान होता है, जो कि जगत् में प्रसिद्ध नहीं है; जैसे किसी घोड़े का चित्र देखकर 'यह घोड़ा है' ऐसा ज्ञान। बस, इसी ज्ञान के द्वारा सामाजिक लोग नट को दुष्यंत आदि समझ लेते हैं, और फिर उन्हें सुंदर काव्य के अनुसंधान के बल से तथा शिक्षा और अभ्यास के द्वारा उत्पन्न की हुई नट की कार्यपटुता से, स्थायी भाव के कारण, कार्य और सहकारी, जिन्हें विभाव,

अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहा जाता है, कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् सामाजिकों को उनके बनावटीपन का बिलकुल खयाल नहीं रहता; और तब वे लोग नट में स्थायी भाव का अनुमान कर लेते हैं। बस, उस' अनुमान का नाम ही रस का आस्वादन है; और वह आस्वादन सामाजिकों को होता है; अतः यह कहा जाता है कि रस सामाजिकों में रहता है।

पर, यहाँ एक शंका हो सकती है। वह यह कि किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष होने पर ही आनंद होता है, अनुमान मात्र से नहीं; अन्यथा हम सुख का अनुमान करने पर भी सुखी क्यों नहीं हो जाते। इसका समाधान वे यों करते हैं कि रति आदि स्थायी भावों में कुछ ऐसी सुंदरता है कि उसके बल से वे हमें अत्यंत अभीष्ट अथवा परम सुखरूप प्रतीत होते हैं; अतः यह मानना पड़ता है कि वे अन्यान्य अनुमेय पदार्थों से विलक्षण हैं, उनमें यह नियम नहीं लगता। तात्पर्य यह कि स्थायी भावों की सुंदरता का सामाजिकों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे उनका अनुमान करने पर भी आनंदित हो उठते हैं और नट को प्रत्यक्ष देखने पर भी यह निश्चय नहीं कर सकते कि यह दुष्यंत नहीं है।

८—भरत-सूत्र के तृतीय व्याख्याकार आचार्य भट्टनायक को, जिनकी व्याख्या सांख्य-सिद्धांत के अनुसार मानी जाती है, यह बात भी न जँची। उन्होंने कहा—श्री शंकुक का यह

कहना कि "रस का अनुमान किया जाता है", उचित नहीं। क्योंकि, संसार में जो यह बात प्रसिद्ध है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से आनंद प्राप्त होता है, अनुमानादि से नहीं; उसका तिरस्कार करके यह कल्पना करना कि "रति-आदि की सुंदरता के बल से अनुमान करने पर भी आनंद प्राप्त हो जाता है" ठीक नहीं। यदि कहो कि सूत्र का अर्थ इसी तरह अनुकूल होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि उसका अर्थ दूसरी तरह भी ठीक किया जा सकता है।

अत: यह मानना चाहिए कि काव्य की तीन क्रियाएँ हैं—अर्थात् वह तीन हरकतें पैदा करता है। उनमें से एक है अभिधा, जिसके द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है; दूसरी है भावना—अर्थात् उस अर्थ का अनुसंधान, जिसके द्वारा काव्य में वर्णित नायक-नायिका आदि पात्रों की विशेषता निवृत्त हो जाती है और वे साधारण बनकर हमारे रसा-स्वादन के अनुकूल हो जाते हैं; और तीसरी है भोग—अर्थात् आत्मानंद में विश्राम, जिसके द्वारा हम रस का अनुभव करते हैं, अथवा जो स्वयं ही रसरूप है। इस तरह काव्य की क्रियाओं से ही हमारा सब कार्य सिद्ध हो जाता है, न आरोप की आवश्यकता रहती है, न अनुमान की। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में दूसरा है।

६—पर, आचार्य अभिनव गुप्त ने, जो 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नामक व्याख्या के निर्माता हैं, जिनका साहित्यशास्त्र

के विद्वानों में बहुत ऊँचा स्थान है और जिन्हें इस सूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार भी कहा जा सकता है, इस मत को भी पसंद न किया। उन्होंने कहा—आपने जो 'भावना' और 'भोग' नामक दो क्रियाओं की कल्पना की है, उसमें कोई प्रमाण तो है नहीं, कोरी मनगढ़ंत है। फिर भला इसे कोई कैसे स्वीकार करेगा ?

अतः यों मानना चाहिए कि "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से अभिव्यक्त रति आदि स्थायी भावों का नाम रस है"। प्रस्तुत पुस्तक में प्रथम मत के 'क' और 'ख' भागों में इसी सिद्धांत का, किंचिन्मात्र मतभेद से, सविस्तर प्रतिपादन किया गया है, सो आप इनका विशेष विवरण वहाँ देख लें। आज दिन तक रस के विषय में यही सिद्धांत प्रामाणिक माना जाता है और मम्मट भट्ट प्रभृति साहित्य-शास्त्र के महाविद्वान् इसे परम-आदरपूर्वक स्वीकार करते हैं।

अब रहा प्रथम मत का 'ग' भाग। उसमें पंडितराज ने यह सिद्ध किया है कि पूर्वोक्त 'क' और 'ख' मतों में रति आदि के साथ आत्मानंद तो आपको भी लगाना ही पड़ता है, उसके लगाए बिना तो छुटकारा नहीं; और यह भी सिद्ध ही है कि रस आनंद से शून्य नहीं है; तब जो श्रुतियों में आनंदमय आत्मा को रसरूप माना गया है, उसके अनुसार, आनंदसहित रति आदि की अपेक्षा, रति आदि से उपहित आनंद को ही रसरूप मानना उचित है। और उनके हिसाब से यही वास्तविक मत है।

इसके अनंतर इस विषय में दो मत और उत्पन्न हुए हैं। उनमें से—

१०—नवीन विद्वानों का कथन है कि रस को आत्मानंद सहित तथा वासनारूप में विद्यमान स्थायी भावों के रूप में मानना ठीक नहीं; किंतु यों मानना चाहिए कि जब हमें काव्य सुनने अथवा नाट्य देखने से विभाव आदि का ज्ञान हो जाता है, तब हम व्यंजनावृत्ति के द्वारा, शकुंतला आदि के साथ दुष्यंत आदि के जो प्रेम आदि थे, उन्हें जान लेते हैं। उसके अनंतर सहृदयता के कारण हम उन सुने अथवा देखे हुए पदार्थों का बार बार अनुसंधान करते हैं। वही बार बार अनुसंधान, जिसे भावना कहा जाता है, एक प्रकार का दोष है। उसके प्रभाव से हमारा अंत:करण अज्ञान से आच्छादित हो जाता है, और तब उस अज्ञानावृत अंत:करण में, सीप में चाँदी की तरह, अनिर्वचनीय रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं और उनका हमें आत्म-चैतन्य के द्वारा अनुभव होता है। बस, उन्हीं रति आदि का नाम रस है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में तीसरा है।

और—

११—दूसरे विद्वानों का यह कहना है कि न तो दुष्यंत आदि के रति आदि को समझने के लिये व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता है और न अज्ञानावृत अंत:करण में अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना की। किंतु यों मानना चाहिए कि

हम नट की अथवा काव्य-पाठक की चेष्टा आदि के द्वारा शकुं-तला आदि के साथ जो दुष्यंत आदि का प्रेम था, उसका अनु-मान कर लेते हैं, और तब पूर्वोक्त भावनारूपी दोष से हम अपने को दुष्यंत आदि समझने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे अंतःकरण में ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि हम शकुंतला आदि से जो व्यक्ति प्रेम आदि रखता है, उससे अभिन्न हैं। बस, इसी भ्रम का नाम रस है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में चौथा है। ये हैं रस के विषय में ११ मत।

अंतिम दो मतों की अमान्यता का कारण

पर, इन अंतिम दोनों मतों का बिलकुल प्रचार नहीं हुआ। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि एक तो सभी काव्य सुननेवालों अथवा नाटक देखनेवालों को रस का आस्वादन नहीं होता; अतः यह मानना ही पड़ता है कि जिनमें वासना-रूप से रति आदि विद्यमान होते हैं, उन्हें ही रसानुभव होता है। अतएव लिखा गया है कि—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसंनिभाः॥

अर्थात् (नाटकादि देखने पर भी) जो सभ्य वासनायुक्त होते हैं, अर्थात् जिनमें वासनारूप रति आदि भाव रहते हैं, उन्हें ही रस का आस्वादन होता है; और जिन लोगों में वह वासना नहीं होती, वे तो नाट्यशाला के अंतर्गत लकड़ो, दीवार

और पत्थरों के समान हैं, यदि उन्हें कुछ मजा आवे तो इन्हें भी आ सकता है।

उन वासनारूप रति आदि को छोड़कर अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना निरर्थक है। दूसरे, रस को सीप की चाँदी की तरह मानना सहृदयों के हृदय के विरुद्ध भी है; क्योंकि रस की प्रतीति बाधित नहीं है। अर्थात् उसकी प्रतीति होने के अनंतर हमें यह बोध नहीं होता कि अब तक जिन रति आदि और आनंद की प्रतीति हो रही थी, वे कुछ हैं ही नहीं।

इसी तरह रस को भ्रमरूप मानना भी शास्त्र और अनुभव दोनों प्रमाणों से शून्य है; क्योंकि न तो अयथार्थ ज्ञान को किसी शास्त्र में ही आनंदरूप माना गया है और न अनुभव ही इस बात को स्वीकार करता है। सहृदयों के अनुभव से तो यह सिद्ध है कि रस का आनंद के साथ अभेद संबंध मानो चाहे भेद संबंध, पर वह उससे रहित है नहीं।

उपसंहार

अब हम पूर्वोक्त मतों का सिंहावलोकन करते हुए इस विषय को समाप्त करते हैं।

१—लोगों ने प्रारम्भिक दृश्य-काव्यों का अभिनय देखकर सबसे प्रथम यह निश्चय किया कि इन अभिनयों के देखने से हमें जो आनंद प्राप्त होता है, वह रति आदि भावों के

आलंबन अर्थात् प्रेमपात्र आदि में, जो नट आदि के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं, रहता है।

२—तदनंतर उन्होंने सोचा कि उनके हाव-भावों और चेष्टाओं में, जिन्हें नट आदि प्रकाशित करते हैं, वह रहता है।

३—फिर उन्होंने समझा कि उनकी मनोवृत्तियों में, जो नट आदि के अभिनय के द्वारा ज्ञात होती हैं, वह रहता है।

४—पीछे से विदित हुआ कि इन तीनों में से जो चमत्कारी होता है, उसमें वह रहता है।

५—बाद में पता लगा कि इकट्ठे तीनों में, अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के समुदाय में, वह रहता है।

६—इसके अनंतर भरत मुनि, अथवा उनके पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य, ने यह स्थिर कर दिया कि यह आनंद इन तीनों के अतिरिक्त, जिन्हें स्थायी भाव कहा जाता है, उन चित्तवृत्तियों में रहता है और उनका साथ होने पर ये (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) भी आनंद देने लगते हैं।

तत्पश्चात् इस मत की व्याख्याएँ होने लगीं। व्याख्याकारों ने इस बात को तो मान लिया कि यह आनंद रति आदि चित्तवृत्तियों में रहता है; पर अब यह खोज शुरू हुई और ये प्रश्न उपस्थित हुए कि वे चित्तवृत्तियाँ किसकी हैं, काव्य में वर्णित नायक-नायिका आदि की अथवा सामाजिकों की ? और यदि नायक-नायिका आदि की हैं तो नट को अभिनय करते देखकर सामाजिकों को उनसे कैसे आनंद मिलता है ? फिर

इन प्रश्नों के प्रत्युत्तरों की बारी आई और पहले पहल पुरः-स्फूर्त्तिक दृष्टि से यह समझा गया कि ये चित्तवृत्तियाँ काव्य में वर्णित नायक-नायिका आदि की हैं। इस प्रकार पहले प्रश्न का तो प्रत्युत्तर हो गया। अब रहा दूसरा प्रश्न। उसका प्रत्युत्तर सबसे पहले इस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार आचार्य भट्ट-लोल्लट ने यों दिया कि सामाजिक लोग उन चित्तवृत्तियों को नट पर आरोपित कर लेते हैं और उन आरोपित चित्त-वृत्तियों के ज्ञान से सामाजिकों को आनंद प्राप्त होता है।

७—श्री शंकुक ने इस मत का खंडन किया और कहा—सामाजिक लोग उन चित्तवृत्तियों का अनुमान कर लेते हैं। पर,

८—भट्टनायक ने इन बातों को स्वीकार न किया; उन्होंने कहा—नहीं, तुम्हारा कहना ठीक नहीं। असली बात यह है कि किसी भी काव्य के सुनने अथवा उसका अभिनय देखने से तीन काम होते हैं—पहले उसका अर्थ समझ में आता है; तदनंतर उस अर्थ का चिंतन किया जाता है, जिसका हमारे ऊपर यह प्रभाव होता है कि हम उसमें सुनी और देखी हुई वस्तुओं के विषय में यह नहीं समझ पाते कि वे किसी दूसरे से संबंध रखती हैं अथवा हमारी ही हैं; और उसके बाद हमारे सत्त्वगुण की अधिकता से रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और हम आत्मचैतन्य से प्रकाशित एवं साधारण रूप में उप-स्थित रति आदि भावों का अनुभव करते हैं। अर्थात् जिन

रति आदि भावों के अनुभव से यह आनंद प्राप्त होता है, वे न नायक-नायिका आदि के होते हैं, न सामाजिकों के; वे तो बिलकुल साधारण होते हैं, उनके विषय में सामाजिकों को कुछ ज्ञान नहीं होता कि वे किसके हैं।

९--अभिनवगुप्त और मम्मट-भट्ट को यह बात भी न जँची। उन्होंने भट्टनायक का खंडन करते हुए कहा कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है। उससे, अथवा यों कहिए कि विभावादिकों के आस्वादन के प्रभाव से ही, हमारे आत्मचैतन्य का आवरण—अज्ञान—दूर हो जाता है। तदनंतर यह होता है कि हमारे हृदय में, सांसारिक अनुभवों के कारण, वासना रूप से विद्यमान रति आदि का उस आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाश होता है और उस आनंदरूप आत्मचैतन्यसहित उन रति आदि भावों का यह आनंदानुभव है। अर्थात् यह अनुभव साधारण रूप से हुए रति आदि का नहीं, किंतु आत्मानंद सहित और सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रति आदि का है।

पर, पंडितराज को यह बात भी पसंद न आई। उन्होंने कहा कि और सब बात आपकी ठीक है; पर जब आपने यह स्वीकार कर लिया है कि इस अनुभव में रति आदि का और आत्मानंद का साथ है, तब उस आनंद को गौण और रति आदि को प्रधान मानना उचित नहीं। अतः यह मानना चाहिए, जो श्रुति-सिद्ध भी है, कि यह आनंद आत्मरूप ही है। हाँ,

इतना अवश्य है कि वह आनंद रति आदि से परिच्छिन्न होकर प्रतीत होता है, समाधि की तरह अपरिच्छिन्न रूप में नहीं।

इसके अनंतर जो दो मत उत्पन्न हुए हैं, उनमें से एक में—

१०—इस आनंद को आत्मचैतन्य से प्रकाशित और भ्रांति से उत्पन्न रति आदि का माना गया है। और दूसरे में—

११—केवल भ्रमरूप।

गुण

भरत और भामह

अब इसके आगे प्रस्तुत पुस्तक में विवेचनीय विषय हैं गुण। गुणों के विषय में प्रधानतया दो मत हैं—एक प्राचीनों का और दूसरा नवीनों का। प्राचीनों ने श्लेष[1], प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कांति ये दश गुण माने हैं। इनके आविष्कारक भरत अथवा उनके पूर्ववर्ती कोई आचार्य हैं। पर भामह[2] ने अपने ग्रंथ में इनमें से केवल तीन ही गुणों के नाम लिखे हैं, और आगे जाकर काव्यप्रकाशकारादिकों ने प्राचीनों के सब गुणों का

१—श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्। अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥—नाट्यशास्त्र।

२—'माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः। समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते। केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।' (भामह का 'काव्यालङ्कार')

इन्हीं में समावेश कर दिया है; वे हैं माधुर्य, ओज और प्रसाद। सो इस सबका सारांश यह हुआ कि दशगुणवाद के आविष्कारक हैं भरत और त्रिगुणवाद के हैं भामह।

प्राचीनों के मतभेद

यद्यपि प्राचीनों को दशगुणवादी कहा जाता है, तथापि उनमें परस्पर बड़ा मतभेद है। सच पूछिए तो काव्यप्रकाशकार के पहले इस विषय में अराजकता ही रही है और जिसकी जैसी इच्छा हुई, उसने उसी प्रकार के लक्षण बनाकर उतने ही गुण मान लिए हैं। उस अराजकता के समय का भी कुछ दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

गुणों के विषय में प्राचीनों के पाँच मत विशेषतः प्रसिद्ध हैं और उनके प्रवर्त्तक क्रमशः भरत, अग्निपुराण, दंडी, वामन और भोज हैं। उनमें से भरत के गुण हम गिना चुके हैं।

अग्निपुराण ने श्लेष[1], लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती (?) और यौगिकी (?) इस तरह सात शब्द-गुण; माधुर्य[2], संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकत्व इस तरह छः अर्थगुण; और प्रसाद,[3] सौभाग्य, यथा-

---

१—'श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता। सत्येव (?) यौगिकी (?) चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा।

२—माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता। प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति।

३—तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यमुदारता। पाको राग इति प्राज्ञैः षट् (प्र)पञ्च (? ः) प्रपञ्चिताः।

संख्य, उदारता, पाक और राग इस तरह छः उभयगुण—अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों के गुण; यों सब मिलाकर उन्नीस गुण गिनाए हैं। पर इनमें से कुछ भरतादि के गुणों में समाविष्ट, कुछ अप्रचलित और शुद्ध पुस्तक की अप्राप्ति के कारण अस्पष्ट से हैं; अतः उन्हें प्रपंचित करके हम इस भूमिका का आकार बढ़ाना नहीं चाहते।

दंडी ने नाम और संख्या तो भरत की ही रखी है; पर उनके क्रम और लक्षणों में बहुत कुछ फेर-फार कर दिया है। पर उनमें से भी कुछ अप्रचलित और अधिकांश वामन के गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं; अतः उनका विस्तार भी निरर्थक है।

वामन ने इन गुणों का बहुत ही विशद विवेचन किया है और 'काव्यप्रकाश'कार आदि ने उसे ही प्राचीनों का मत माना है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भरत और दंडी के लक्षित गुणों का उनमें सर्वांश में संग्रह हो जाता है; पर इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश में वे उनमें समाविष्ट हो जाते हैं। रसगंगाधर में जो अत्यंत प्राचीनों के दस शब्दगुण और दस अर्थगुण लिखे हैं, वे वामन के मत से ही संगृहीत किए गए हैं। सो उनके लक्षणों और उदाहरणों को आप देख ही लेंगे।

अब रहे भोजराज[1]। उन्होंने वामन के दस शब्द-गुणों के अतिरिक्त उदात्तता, ऊर्जितता, प्रेयान्, सुशब्दता,

---

१—श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥

सूक्ष्मता, गंभीरता, विस्तर, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि इस तरह चौदह अन्य गुण मानकर इनकी संख्या चौबीस कर दी है। पर इन सब का समावेश प्राय: वामन के गुणों में हो जाता है; अत: इसे आप केवल नाम-भेद सा ही समझिए।

इन सबके अनंतर वाग्भट ने दंडी के, और पीयूषवर्ष ने भरत के, मत का पुन: स्पर्श किया है। उनमें से वाग्भट ने तो प्राय: दंडी के गुणों का अनुवाद कर दिया है, सो उसे तो अतिरिक्त मत कहा ही नहीं जा सकता। हाँ, पीयूषवर्ष ने भरत के दस गुणों में से कांति को शृंगार-रस में और अर्थ-व्यक्ति को प्रसाद-गुण में समाविष्ट करके उन्हें आठ ही रख लिया है, और एकाध गुण के लक्षण में भेद भी कर दिया है; पर कोई नई बात उसमें भी नहीं है।

इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि भरत ने दस गुण माने, अग्निपुराण ने उन्नीस, भामह ने तीन, दंडी ने पुन: दस, वामन ने बीस, भोजदेव ने चौबीस, वाग्भट ने पुन: दस और पीयूषवर्ष ने आठ। इसके अतिरिक्त प्रत्येक आचार्य ने इनके लक्षणों में

ओजस्तथाऽन्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत् समाधि: सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तर: ॥
संक्षेप: संमितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रोढि:.................... ॥

—सरस्वतीकंठाभरण।

भी इच्छानुसार फेर-फार कर दिया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीनों ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के विचारों पर यथोचित विमर्श नहीं किया और जिस समय जिसे जो कुछ सूझ पड़ा, तदनुसार वे गुणों में अधिकता, न्यूनता अथवा लक्षण-भेद करते चले गए। पर इन सबने अधिकांश में गुणों का नामकरण भरत के अनुसार ही रखा है; अतः इन्हें दश-गुणवादी अथवा भरत के अनुयायी कहा जा सकता है।

मतभेदों की निवृत्ति

बारहवीं शताब्दी में काव्यप्रकाशकार महामति मम्मट को यह अराजकता खटकी। उन्होंने खूब विमर्श करके भामह का पक्ष लिया, और उन्हीं तीन गुणों में, उस समय में सर्वाधिकरूपेण प्रचलित, वामन के गुणों में से अधिकांश का समावेश कर दिया और शेष को काट-छाँटकर ठीक-ठाक कर दिया। यह काट-छाँट प्रस्तुत पुस्तक में आ चुकी है, सो आप उसे देख ही लेंगे। परिणाम यह हुआ कि अग्निपुराण का मत तो पहले से ही प्रचलित नहीं था, और भरत से लेकर भोज तक के सब गुण प्रायः वामन के मत में संगृहीत हो चुके थे; सो सबके सब उड़ गए और उन्हीं तीन गुणों का प्रचार रह गया। इसके बाद भी वाग्भट ने दंडी के मत से और पीयूषवर्ष ने भरत के मत से गुणों के लक्षणादि लिखे; पर वे काव्यप्रकाशकार की युक्तिपूर्ण विवेचना के सामने न टिक

सके और साहित्यदर्पणकार एवं रसगंगाधरकार ने इसी पक्ष को विमृष्ट करके स्थिर कर दिया।

गुणों का स्थान

यह तो हुई मत-भेद की बात। अब यह सोचिए कि साहित्य-शास्त्र में गुणों का स्थान क्या है? इस विषय में वामन और भोजदेव दोनों कहते हैं—

युवतेरिव रूपमङ्ग! काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥

अर्थात् काव्य युवती के रूप के समान है; क्योंकि वह भी अच्छे गुणों (लावण्य आदि माधुर्य आदि) से युक्त और एक के बाद एक आए हुए अनेक अलंकारों की कल्पनाओं से संबद्ध होकर आनंद देता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह स्त्री के रूप के लिये लावण्यादि की और आभूषणों की आवश्यकता है, उसी प्रकार काव्य में भी गुणों और अलंकारों की आवश्यकता है। पर यदि कवि की उक्ति गुणों से रहित हो तो कामिनी के यौवन-रहित शरीर की तरह होती है; अतः गुणों का होना काव्य के लिये अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त भोजदेव ने तो यह भी लिखा है कि—

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः ॥

अर्थात् अलंकारों से युक्त भी गुणों से रहित काव्य सुनने के योग्य नहीं होता; अतः काव्य के गुणों और अलंकारों से युक्त होने की अपेक्षा गुणों से युक्त होना मुख्य है।

काव्यप्रकाशकारादिकों का भी यही मत है कि गुण सीधे रसों को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार शब्दों और अर्थों के द्वारा; अतः गुण अलंकारों से अधिक अपेक्षित हैं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि साहित्यशास्त्र में गुणों का स्थान अलंकारों से ऊँचा और रसादि व्यंग्यों से नीचा है, और वे अलंकारों की अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं।

गुण क्या वस्तु है

अब हम इस बात का विचार करेंगे कि गुण हैं क्या वस्तु; उन्हें लोग अब तक किस किस रूप में समझते आए हैं।

महामुनि भरत दोषों का वर्णन करने के अनंतर कहते हैं कि "गुणा विपर्ययादेषाम्"। अर्थात् दोषों के विपरीत जो कुछ वस्तु है, वे गुण हैं।

अग्निपुराण में लिखा है कि "जो[1] काव्य में बड़ी भारी शोभा को अनुगृहीत करता है, अर्थात् पदावली को शोभा

१—'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।'

प्रदान करता है, वह शब्दगुण होता है; जो[1] शब्द से प्रतिपादित की जानेवाली वस्तु को उत्कृष्ट बनाता है, वह अर्थ-गुण होता है; और जो[2] शब्द और अर्थ दोनों को उपकृत करता है, वह उभयगुण होता है।

दंडी ने इन्हें "विशिष्ट[3] रचना के प्राण" माना है; और **वामन** का कहना है कि—"काव्य[4] में जो शोभा होती है—जिसके कारण काव्य को काव्य कहा जाता है, उस शोभा के उत्पादक धर्मों का नाम गुण है"।

इस सबका तथा इन सब ग्रंथों में विवेचित गुणों के लक्षणादि का निष्कर्ष यह है कि जो वस्तु शब्द को, अर्थ को अथवा उन दोनों को उत्कृष्ट बनाती है, उसका नाम गुण है।

अब इस बात का विवेचन आरम्भ हुआ कि—जब गुण भी शब्द और अर्थ को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार भी, तब इन दोनों में भेद क्या है? क्यों न गुणों को भी अलंकार ही समझ लिया जाय? इसका उत्तर दंडी ने यों दिया कि गुण रचना के प्राण हैं और अलंकार काव्य में शोभा को उत्पन्न करनेवाले; अर्थात् गुणों से काव्य में काव्यत्व आता है;

१—'उच्यमानस्य शब्देन यस्य कस्यापि वस्तुनः।
उत्कर्षमावहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते।'

२—'शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः'।

३—'एते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।'—काव्यादर्श।

४—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः'—अलंकारसूत्र।

और अलंकार उसे शोभित[१] करते हैं—उसे उत्कृष्ट बनाते हैं। इसी बात को वामन ने स्पष्ट शब्दों में यों लिखा है कि "काव्य-शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः; तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः"; अर्थात् काव्य की शोभा के जनक—काव्य[२] में काव्यत्व लाने-वाले—धर्मों का नाम गुण है, और उस शोभा को—उस काव्यत्व को—उत्कृष्ट बनानेवाले धर्मों का नाम है अलंकार।

पर, जब 'ध्वनिकार' ने काव्य के आत्मा[३] ध्वनि (व्यंग्यों) का और उनमें से भी प्रधान रस का अन्वेषण करके उसका स्वरूप स्पष्ट कर दिया, तब लोगों के विचारों में परिवर्त्तन हुआ।

१—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'—काव्यादर्श।

२—काव्यप्रकाश के अनुसार इस सूत्र की यही व्याख्या है।

३—काव्य की आत्मा के विषय में यद्यपि हमें द्वितीय भाग में विवेचन करना है; तथापि यहाँ कुछ मतों का उल्लेखमात्र किया जाता है। **अग्निपुराण** में लिखा है कि "काव्य की आत्मा रस है।" **वामन** कहते हैं कि "पदों की विशिष्ट रचना काव्य की आत्मा है।" **आनंदवर्धन** का सिद्धांत है कि "काव्य की आत्मा ध्वनि (व्यंग्य) है।" यही बात **विद्यानाथ** ने भी मानी है और **'व्यक्तिविवेक'-कार** भी इसी से सहमत हैं। **कुंतक** (वक्रोक्तिजीवितकार) ने 'बड़ी चतुराई से बात के प्रतिपादन कर देने' को काव्य की आत्मा कहा है। **साहित्यदर्पणकार** 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यों को काव्य की आत्मा' मानते हैं। **क्षेमेंद्र** का कथन है कि 'काव्य का जीवन औचित्य है।' इनमें से कुछ कथन आलंकारिक भी हैं, वे वास्तव में 'काव्यात्मा' के अन्वेषण में नहीं लिखे गए हैं। पर इस पंचायत को हम इस समय नहीं छेड़ना चाहते।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने प्राचीनों के विचारों पर विप्रतिपत्ति की और कहा कि यदि आप गुणों को ही काव्य में काव्यत्व लानेवाले मानते हैं, तो जिन काव्यों में ओज आदि गुण तो हों और रसादिक न हों, उन्हें भी काव्य कहा जा सकेगा। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि कोई मनुष्य 'इस पहाड़ पर बड़ी आग जल रही है, यह बहुतेरा धुआँ निकल रहा है' इस बात को श्लोक बनाकर यों बोले कि—

'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः।'

तो इस वाक्य में आपके हिसाब से ओज गुण तो हुआ ही; क्योंकि आप रस के साथ तो गुणों का कोई संबंध मानते नहीं, केवल रचना के साथ मानते हैं, सो यहाँ गाढ़ रचना है ही। अतः यह भी काव्य होना चाहिए; क्योंकि जो वस्तु काव्य में काव्यत्व लाती है, वह (ओज गुण) यहाँ भी विद्यमान है। पर, बताइए, कौन सहृदय ऐसा होगा जो केवल रचना के कारण ही इसे काव्य मानने लगे? अतः यों मानना चाहिए कि काव्य में काव्यत्व लानेवाली चीज़ें तो रसादिक व्यंग्य हैं, और उन्हें उत्कृष्ट बनानेवाले जो धर्म हैं, उनका नाम है गुण; जैसे कि मनुष्य को जीवित बनानेवाला आत्मा है, और उसे उत्कृष्ट बनानेवाले हैं शूरवीरता आदि गुण[1]।

१—'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।' (काव्यप्रकाशः); (रसस्येति—अलक्ष्यक्रमोपलक्षणम्, इत्युद्योते नागेशः)।

ध्वनिकार के अनुयायियों ने काव्य के आत्मादिक का विवरण आलंकारिक भाषा में यों किया है—'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शूर-वीरता आदि की तरह हैं, दोष कानेपन आदि की तरह हैं और अलंकार आभूषणों की तरह।'[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रसों के साथ गुणों का अंतरंग संबंध है और अलंकारों का बाह्य; एवं गुण काव्य की आत्मा रस को उत्कृष्ट करते हैं, और अलंकार उसके शरीर रूप शब्द और अर्थ को।

साथ ही गुणों की वास्तविकता का पता लगाने के लिये इस बात का भी अन्वेषण हुआ कि प्राचीन लोग जिन्हें गुण शब्द से व्यवहृत करते आए हैं, उन बीसों में से, यदि नवीन प्रणाली से जिन दोषों का विवेचन किया गया है, उनके अभाव रूप गुणों को पृथक् कर दिया जाय, तो क्या बच रहता है। सोचने पर विदित हुआ कि शेष सब गुण कोमल, कठोर और स्पष्टार्थक तीन प्रकार की रचनाओं में विभक्त किए जा सकते हैं। इस तरह वे बीस के तीन हुए और उनके नाम भामह की प्रणाली से माधुर्य, ओज और प्रसाद रखे गए।

इसके अनंतर यह भी सोचा गया कि कौन सी रचना किस रस के अनुरूप है? विमर्श करने पर विदित हुआ कि शृंगार, करुण और शांत रसों के लिये कोमल रचना की; वीर,

१—"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रस्यादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्" इति।

रौद्र और बीभत्स रसों के लिये कठोर रचना की आवश्यकता है; और स्पष्टार्थक रचना का होना तो सभी रसों में अपेक्षित है। जब यह निर्णय हो गया, तब यह खोज हुई कि इन रचनाओं से युक्त उन उन रसों के आस्वादन से अंतःकरण पर क्या प्रभाव होता है? अनुभव से ज्ञात हुआ कि कोमल रचना से युक्त रसों के आस्वादन से चित्त पिघलता है, कठोर रचना से युक्त रसों के आस्वादन से चित्त उद्दीप्त होता है—उसमें जोश आ जाता है, और स्पष्टार्थक रचना से युक्त रसों के आस्वादन से चित्त विकसित होता है। थोड़ा और सोचने पर यह भी पता लगा कि यह काम वास्तव में रसों से होता है, रचनाओं से नहीं; क्योंकि यदि मधुर रचना से ही चित्त द्रुत होता हो, तो वैसी रचना से वीर आदि रसों में चित्त की द्रुति क्यों नहीं होती। अतः यह निर्णय हुआ कि गुण रचना से विलक्षण वस्तु हैं और उनका रसों के साथ संबंध है, रचनाओं के साथ नहीं। अंततो गत्वा काव्यप्रकाशकार ने यह निर्णय किया कि शृंगार, करुण और शांत रसों में जो एक प्रकार की आह्लादकता रहती है, जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है, उसका नाम माधुर्य है; वीर, रौद्र और बीभत्स रसों में जो उद्दीपकता रहती है, जिसके कारण चित्त जल उठता है, उसका नाम ओज है; और जो सूखे[1] ईंधन

१—यह दृष्टांत ओजस्वी रसों के लिये है।

में आग की तरह और स्वच्छ[१] शर्करा अथवा वस्त्रादि में जल की तरह चित्त को रस से व्याप्त कर देता है, उस विकासकत्व का नाम प्रसाद है। अतः यों समझना चाहिए कि गुण मुख्यतया रस के धर्म हैं, और इन्हें जो रचना आदि के धर्म कहा जाता है, सो औपचारिक है।

पर, साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार के आशय को बिना समझे ही उसका खंडन कर दिया। उन्होंने पहले तो काव्यप्रकाशकार की इसी बात को लिख दिया कि 'गुण[२] शौर्यादिक की तरह रस के धर्म हैं; पर आगे जाकर यह निश्चित किया कि द्रुति, दीप्ति और विकासरूपी चित्तवृत्तियों का नाम ही माधुर्य, ओज और प्रसाद है, तथा अपने इस सिद्धांत के अनुसार काव्यप्रकाशकार के विषय में यह कह डाला कि माधुर्य[३] को जो द्रुति का कारण बताया जाता है, वह ठीक नहीं; क्योंकि द्रुति स्वयं रसरूप आह्लाद से अभिन्न है, इस कारण, जैसे रस कार्य नहीं हो सकता, वैसे वह भी कार्य नहीं हो सकती। पर उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि काव्यप्रकाशकार ने द्रुति को माधुर्य माना कब है? वे तो शृंगारादि में जो द्रुति-जनकता (प्रयोजकता) रहती है, उसे

१—यह दृष्टांत मधुर रसों के लिये है।

२—'रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणाः......'।

३—"यत्तु केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति तन्न। द्रवीभावस्यास्वादस्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्य्यत्वाभावात्।"

माधुर्य कहते हैं। आपने पहले तो गुणों को रस का धर्म बताया और अब उन्हें चित्तवृत्तिरूप कह रहे हैं। ज़रा सोचिए तो सही कि रति (जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है) रूप रस का धर्म द्रुतिरूप चित्तवृत्ति कैसे हो सकती है? क्या एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति धर्म होती है? अतः यह सब अविचारिताभिधान है।

इसके बाद पंडितराज ने गुणों के स्वरूप का प्रामाणिक रूप से निर्णय करके यह स्थिर कर दिया कि वास्तव में द्रुति, दीप्ति और विकास नामक चित्तवृत्तियों के नाम ही माधुर्य, ओज और प्रसाद हैं; और शृंगारादिक रस उनके प्रयोजक हैं, अतः उन्हें मधुर आदि कहा जाता है। सो यह मानना चाहिए कि गुण रसों के धर्म नहीं किंतु स्वतंत्र चित्तवृत्तियाँ हैं, और वे उन उन शब्दों, अर्थों, रसों और रचनाओं से प्रयुक्त होकर रस को उत्कृष्ट बनाती हैं।

भाव

प्रस्तुत पुस्तक के इस भाग में केवल व्यभिचारी भाव रह जाते हैं; पर उनके विषय में इस समय कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है; क्योंकि उनके विषय में विशेष मत-भेद नहीं है; वे भरत के समय से आज-दिन तक तेंतीस के तेंतीस ही हैं, न किसी ने उन्हें घटाया, न बढ़ाया। प्रस्तुत पुस्तक में लक्षण, स्वरूप तथा कार्य-कारण आदि सब बातों

का स्पष्टरूपेण विवरण कर दिया गया है। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि इस तरह से प्रत्येक भाव को पृथक्-पृथक् समझने के लिये उनके भेदक धर्म और कार्य-कारण अन्यत्र नहीं समझाए गए हैं।

इति शुभम्।

वैशाख शुक्ला ८ शुक्रवार
संवत् १९८५
ता० २७ अप्रैल सन् १९२८

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
जयपुर

विषय-सूची

श्रीहरिः

हिंदी-रसगंगाधर

प्रथम भाग

(प्रथम आनन)

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अति-कलेस तें मनन-जलधि के उदर-मांझ दै गोत घनी ।
मैं जग में कीन्हीं प्रकटित यह "रसगंगाधर" ललित-मनी ॥
सो हरि अंधकार अंतर को हिय शोभित ह्वै गुनि-गन के ।
सकल अलंकारन के, करि दै गलित, गरब उत्तमपन के ॥

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी

श्रीहरिः

हिंदी-रसगंगाधर

प्रथम भाग

तरनि-तनूजा-तट-तरुन तरुनीवृन्द मझार ।
जे विहरत, ते करहु मुद-मङ्गल नन्दकुमार ॥

मंगलाचरण

स्मृताऽपि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥

❀ ❀ ❀ ❀

सुमिरत हू जो हरत नरन को तरुनातप करुना करिकैं ।
घेरी शत-शत विजुरिन तें जो भङ्ग-रहित तन-दुति धरिकैं ॥
कल कलिन्दतनया के तट के सुरतरु जाके हैं आश्रय ।
सो मेघन की माल अलौकिक मम मति चुम्बन करहु सदय ॥

जो केवल स्मरण करते ही मनुष्यों के तीव्र आतप (संसार के ताप) को, दया करके हरण कर लेती है, जो, जिनकी शरीर-

कांति में भग्न होने का स्वभाव ही नहीं है, उन सैकड़ों बिजलियों (गोपांगनाओं) से परिवृत है और जिसका श्रीकालिंदी के तट के सुरतरु (कदंब) आलंबन हैं, वह अनिर्वचनीय मेघ-माला (श्रीकृष्णचंद्र की मूर्त्ति) मेरी बुद्धि का चुंबन करनेवाली बने—मेरी बुद्धि में विराजमान रहे ।

गुरु वन्दना

श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत् ।
देवादेवाऽध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयम्
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत्सर्वविद्याधरो यः ॥

पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया ।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम् ॥

❀ ❀ ❀ ❀

जिन ज्ञानेन्द्र भिक्षु ते सीखी सविधि ब्रह्म-विद्या सगरी ।
गुरु महेन्द्र ते कणभुज-गौतम-गहन-गिरा अध्ययन करी ॥
शास्त्र जैमिनी को जिन सीख्यो खण्डदेव तें शिवनगरी ।
पाइ शेष तें महाभाष्य जिन हृदय सकल विद्यान धरी ॥
जिनकी लीला तें झरत शुचि पियूष पाषान ।
लक्ष्मीपति ते पेरुभट वन्दौं गुरु सु-महान ॥

जिन्होंने संपूर्ण ब्रह्मविद्या का विस्तार (वेदांत शास्त्र) श्रीमान् ज्ञानेंद्र भिक्षु से प्राप्त किया, कणाद और गौतम की

गंभीर वाणियाँ (वैशेषिक और न्याय शास्त्र) महेंद्रशास्त्री से समझीं—न कि रट लीं, काशीजी में रहकर परम प्रसिद्ध खंडदेव पंडित से जैमिनीय शास्त्र (पूर्वमीमांसा) का अध्ययन किया और शेष कृष्णोपनामक वीरेश्वर पंडित से पतंजलि की निर्मल उक्तियाँ (महाभाष्य) प्राप्त कीं; इस तरह जो सब विद्याओं के निधान थे, जिनकी लीला से पाषाण (मेरे जैसे जड़) से भी अमृत (सरस कविता) झर रहा है, उन लक्ष्मी-(मेरी माता) पति अथवा विष्णुरूप पेरुभट्ट नामक पूज्य पितृदेव को मैं अभिवादन करता हूँ।

प्रबंध-प्रशंसा

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अति-कलेस तें मनन-जलधि के उदर-माँझ दै गोत घनी ।
मैं जग में कीन्हीं प्रकटित यह "रसगंगाधर" ललित-मनी ॥
सो हरि अंधकार अंतर को हिय शोभित ह्वै गुनि-गन के ।
सकल अलंकारन के, करि दै गलित, गरब उत्तमन के ॥

मैंने मननरूपी जलधि के उदर के अंदर न कि बाहर ही बाहर, बड़े क्लेशों के साथ—न कि मनमौजीपन से, गोता

लगाकर—अर्थात् पूर्णतया सोच समझकर, यह "रसगंगाधर" रूपी सुंदर मणि निकाली है। सो यह (रसगंगाधर मणि) (साहित्य शास्त्र विषयक) भीतरी अंधकार को हरण करती हुई और गुणवानों के हृदय पर आरूढ़ होती हुई सभी अलंकारों (अलंकार शास्त्रों + आभूषणों) को, (इसके प्रभाव के कारण) अपने आप ही दूर हो गया है गर्व जिनका ऐसे बना दे। अर्थात् इसमें अन्य सब अलंकार शास्त्रों से उत्कृष्ट होने की योग्यता है।

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये
तथापि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता।
तिमीन्द्राः संक्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः॥

करें परिष्कृत गहरे, अर्थनि, सहृदयतम बुधजन केते।
किन्तु कलेस न मम यह कैसेहु होय व्यर्थ यों करिवे ते॥
करत छुभित जलनिधि कों सब दिन मगर मच्छ भारी भारी।
पै ये मन्दर गिरि के श्रम के ह्वै न सकें निष्फलकारी॥

सहृदय पुरुषों के अग्रणी कुछ विद्वान् लोग अर्थों का परिष्कार करते रहें, उन्हें गंभीर विचारों से भूषित करते रहें, पर ऐसा करने से मेरा यह क्लेश—यह अत्यधिक श्रम, किसी प्रकार भी, गतार्थ नहीं हो सकता। भले ही बड़े बड़े मगर-मच्छ समुद्र को अच्छी तरह क्षुब्ध करते रहें; पर क्या इससे,

अलौकिक रत्नों का उत्पादन करनेवाला, मंदराचल का परिश्रम व्यर्थ हो सकता है ? अर्थात् इन पंडितों का परिष्कार करना शास्त्र को निरा क्षुब्ध करना है; पर मैंने उसे मथकर, उसमें से, यह मणि निकाली है; अतः उनका परिश्रम निष्फल है और मेरा सफल ।

अन्य निबंधों से विशेषता

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः ॥

❀ ❀ ❀ ❀

धरी बनाइ नवीन उदाहरनन की कविता ।
परकी कछु हु छुई न, इहां मैं, पाइ सुकवि-ता ॥
मृग कस्तूरी-जननशक्ति राखत जो निज तन ।
कहा करत वह सुमन-गन्ध-सेवन हित सुजतन ॥

मैंने, इस ग्रंथ में, उदाहरणों के अनुरूप—जिस उदाहरण में जैसा चाहिए वैसा—काव्य बनाकर रक्खा है, दूसरे से कुछ भी नहीं लिया, क्योंकि कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति रखनेवाला मृग क्या पुष्पों की सुगंध की तरफ मन भी लाता है ? अपनी सुगंध से मस्त उसे क्या परवा है कि वह पुष्पों के गंध की याद करे ।

निर्माता और निबंध का परिचय

मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः ।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ॥

❀ ❀ ❀ ❀

मनन-तरी तरि विद्या-जलनिधि जगन्नाथ पण्डित-नरनाथ ।
"रसगङ्गाधर" नामक काव्यालोचन करत कुतूहल-साथ ॥

जिसने मनन-रूपी नौका से विद्यारूपी समुद्र को पार कर लिया है, वह पंडितराज जगन्नाथ, कुतूहल के साथ काव्यों की वह आलोचना कर रहा है, जिसका नाम है "रसगंगाधर"।

शुभाशंसा

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरञ्जयतु ।
किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसभ्यान्वि रञ्जयतु ॥

❀ ❀ ❀ ❀

रसगङ्गाधर नाम यह ग्रंथ सरबदा जय लहहु ।
सहज सुभग कविराज-कुल याहि पाइ प्रमुदित रहहु ॥

यह "रसगंगाधर" नामक ग्रंथ बहुत समय के—सदा के लिये विजय प्राप्त करे और स्वभाव से ही उत्तम—जिनको उत्तम बनाने के लिये यत्न की आवश्यकता नहीं, उन कविवरों के समाजों को सुखी करता रहे ।

ग्रंथारंभ

काव्य का लक्षण

जिस काव्य के, यश, परम-आनंद, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता आदि अनेक फल हैं, उस काव्य की व्युत्पत्ति दो व्यक्तियों के लिये आवश्यक है। उनमें से एक है कवि—अर्थात् काव्य बनानेवाला और दूसरा है, उससे आनंद प्राप्त करनेवाला—उसके मर्मों को समझनेवाला, सहृदय। सच पूछिए तो, काव्य से आनंद उठाने के लिये, सहृदयता ही मुख्य साधन है। कवि भी यदि सहृदय हुआ (यद्यपि अच्छे कवियों की सहृदयता अनिवार्य है), तो उसे कविता-गत आनंद की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस कारण, गुण, अलंकार आदि से जिसका निरूपण किया जाता है, वह काव्य क्या वस्तु है—किसे काव्य कहना चाहिए और किसे नहीं—इस बात को, पूर्वोक्त दोनों व्यक्तियों को, समझाने के लिये पहले उसका लक्षण निरूपण करते हैं।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करनेवाले—अर्थात् जिससे रमणीय अर्थ का बोध हो, उस शब्द को काव्य कहते हैं।

रमणीय अर्थ वह है, जिसके ज्ञान से—जिसके बार बार अनुसंधान करने से—अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो। यद्यपि

हमसे कोई आकर कहे कि "आप के लड़का पैदा हुआ है" "आपको इतने रुपए दिए जायँगे" (अथवा यों समझिए कि "आपको लाटरी में इतने रुपए प्राप्त हुए हैं") तो उन वाक्यों के ज्ञान से—उनके बार बार अनुसंधान से—भी हमें आनंद प्राप्त होता है; पर वह आनंद अलौकिक नहीं, लौकिक है; इस कारण, उन वाक्यों को हम काव्य नहीं कह सकते। (तब नव्य-नैयायिकों की रीति से जो बाल की खाल खींची गई है, उसे छोड़कर, यदि इस लक्षण का सार समझें तो यह हुआ कि) "जिस शब्द अथवा जिन शब्दों के अर्थ के बार बार अनुसंधान करने से किसी अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो, उसका अथवा उनका नाम काव्य है"।

यह तो है पंडितराज का काव्य-लक्षण। अब साहित्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों के साथ उनकी जो दलीलें हैं, उन्हें भी सुनिए। काव्य-प्रकाशकार आदि साहित्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने लिखा है कि "दोष-रहित, गुण एवं अलंकार सहित शब्द और अर्थ का नाम काव्य है"। अब इस विषय में सबसे पहले तो यह विचार करना है कि—काव्य शब्द का प्रयोग केवल शब्द के लिये किया जाता है अथवा शब्द और अर्थ दोनों के लिये। अच्छा, इस विषय में पंडित-राज के विचारों को ध्यान में लीजिए। वे कहते हैं—

"शब्द और अर्थ" दोनों काव्य नहीं कहे जा सकते; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। प्रत्युत यदि विचारकर देखें तो

"काव्य जोर से पढ़ा जा रहा है" "काव्य से अर्थ समझा जाता है" "काव्य सुना, पर अर्थ समझ में न आया" इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से एक प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं। आप कहेंगे कि ऐसे व्यवहार के लिये, जिसमें कि काव्य शब्द का प्रयोग "केवल शब्द" के विषय में किया गया हो, लक्षणा वृत्ति से काम चला लो। हम कहते हैं—हाँ, ऐसा हो सकता है; पर तब, जब कि आप किसी दृढ़ प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्य शब्द का मुख्य प्रयोग "शब्द और अर्थ" दोनों के लिये ही होता है। वही तो हमें दिखाई नहीं देता। आप कहेंगे—शब्द प्रमाण से यह बात सिद्ध है; क्योंकि काव्यप्रकाशकारादिकों ने इस बात को लिखा है। हाँ, ठीक; पर महाराज, जिस पर अभियोग चलाया जाय उसी के कथन के अनुसार निर्णय नहीं किया जा सकता। उन्हीं से तो हमारा मत-भेद है; अतः उनका कथन प्रमाण रूप में उपस्थित करना उचित नहीं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि शब्द और अर्थ दोनों का नाम काव्य है, इस बात में कोई प्रमाण नहीं; तब हमारे उपस्थित किए हुए पूर्वोक्त व्यवहार के अनुसार "एक प्रकार के शब्द का नाम ही काव्य है" इस बात को कौन मना कर सकता है। इसी से, "शब्दमात्र के काव्य मानने में कोई साधक युक्ति नहीं है, इस कारण दोनों को काव्य मानना चाहिए" इस दलील का भी जवाब हो जाता है; क्योंकि उसमें लौकिक व्यवहार को हम प्रमाण रूप में उपस्थित कर चुके हैं।

सो इस तरह एक प्रकार के शब्द का नाम ही काव्य सिद्ध हुआ, अतः उसी का लक्षण बनाने की आवश्यकता है, न कि अपनी तरफ से कल्पित किए हुए शब्द और अर्थ के लक्षण बनाने की। यही बात वेद, पुराण आदि के लक्षणों में भी समझनी चाहिए, अर्थात् उनको भी शब्दरूप समझकर ही उनका लक्षण बनाना चाहिए; नहीं तो यही दुर्दशा उनमें भी होगी।

कुछ लोग एक और दलील पेश करते हैं। वे कहते हैं कि—काव्य शब्द का प्रयोग उसके लिये होना चाहिए, जिससे रस का उद्बोध होता हो—जिससे हमारे अंतरात्मा में एक प्रकार का आनंदास्वाद जग उठे। यह बात शब्द और अर्थ दोनों में समान है, इस कारण दोनों को काव्य कहना युक्ति-संगत है। पंडितराज कहते हैं—यह आपकी दलील ठीक नहीं। यदि आनंदास्वाद को जगा देनेवाली वस्तु का नाम ही काव्य हो, तो आप राग को भी काव्य कहिए; क्योंकि ध्वनिकार प्रभृति सभी साहित्य-मर्मज्ञों ने राग को रसव्यंजक (आनंदास्वाद का जगानेवाला) माना है। बहुत कहने की आवश्यकता नहीं, यदि आप रसव्यंजक को ही काव्य मानने लगें तो जितने नाट्य के अंग हैं—नृत्य-वाद्य आदि, सबको आप काव्य मान लीजिए। ऐसी दशा में आपको यह झगड़ा हटाना कठिन हो जायगा। इस कारण, जो रसोद्बोधन में समर्थ हो—जिससे आनंदास्वाद जग उठे—उसे ही काव्य मानना चाहिए, यह दलील पोच सिद्ध हुई।

इस विषय में हम आपसे एक बात और पूछते हैं—शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं, अथवा प्रत्येक पृथक् पृथक् ? यदि आप कहेंगे कि दोनों सम्मिलित रूप में काव्य के नाम से व्यवहृत किए जाते हैं, तब तो जिस तरह एक और एक मिलकर (अर्थात् दो एकों का योगफल) दो होता है—दो सम्मिलित एकों का नाम ही दो है; दो के अवयव प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, उसी प्रकार श्लोक के वाक्य को आप काव्य नहीं कह सकते; क्योंकि वह उसका एक अवयव केवल शब्द है। सो इस तरह पूर्वोक्त व्यवहार सर्वथा उच्छिन्न हो जायगा। अब यदि आप कहेंगे कि प्रत्येक को पृथक् पृथक् काव्य शब्द से व्यवहार करना चाहिए, तो "एक पद्य में दो काव्य रहते हैं" यह व्यवहार होने लगेगा। सो है नहीं।

इस कारण, वेद, शास्त्र और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का लक्षण भी शब्द का ही होना चाहिए। अर्थात् शब्द को ही काव्य मानना चाहिए, शब्द-अर्थ दोनों को नहीं *

* इन दलीलों का खंडन नागेश भट्ट ने, इसकी टीका में, बहुत थोड़े में, बहुत अच्छे ढंग से किया है। अच्छा, आप वह भी सुन लीजिए—

नागेश कहते हैं—जिस तरह "काव्य सुना" इत्यादि व्यवहार है, उसी प्रकार "काव्य समझा" यह भी व्यवहार है, और समझना अर्थ का होता है, शब्द का नहीं; अतः काव्य शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों के सम्मिलित रूप के लिये ही होता है, यह मानना चाहिए। वेदादिक भी केवल शब्द का नाम नहीं है, किंतु शब्द-अर्थ दोनों के

यह तो हुआ "शब्द" को काव्य मानना चाहिए, अथवा "शब्द-अर्थ" दोनों को, इस बात का विचार। अब दूसरी बात लीजिए। प्राचीन आचार्यों ने, काव्य के लक्षण में, शब्द और अर्थ के साथ एक विशेषण लगाया है "गुण एवम् अलंकार सहित"। सो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि "**उदितं मण्डलं विधोः**" इस संस्कृत वाक्य अथवा "**चन्द्र उग्यो नभ मांहि**" इस हिंदी वाक्य को, कोई नायक के संकेत स्थान पर जाने के लिये इस अभिप्राय से कहे—प्रकाश हो गया, अब कहीं काँटा खीला लगने का डर नहीं; अथवा कोई अभिसारिका दूती से, यह समझकर कि—अब प्रकाश हो गया, कोई देख लेगा, निषेध करने के लिए कहे; यद्वा कोई विरहिणी अपने सुहृद्वर्ग को यह सुझाने के लिये कहे कि अब मैं न जी सकूँगी; तो भी आपके हिसाब से वह काव्य न होगा; क्योंकि न उसमें कोई गुण है, न अलंकार।

सम्मिलित रूप का ही नाम है, अतएव जो महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि ने 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या करते हुए "शब्द-अर्थ" दोनों को वेदादि रूप माना है, वह संगत हो सकता है। रही आपकी दूसरी दलील—जिस तरह हम एक को दो नहीं कह सकते, उसी तरह दोनों का नाम यदि काव्य हो, तो प्रत्येक के लिये उस शब्द का व्यवहार नहीं हो सकता। सो कुछ नहीं है। ऐसे स्थल पर हम रूढ़ लक्षणा से काम चला सकते हैं—उसके द्वारा प्रत्येक के लिये भी काव्य शब्द का प्रयोग हो सकता है। इस कारण "शब्द-अर्थ" दोनों को काव्य-शब्द से व्यवहृत करने में कोई दोष नहीं।

पर आप यह नहीं कह सकते कि वह काव्य नहीं है; क्योंकि यदि उसे आप काव्य न मानें तो जिसे आप काव्य कह रहे हैं, उसे भी काव्य मानने के लिये कोई उपाय न होगा। कारण यह है कि जिस "चमत्कारीपन" को काव्य का जीवन माना जाता है, वह इन दोनों में समान ही है। दूसरे, गुणत्व और अलंकारत्व का अनुगम नहीं है—अर्थात् आज दिन तक यह सिद्ध न हो सका कि गुणत्व और अलंकारत्व जिनमें रहते हैं, वे गुण और अलंकार अमुक अमुक ही हैं। उनकी संख्या अभी तक नियत ही न हो सकी; जिस आलंकारिक को जब जैसा विचार हुआ, उसने, उसके अनुसार, उन्हें घटा दिया अथवा बढ़ा दिया। अतः गुणों और अलंकारों का लक्षण में समावेश करना उचित नहीं; क्योंकि जो स्वयं ही निश्चित नहीं हैं, उनके द्वारा लक्षण क्या निश्चित हो सकेगा!

पर यदि आप कहें कि काव्य अथवा रस के धर्मों का नाम गुण है और काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले अथवा काव्य के धर्मों का नाम अलंकार है, इस तरह गुणत्व और अलंकारत्व का अनुगम हो जाता है—अर्थात् जिनमें ये लक्षण दिखाई दें, उन्हें गुण और अलंकार समझ लीजिए, उनकी संख्या नियत न हो सकी तो क्या हुआ। तथापि हम कहेंगे कि लक्षण में 'दोष रहित' कहना तो अयोग्य ही है; क्योंकि लोक में "अमुक काव्य दोषयुक्त है" यह व्यवहार देखने में आता है। अर्थात् काव्य-पद का दोष रहित के लिये ही नहीं; दोष सहित के लिये

भी प्रयोग किया जाता है। यदि आप कहें कि वहाँ आप लक्षणा से काम चला लीजिए—समझ लीजिए कि काव्य—जैसा पदग्रथन उस (दोषयुक्त) में भी है, इस कारण गौणी लक्षणा के द्वारा उसे भी काव्य समझ लेना चाहिए; तो यह भी अनुचित है; क्योंकि जब तक कोई मुख्यार्थ का बाधक कारण उपस्थित न हो, तब तक लाक्षणिक कहना ही नहीं बन सकता। लक्षणा तभी होती है, जब कि मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ से संबंध और रूढ़ि अथवा प्रयोजन ये तीनों निमित्त हों।*

हाँ, एक दूसरी युक्ति और है। आप कह सकते हैं कि जैसे एक पेड़ की जड़ पर पक्षी बैठा है, पर डाली पर नहीं; तब उस पेड़ में एक स्थान पर (जड़ में) पक्षी का संयोग है और दूसरे स्थान पर (शाखा में) संयोग का अभाव। तथापि सर्वत्र संयोग रहित होने पर भी, एक स्थान पर संयोग होने के कारण, उस वृक्ष को संयोगी कह सकते हैं। ठीक इसी तरह अन्य सब स्थानों पर दोष रहित होने के कारण वह काव्य कहला सकता है और एक स्थान पर दोष युक्त होने के कारण दोषी भी। सो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे जड़ पर पक्षी को बैठा देखकर, सब मनुष्यों को, यह प्रतीति होती है—कि इस वृक्ष की जड़ में पक्षी का संयोग है; पर शाखा में नहीं,

---

* लक्षणा का विशेष विवरण द्वितीय भाग में होगा, अतः हमने यहां विशेष प्रपंच नहीं किया है।

उस तरह किसी को भी इस बात का ठीक ठीक अनुभव नहीं होता कि यह पद्य पूर्वार्ध में काव्य है और उत्तरार्ध में नहीं। अतः यह दृष्टांत यहाँ नहीं लग सकता। दृष्टांत के द्वारा अनुभव का अपलाप असंभव है—जो बात हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, वह दृष्टांत से नहीं हटाई जा सकती।

एक और भी बात है कि जिसके कारण गुण एवं अलंकार काव्य लक्षण में प्रविष्ट नहीं किए जा सकते। वह यह है कि जिस तरह शूर-वीरता आदि आत्मा के धर्म हैं, वैसे ही गुण भी काव्य के आत्मा रस के धर्म हैं; और जिस तरह हारादिक शरीर को शोभित करनेवाली वस्तुएँ हैं, उसी तरह अलंकार भी काव्य को अलंकृत करनेवाले हैं। अतः जिस तरह वीरता अथवा हारादिक शरीर के निर्माण में उपयोगी नहीं हैं, इसी तरह ये भी काव्य के शरीर को सिद्ध करने—उसके स्वरूप का लक्षण बनाने—में उपयुक्त नहीं हो सकते।

यह तो हुई प्राचीनों की बात। अब नवीनों में से "साहित्य-दर्पणकार" बहुत प्रसिद्ध हैं। अच्छा, 'आइए, उनके "काव्यलक्षण" की भी परीक्षा कर डालें। उन्होंने "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह लक्षण बनाकर सिद्ध किया है कि "जिसमें रस हो वही काव्य है"। पर यह बन नहीं सकता; क्योंकि यदि ऐसा मानें तो जिन काव्यों में वस्तु-वर्णन अथवा अलंकार-वर्णन ही प्रधान हैं, वे सब काव्य काव्य ही न रहेंगे। आप कहेंगे कि हमको यह स्वीकार है—हम उनको काव्य

मानना ही नहीं चाहते। सो यह उचित नहीं; क्योंकि महा-कवियों का जितना संप्रदाय है, उनकी जो प्राचीन परिपाटी चली आई है, वह बिलकुल गड़बड़ा जायगी। उन्होंने स्थान-स्थान पर जल के प्रवाह, वेग, गिरने, उछलने और भ्रमण, एवं बंदरों और बालकों की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। क्या वे सब काव्य नहीं हैं? आप कहेंगे कि उन वर्णनों में भी किसी न किसी तरह रस का स्पर्श है ही; क्योंकि ऐसे वर्णन भी उद्दीपन आदि कर सकने के कारण रस से संबंध रख सकते हैं। पर यदि यों मानने लगो तो "बैल चलता है" "हरिण दौड़ता है" आदि वाक्य भी काव्य होने लगें; क्योंकि जगत् की जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव कुछ न कुछ हो सकती हैं। इस कारण प्राचीनों एवं नवीनों के—दोनों के—"काव्य लक्षण" ठीक नहीं हैं।*

---

* यहाँ हमें कुछ लिखना है। यद्यपि पंडितराज ने "काव्य लक्षण" के विषय में इतना सूक्ष्म विचार किया, तथापि वे इसके बनाने में सफल न हुए। इसका कारण हम पहले नागेशभट्ट की आलोचना, टिप्पणी में, देकर समझा चुके हैं। उसका सारांश यह है कि केवल शब्द को काव्य मानना ठीक नहीं, "शब्द और अर्थ" दोनों को काव्य मानना चाहिए। परंतु प्राचीन आचार्यों के लक्षण में भी "दोषरहित" कहना तो खंडित है; और यदि "गुण एवं अलंकार सहित शब्द और अर्थ" को काव्य मानें, तथापि वह उत्कृष्ट काव्य का लक्षण हो सकता है, साधारण काव्य का नहीं; क्योंकि सभी काव्यों में गुण और अलंकार नहीं रहते। इस कारण मेरे विचारानुसार "ऐसे शब्दों और अर्थों को

काव्य का कारण

अच्छा, अब यह भी सोचिए कि काव्य का कारण—जिसके होने पर ही काव्य बन सकता है, अन्यथा नहीं—क्या वस्तु है? इस विषय में भी पंडितराज का प्राचीनों से मतभेद है; आप उनके इस विषय के विचार भी सुनिए। वे कहते हैं—

काव्य का कारण केवल प्रतिभा है, और प्रतिभा शब्द का अर्थ है—काव्य बनाने के लिये जो शब्द एवं अर्थ अनुकूल हों, जिनसे काव्य बन जाय, उनकी उपस्थिति; अर्थात् काव्य बनाने के लिये जहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ उसका तत्काल उपस्थित हो जाना; ऐसा नहीं कि कविजी काव्य बनाने के लिये अकुला रहे हैं; परंतु न तो उसमें जोड़ने के लिये कोई सुंदर पद ही मिलते हैं और न कोई ऐसी बात ही याद आती है कि जिससे उनका कार्य सिद्ध हो

काव्य मानना चाहिए, जिनके सुनने एवं समझने से अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो"। तभी दृश्य काव्य कहना भी सार्थक हो सकता है; क्योंकि देखने में अर्थ आ सकते हैं, शब्द नहीं। यही बात अर्थालंकार आदि के विषय में भी समझो। यद्यपि नाटक के पात्रादिकों का बनानेवाला कवि नहीं है, तथापि उस सब सामग्री को उस रूप में उपस्थित करनेवाला उसे मानने में कोई संदेह नहीं। इस कारण उस अर्थ का निर्माता भी वह हो सकता है। "केवल शब्द" को ही काव्य मानने के कारण "साहित्यदर्पणकार" का भी लक्षण हमें सम्मत नहीं; वे "रसात्मक वाक्य" को काव्य कहते हैं, और वाक्य भी शब्द का ही नाम है।

—अनुवादक

जाय। उस प्रतिभा के दो कारण हैं—एक तो, किसी देवता अथवा किसी महापुरुष की प्रसन्नता होने के कारण, किसी ऐसे भाग्य का उत्पन्न हो जाना कि जिससे काव्यधारा अविरत चलती रहे; और दूसरा—विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य बनाने के अभ्यास का होना। किंतु ये तीनों सम्मिलित रूप में कारण नहीं हैं; क्योंकि कई बालकों तथा अबोधों को भी केवल महापुरुष की कृपा से ही प्रतिभा उत्पन्न हो गई है (जैसे कि कवि कर्णपूर के विषय में किंवदंती है)। आप कहेंगे कि वहाँ हम उस कवि के, पूर्वजन्म के, विलक्षण (जैसे दूसरों में नहीं होते) व्युत्पत्ति और काव्य करने का अभ्यास मान लेंगे। अर्थात् उसने पूर्वजन्म में इन बातों को सिद्ध कर लिया है, अब किसी महापुरुष की कृपा होते ही वे शक्तियाँ जग उठीं। पर यों मानने में तीन दोष हैं—

१—गौरव अर्थात् जब उन दोनों के कारण न मानने पर भी केवल अदृष्ट (भाग्य) से काम चल सकता है, तो क्यों उन दोनों को उसके साथ लगाकर कारणों की संख्या बढ़ाई जाय।

२—मानाभाव अर्थात् इसमें कोई प्रमाण नहीं कि, ऐसे स्थान पर भी, इन तीनों को सम्मिलित रूप में ही प्रतिभा का कारण मानना चाहिए।

३—कार्य का बिना तीनों के कारण मानने पर भी सिद्ध हो जाना।

जब कि वेदादिक किसी प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध किया गया हो कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु का कारण है; पर हम संसार में कुछ स्थानों पर ऐसा देखते हों—उस वस्तु (कारण) के रहते हुए भी वह वस्तु (कार्य) उत्पन्न न हो, अथवा उसके न रहने पर भी वह उत्पन्न हो जाय, तब हमको, विवश होकर (क्योंकि वेदादिक झूठे तो हो नहीं सकते), यह मानना पड़ता है—इसका कारण, उस व्यक्ति का—जिसको कारण के बिना भी कार्य की प्राप्ति हो रही है अथवा कारण के होने पर भी कार्य की प्राप्ति नहीं हो रही है—पूर्व-जन्म में किए हुए, धर्म-अधर्म आदि हैं। पर यदि वेदादिक प्रबल प्रमाण के द्वारा कारण न बताए जाने पर, हमारे निश्चित किए हुए कारणों में भी, हम किसी वस्तु को किसी वस्तु का कारण बताकर जहाँ गड़बड़ आने लगे, कह दें कि—इस बात को उसने पूर्वजन्म में कर लिया है, अतः ऐसा हो गया, तो भ्रम होने लगे—लोग किसी को भी किसी वस्तु का कारण बताने लगें; अतः पूर्वोक्त स्थल में पूर्व जन्म के व्युत्पत्ति और अभ्यास को कारण मानना उचित नहीं; क्योंकि व्युत्पत्ति और अभ्यास के बिना कविता हो ही न सके यह बात कुछ वेद में थोड़े ही लिखी हुई है कि जिसके लिये यह पंचायत करनी पड़े।

अब यदि आप कहें कि हम इस गड़बड़ में पड़ना नहीं चाहते; हम तो केवल अदृष्ट को ही कारण मान लेंगे। सो भी ठीक नहीं; क्योंकि बहुतेरे मनुष्य ऐसे देखने में आते हैं कि

वे बहुत समय तक काव्य करना जानते ही नहीं, पर कुछ दिनों के अनंतर जब उनको किसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास हो जाता है, तब उनके प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है—वे काव्य बनाने लगते हैं। यदि वहाँ भी अदृष्ट को कारण मानने लगो तो व्युत्पत्ति और अभ्यास के पहले ही उनमें प्रतिभा क्यों न उत्पन्न हो गई? आप कहेंगे—थोड़े दिन के लिये उनका कोई बुरा अदृष्ट मान लीजिए, जिसने प्रतिभा की उत्पत्ति को रोक दिया; तो हम कहेंगे कि प्रायः व्युत्पत्ति और अभ्यास होने पर ही कविता बनानेवाले अधिक देखने में आते हैं, इस कारण अनेक स्थानों पर दो दो (अच्छे और बुरे) अदृष्ट मानने की अपेक्षा, कविता के रोक देनेवाले अदृष्ट के नाश करने के लिये, आपको, जिन व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी पड़ती है—जिनके उत्पन्न होने से प्रतिबंधक अदृष्ट नष्ट हो जाता है, उन्हीं को कारण मान लेना उचित है। इस कारण हम जो पहले बता आए हैं कि इन तीनों को (अर्थात् अदृष्ट को पृथक् और व्युत्पत्ति-अभ्यास को पृथक्) कारण मानना ही सीधा रास्ता है।

अब एक और शंका होती है—यदि अदृष्ट से भी प्रतिभा उत्पन्न होती है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से भी; और काव्य दोनों से बन सकता है, तो दो भिन्न भिन्न कारणों से एक ही प्रकार का काम (प्रतिभा) उत्पन्न होने के कारण दोनों के कामों में गोटाला हो जायगा। और यह उचित नहीं;

क्योंकि प्रकृति का नियम है कि भिन्न भिन्न कारणों से कार्य भी भिन्न भिन्न ही उत्पन्न हों। इसका उत्तर यह है—यद्यपि प्रतिभा दोनों का नाम है, तथापि अदृष्ट से उत्पन्न होनेवाली प्रतिभा दूसरी है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उत्पन्न होनेवाली दूसरी; अतः अदृष्ट और व्युत्पत्ति—अभ्यास के कामों में गोटाला नहीं हो सकता। (इस बात को हम उदाहरण देकर स्पष्ट कर देते हैं—जैसे गन्ने से भी शक्कर बनती है और चुकंदर से भी, और लड्डू दोनों से बन सकते हैं; पर दोनों शक्कर भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त दो भिन्न भिन्न कारणों से उत्पन्न होनेवाली दोनों प्रतिभाएँ भिन्न भिन्न हैं और उन दोनों से काव्य बन सकता है।) बस, काव्य बनने के लिये किसी प्रकार की प्रतिभा होने की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि दोनों प्रकार की प्रतिभाओं से एक ही प्रकार का काव्य बनता है, काव्य में कोई भेद नहीं होता। दूसरा पक्ष यह है—दोनों प्रतिभाओं से काव्य भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं—अर्थात् अदृष्ट से जो प्रतिभा उत्पन्न होती है, उससे बना काव्य दूसरे प्रकार का होता है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उत्पन्न हुई प्रतिभा से बना दूसरे प्रकार का। अतः उन दोनों कारणों के कार्यों का कहीं भी मिलान नहीं होता, वे दोनों ठेठ तक भिन्न ही भिन्न रहती हैं।

इसके अनंतर एक बात और रह जाती है। वह यह कि—जिन मनुष्यों में व्युत्पत्ति और अभ्यास दोनों होते हैं, उनमें भी

प्रतिभा क्यों नहीं उत्पन्न होती ? इसके विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि वे व्युत्पत्ति और अभ्यास विलक्षण (विशेष प्रकार के) होते हैं। उन लोगों में वे वैसे नहीं होते; अतः उनसे काव्य नहीं बनाया जा सकता। अथवा, किसी विशेष प्रकार के पाप को उनकी प्रतिभा का प्रतिबंधक मान लेना चाहिए। आप कहेंगे कि आपको यह झगड़ा नया उठाना पड़ा, तो हम कहते हैं—यह नया नहीं है, यह तो तीनों को इकट्ठे कारण माननेवाले और केवल प्रतिभा अथवा शक्ति को कारण माननेवाले—दोनों के लिये समान ही आवश्यक है; क्योंकि प्रतिवादी जब मंत्रादिकों से, कुछ दिनों के लिये किसी अनेक काव्य बनानेवाले कवि की भी वाणी को रोक देता है, तो उससे काव्य नहीं बनाया जाता; यह देखा गया है।*

* यहाँ महामहोपाध्याय श्रीगंगाधर शास्त्रीजी की टिप्पणी है, जिसका सारांश यह है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—तीनों को सम्मिलित रूप में ही विशिष्ट काव्य का कारण मानना उचित है। विशिष्ट काव्य का अर्थ है अलौकिक वर्णन की निपुणता से युक्त कवि का कार्य। अब देखिए, शक्ति दो प्रकार की होती है—एक काव्य को उत्पन्न करनेवाली और दूसरी (कवि को) व्युत्पन्न करनेवाली। उनमें से दूसरी—व्युत्पादिका-शक्ति का नाम ही निपुणता है। और अभ्यास से काव्य में अलौकिकता आती है। पहली शक्ति से पद जोड़ देने पर भी दूसरी शक्ति के न होने पर विलक्षण वाक्यार्थ का ज्ञान न होने के कारण कवि में अलौकिक वर्णन की निपुणता न हो सकेगी। अतः यही उचित है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को—सम्मिलित रूप—काव्य का कारण माना जाय।

काव्यों के भेद

जिस काव्य के विषय में इतना विवेचन किया गया है, वह काव्य चार प्रकार का होता है। १—उत्तमोत्तम, २—उत्तम, ३—मध्यम और ४—अधम।

इस पर हमें कुछ लिखना है। सुनिए प्राचीन और नवीन सभी आचार्यों के मत से काव्य उसी का नाम है, जो चमत्कारी हो; केवल तुकबंदी-मात्र को किसी ने भी काव्य नहीं माना। अर्थात् जिसे आप विशिष्ट काव्य कहते हैं, उसी का नाम तो काव्य है। तब यह सिद्ध होता है—जिसे आप उत्पादिका शक्ति मानते हैं, वह काव्य की उत्पादिका तभी हो सकती है, जब कि उसमें पूर्वोक्त कवि कर्म को उत्पन्न करने की योग्यता हो, न कि केवल तुकबंदी करवा देने की। अतएव काव्यप्रकाशकार का "शक्तिर्निपुणता..." इस श्लोक की व्याख्या करते हुए, शक्ति के विषय में यह लिखना संगत होता है कि "शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात्।" (अर्थात् शक्ति एक प्रकार का संस्कार है, जो कि कविता का बीजरूप है, जिसके बिना काव्य फैल नहीं सकता, अथवा यों कहिए कि फैलने पर भी उपहसनीय होता है। अन्यथा बिना शक्ति के बनाए हुए काव्य को उपहसनीय लिखना कुछ भी तात्पर्य न रख सकेगा; क्योंकि बिना शक्ति के काव्य उत्पन्न ही नहीं होता, तब उपहास किसका होगा ? अतः यह मानना चाहिए कि काव्यप्रकाशकार के हिसाब से अनुपहसनीय अथवा आपके हिसाब से विशिष्ट काव्य के उत्पन्न करनेवाली शक्ति का नाम ही, शक्ति है और उसे ही कहते हैं प्रतिभा। अतएव जब किसी की रचना चमत्कारी नहीं होती तो हम कहते हैं कि कवि में प्रतिभा नहीं है। साधारण पदयोजना की शक्ति को प्रतिभा

उत्तमोत्तम काव्य

"उत्तमोत्तम" काव्य उसे कहते हैं, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी चमत्कार-जनक अर्थ को अभिव्यक्त करें—व्यंजनावृत्ति से समझावें।

इस लक्षण में "किसी चमत्कार-जनक अर्थ को व्यक्त करें" इस कथन से यह सिद्ध हुआ—जिसमें व्यंग्य अत्यंत गूढ़ हो अथवा अत्यंत स्पष्ट हो, वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे व्यंग्यों की चमत्कारजनकता नष्ट हो जाती है। यही बात जिसमें व्यंग्य सुंदर न हो, उसके विषय में भी समझो। अपरांग (अर्थात् किसी दूसरे अर्थ का अंग) और वाच्यसिद्ध्यंग (अर्थात् जिसके बिना वाच्य अर्थ सिद्ध ही न हो) व्यंग्य भी चमत्कारी होते हैं; अतः इस लक्षण से उनका भी ग्रहण न हो जाय, इस कारण, लक्षण में "अपने को गौण बनाकर" कहा गया है; जिसका यह अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ (वाच्य) दोनों से व्यंग्य की प्रधानता होनी चाहिए, सो उन दोनों में नहीं होती; अतः वे भी उत्तमोत्तम काव्य नहीं हो सकते।

के रूप में परिणत करना व्युत्पत्ति और अभ्यास का काम है। अतः उनको प्रतिभा का कारण मानना ही युक्तिसंगत है, सहकारी मानना नहीं। सो तीनों को सम्मिलित रूप में कारण मानने की अपेक्षा अंतिम दोनों को प्रतिभा का कारण मानना और केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानना, जैसा कि पंडितराज का मत है, उचित जँचता है।

उदाहरण—

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्त्तुमहो मनोरथान्।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥

❀ ❀ ❀ ❀

सोई सविध, सकी न करि सफल मनोरथ मञ्जु।
निरखति कछु मींचे नयन प्यारी पिय-मुखकञ्जु ॥

प्रियतमा अपने प्रियतम के समीप सोई है; पर आश्चर्य है कि वह अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है—उसकी शक्ति नहीं है कि वह अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण कर सके; अतः नेत्रों को कुछ कुछ मुकुलित करती हुई प्रियतम के मुख-कमल को देख रही है।

इस श्लोक में नायिका की रति के आलंबन नायक के, पति-पत्नी के समीप सोने के कारण प्राप्त हुए एकांत-स्थान आदि उद्दीपन के, कुछ कुछ मुकुलित नेत्रों से देखने रूपी अनुभाव के, और देखने के कुछ कुछ होने के कारण व्यक्त होनेवाली लज्जा तथा देखने के कारण व्यक्त होनेवाले औत्सुक्य रूप व्यभिचारी भावों के संयोग से रति (स्थायी भाव) की अभिव्यक्ति होती है—अथवा यों कहिए कि पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम प्रतीत होता है। आलंबन आदि पदार्थों का स्वरूप (अर्थात् वे क्या वस्तु हैं, यह) आगे वर्णन किया जायगा।

अब यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है—इस पद्य में "रति की अभिव्यक्ति होती है" यह न मानकर 'यदि यह सो गया हो,

तो मैं इसका मुँह चूम लूँ" इस नायिका की इच्छा की ही अभि-व्यक्ति क्यों न मान ली जाय। इसका समाधान यह है—पद्य में लिखा है कि "वह अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है", जिससे यह सिद्ध होता है कि उसके हृदय में सब मनोरथ विद्यमान् हैं, और चुंबन की इच्छा भी एक प्रकार का मनोरथ ही है—मनोरथ शब्द से ही सामान्य रूप से उसका भी वर्णन हो जाता है; इस कारण वह वाच्य है, व्यंग्य नहीं। पर आप कहेंगे कि मनोरथ शब्द से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी "चुंबन करूँ" इस विशेष विषय से युक्त इच्छा के व्यंग्य होने में क्या बाधा है? इसका उत्तर यह है कि—चमत्कार नहीं रहेगा, बस यही बाधक है; क्योंकि जो पदार्थ विशेष रूप से व्यंग्य हो, वह भी यदि सामान्य रूप से वाच्य हो जाय, तो उसकी सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करने की, शक्ति नष्ट हो जाती है। अलंकार शास्त्र के ज्ञाताओं ने उसी व्यंग्य को चमत्कारी स्वीकार किया है, जो किसी तरह भी अभिधावृत्ति का स्पर्श न करे। दूसरे, चुंबन की इच्छा को जब रति का अनुभाव मानें तभी वह सुंदर हो सकती है; अन्यथा जिस प्रकार "चुंबन करता हूँ" यह कहने में कोई चमत्कार प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार उसमें भी कोई चमत्कार न हो सकेगा। अतः वह रति की अपेक्षा गौण ही है, प्रधान नहीं।

इसी तरह इस श्लोक में लज्जा भी (यद्यपि व्यंग्य है, तथापि) मुख्यतया व्यंग्य नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि

"नेत्रों को कुछ कुछ मुकुलित करती हुई" इस नायिका के विशेषण से लज्जा अभिव्यक्त होती है। श्लोक में उस विशेषण का सिद्ध बात के अनुवादरूप में वर्णन किया गया है, विधेयरूप में नहीं—अर्थात् उसका विधान नहीं है। तब उस विशेषण से पूर्णतया संबंध रखनेवाली लज्जा ही इस श्लोक का प्रधान अर्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। आप कहेंगे कि—नहीं, श्लोक में लिखा है कि "नेत्रों को कुछ कुछ मुकुलित करती हुई······देख रही है", इस कारण यह तो आपको भी मानना पड़ेगा कि श्लोक में इस प्रकार देखने का विधान है, अतः वह अनुवाद्य अर्थ से ही पूर्णतया संबंध रखती है, यह नहीं कहा जा सकता। हम कहते हैं कि ठीक; पर इस तरह भी लज्जा का कार्य आँखों का मींचना हो सकता है, देखना नहीं। श्लोक में आँखों के कुछ कुछ मींचने के साथ ही देखने का वर्णन किया गया है और देखना बिना रति (आंतरिक प्रेम) के हो नहीं सकता। यदि इस श्लोक से लज्जा को ही व्यक्त करना होता, तो "आँखें मुकुलित कर रही है" यही लिख देते; देखने की बात उठाने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रह जाता। अब सोचो कि जिस प्रकार, अभिधावृत्ति के द्वारा, रति के अनुभाव (कार्य) "देखने" की अपेक्षा लज्जा का अनुभाव "आँखों का मींचना" गौण हो रहा है, वह देखने का विशेषण बन रहा है, उसी प्रकार, व्यंजनावृत्ति के द्वारा, लज्जा का भी रति की अपेक्षा गौण होना ही उचित है।

यह तो है रस (संभोग शृंगार) का उदाहरण—अर्थात् इस पद्य के शब्द और अर्थ गौण होकर रति को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार भाव (हर्ष आदि व्यभिचारी भाव) भी अभिव्यक्त होते हैं। अच्छा, इसका भी उदाहरण लीजिए—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत्॥

❀ ❀ ❀ ❀

हनी गुरुन बिच नतमुखी कमल-मुकुल ते झूमि।
कुण्डल कछुक नचाइ, भौं नाइ, निरखि गइ घूमि॥

नायक अपने मित्र से कह रहा है—सास-ननद आदि गुरुजनों के बीच में बैठी हुई अतएव लज्जा के मारे नम्र प्रियतमा को, मैंने, हलके हाथ से, कमल की डोडी से मार दिया। उसने कुंडलों को कुछ नचाकर एवं भौंहें नीची करके मुझे देखा और फिर (दूसरी तरफ) घूम गई—मुँह फेर लिया।

इस पद्य में "घूम गई" इस वाक्य से "ऐ! बिना सोचे समझे कर गुजरनेवाले! तैंने यह अनुचित कार्य क्यों कर डाला" इस अर्थ से युक्त "अमर्ष" भाव प्रधानतया ध्वनित होता है; और उसकी अपेक्षा श्लोक के शब्द और अर्थ गौण हो गए हैं—अर्थात् उनमें वह मजा नहीं है, जो अमर्ष भाव की अभिव्यक्ति में है।

अब एक दूसरे विचार से उत्तमोत्तम काव्य का एक उदाहरण और देते हैं। वह विचार यह है—अब तक जितने

अलंकार शास्त्र के आचार्य हुए हैं, उन सबने रस भाव आदि को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य माना है—अर्थात् इनके प्रतीत होने के पूर्व विभावादिकों की उपस्थिति आवश्यक है और उनकी अभिव्यक्ति के अनंतर ही रस भाव आदि की अभिव्यक्ति होती है; पर बीच के समय के अति सूक्ष्म होने के कारण उनका क्रम (पूर्वापरभाव) हमें लक्षित नहीं होता। यह एक नियत बात है, इससे विरुद्ध कभी नहीं होता। पंडितराज का सिद्धांत है कि रस भाव आदि संलक्ष्यक्रमव्यंग्य भी होते हैं—अर्थात् उनके पूर्व विभाव आदि की पृथक् प्रतीति होकर, उसके अनंतर भी उनकी प्रतीति होती है। उदाहरण लीजिए—

तल्पगताऽपि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति ॥

× × × ×

सेज सुई हू सुतनु जो सांस परसि अकुलाय।
वह अब पिय-कर हिय धर्‌यो हरुए रही उठाय ॥

जो सुकुमारी नववधू, पलँग पर सोई हुई भी, श्वास के लगने मात्र से अङ्गों को सिकोड़ने लगती थी—वही इस समय (पति के परदेश जाने की पहली रात्रि में) हृदय पर धरे हुए शंकायुक्त पति के हाथ को हटा रही है, पीछे अपनी जगह पहुँचा रही है; पर धीरे-धीरे।

यहाँ "धीरे धीरे हटा रही है" इस कथन से रति नामक स्थायी भाव संलक्ष्यक्रम होकर व्यक्त हो रहा है। स्थायिभावादिक भी संलक्ष्यक्रम व्यंग्य होते हैं, यह आगे सिद्ध किया जायगा। काव्य के इसी (उत्तमोत्तम) भेद को "ध्वनिकाव्य" कहा जाता है।

अप्पय दीक्षित के विवेचन का खंडन

यहाँ पर, अप्पय दीक्षित (जो अलंकारशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे) ने "चित्रमीमांसा" नामक ग्रंथ में जो एक ध्वनिकाव्य के उदाहरण का विवेचन किया है, उसका खंडन पंडितराज ने, लिखा है। अच्छा, आप वह भी सुन लीजिए—

वह उदाहरण यों है। किसी नायिका ने एक दूती को अपने नायक के पास भेजा कि वह उसे बुला लावे; पर वह स्वयं ही उससे रमण करके लौटी, और लगी इधर उधर की बातें बनाने। विदग्ध नायिका को यह बात बहुत खटकी; पर वह इस बात को स्पष्ट कैसे कह सकती थी; अतः उसने उससे यों कहा—

निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याऽधमस्याऽन्तिकम्॥

हे झूठ बोलनेवाली दूती! तू अपने बांधव (नायिका) के ऊपर जो बीत रही है—उसे जो दुःख हो रहा है—उसे

नहीं जानती अतएव तू यहाँ से बावड़ी नहाने गई थी, उस अधम (नायक) के पास नहीं। यह तेरी दशा से सूचित हो रहा है। देख तेरे स्तनों के ऊपर के भाग का चंदन हट गया है, नीचे के होठ का रंग (तांबूल का) बिलकुल साफ हो गया है, नेत्र पूर्णतया (पर आंतरिक अभिप्राय यह है कि प्रांत भागों में) अंजन-रहित हो गए हैं और यह तेरा दुबला-पतला शरीर रोमांचित हो रहा है।

इस पर अप्पय दीक्षित यों विवेचन करते हैं। वे कहते हैं कि "स्तनों का चंदन साड़ी की रगड़ से भी हट सकता है, इस कारण नायिका ने "सब" कहा; जिससे यह सिद्ध होता है कि सब चंदन (बिना मर्दन के) साड़ी की रगड़ से नहीं हट सकता। पर नहाने से भी सब चंदन हट सकता है, इस कारण 'ऊपर के भाग का' कहा; जिससे यह सिद्ध होता है कि तूने स्नान नहीं किया; क्योंकि यदि तू स्नान करती तो सब स्थान का चंदन उड़ जाता; पर तेरे तो केवल ऊपर के भाग का ही उड़ा है; ऐसा आलिंगन से ही हो सकता है। इसी प्रकार तांबूल लेने में यदि देरी हो जाय तो होठ का रंग फीका हो सकता है; सो नहीं है, यह समझाने के लिये उसने 'बिलकुल साफ हो गया है' कहा; क्योंकि ऊपर के होठ के रँगे हुए रहने पर नीचे का होठ बिना चुंबन के और किस तरह साफ हो सकता है?" यहाँ से लेकर "यह भी ध्वनि का उदाहरण है" यहाँ तक के ग्रंथ से यह सिद्ध किया गया है कि जो

"ऊपरी भाग"—आदि शब्दों से बने हुए वाक्यों के अर्थ हैं, वे संभोग के अंग—आलिंगन, चुंबन आदि के प्रतिपादन के द्वारा प्रधान व्यंग्य (संभोग) के व्यक्त करने में सहायता करते हैं। अर्थात् इस प्रकार के कथन से यह प्रकट होता है कि दूती की यह दशा संभोग से ही हुई है, अन्य किसी प्रकार नहीं।

पंडितराज कहते हैं कि अप्पय दीक्षित का यह विवेचन अलंकारशास्त्र के तत्त्व को न समझने के कारण है; क्योंकि ऐसा करना—इन बातों का अन्य सब वस्तुओं से हटाकर केवल संभोग में ही लगाना—सब पुराने ग्रंथों से एवं युक्ति से विरुद्ध है। देखिए—

'काव्यप्रकाशकार' ने पंचम उल्लास के अंत में इसी उदाहरण का विवेचन करते हुए कहा है—"पूर्वोक्त उदाहरण में जो 'चंदन का हटना' आदि लिखे हैं, वे दूसरे कारणों से भी हो सकते हैं, केवल संभोग के द्वारा ही नहीं; क्योंकि इसी श्लोक में उनको स्नान का कार्य बताया गया है; इस कारण वे कार्य एक ही वस्तु से संबंध रखते हों ऐसे नहीं हैं, दूसरी वस्तुओं से भी हो सकते हैं।" और वहीं उन्होंने "व्यक्ति-विवेक"-कार का जो यह मत है कि—

भम* धम्मिअ ! वी सत्थो सो सुणओ अज्ज मालिदो देण।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरी असीहेण ॥

---

* किसी नायिका ने गोदावरी नदी के तीर-वर्ती एक कुंज को अपना संकेतस्थान बना रखा था; पर वहाँ एक महात्माजी नित्य पुष्प लेने के

इत्यादिक स्थलों में हेतु से कार्य-ज्ञान होता है, और "हेतु से कार्य के ज्ञान होने का नाम अनुमान है, और व्यंजना से भी यही बात होती है, अतः व्यंजना और अनुमान में कोई भेद नहीं।" इसका खंडन करते हुए, "व्यभिचारी (अन्यगामी) और असिद्ध होने का जिन हेतुओं में सन्देह है, उनसे भी अर्थ ध्वनित हो सकता है, पर अनुमान नहीं हो सकता" यह स्वीकार किया है। इसी प्रकार "ध्वनि" (व्यंजनावृत्ति और व्यंग्यों के प्रतिपादन के मूलग्रंथ) के कर्त्ता (राजानक आनंदवर्धनाचार्य) ने भी माना है। तब यह सिद्ध हुआ कि "जिन शब्दों अथवा अर्थों से अन्य अर्थ ध्वनित होते हैं, वे व्यंजक अर्थ साधारण ही होते हैं,—अर्थात् वे व्यंग्य से भी संबंध रखते हैं, और अन्यों से भी अनुमान की तरह असाधारण नहीं" इस बात को प्रतिपादन करनेवाले प्रामाणिक विद्वानों के ग्रंथों के साथ, उन व्यंजकों को असाधारण—किसी विशेष वस्तु से ही संबंध रखनेवाले—बतानेवाले तुम्हारे ग्रंथ का, विरोध स्पष्ट है।

लिये जाया करते थे; इस कारण संकेत का भंग होते देखकर उसने उनसे कहा—

हे धर्मचारिन् ! अब आप विश्वस्त होकर फिरते रहिए; क्योंकि जिस कुत्ते से आप डरा करते थे, उस कुत्ते को, आज, गोदावरी नदी के जलप्राय प्रदेश के कुंज में रहनेवाले मत्त सिंह ने मार दिया।

तात्पर्य यह है कि घर में कुत्ते से डरनेवाले पंडितजी ! यदि आप कुंज में पहुँचे तो फिर प्राणों का कुशल नहीं है—उन्हें बिदाई देनी ही पड़ेगी। इस से यह अभिव्यक्त होता है कि "आप वहाँ न जाइएगा।"

यह तो हुई पुराने ग्रंथों से विरोध की बात। अब हम आपसे पूछते हैं—आप जो "सब चंदन हट गया है" इत्यादि वाक्यार्थों को बावड़ी में नहाने से हटाकर केवल संभोग के ही सिद्ध करने में लगा रहे हैं, सो क्यों लगा रहे हैं? इससे व्यंग्य अर्थ निकल सके इसलिये? सो तो है नहीं; क्योंकि व्यंग्य अर्थ निकलने के लिये "उसको व्यक्त करनेवाली वस्तुएँ उसी से संबंध रखनेवाली होनी चाहिएँ, वे और किसी से संबंध न रखें" इस बात का होना आवश्यक नहीं है। देखिए, दूती नायक से संभोग करके नायिका के पास आई है। उसकी दशा देखकर नायिका उससे कहती है—

ओणिद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मह मन्दभाइणीए केरं सहि! तुह वि अहह! परिहवइ॥

हे सखि! हाय! मुझ मंदभागिनी के लिये तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिंता, आलस्य और दम भरजाने ने दबा रखा है, तू भी इनसे दुःखित हो रही है। यहाँ जागरण आदि बातें जैसी संयोगिनी (दूती) में हैं, वैसी ही वियोगिनी (नायिका) में भी हैं, एवं ये ही बातें रोगादि से भी हो सकती हैं; अतः ये सर्वथा साधारण बातें हैं। पर इन्हीं बातों पर जब यह विचार करते हैं—इनकी कहनेवाली कौन है और वह इन बातों को किससे किस अवसर पर कह रही है तो स्पष्ट हो जाता है कि वह उसके संभोग को लक्ष्य करके कह रही है। अतः यह सिद्ध हुआ कि किसी बात का साधारण अथवा असा-

धारण होना उस बात से कोई व्यंग्य नहीं निकाल सकता; किंतु उसका कहनेवाला कौन है, वह बात किससे कही जा रही है— इत्यादि के साथ उसको समझने पर, व्यंजक साधारण हो अथवा असाधारण, व्यंग्य समझ में आ सकता है। प्रत्युत यदि वह बात ऐसी हो कि जो किसी विशेष वस्तु से ही संबंध रखती हो, तो वह अनुमान के अनुकूल होगी और व्यंजना के प्रतिकूल— अर्थात् उससे व्यंजना नहीं, अपितु अनुमान होगा। अब यदि आप कहें कि "ऊपरी भाग" आदि शब्दों से रचित होने पर भी "सब चंदन उड़ गया है" इत्यादि वाक्यार्थ असाधारण न हुए; क्योंकि गीले कपड़े से पुँछ जाने आदि से भी वे बातें हो सकती हैं; तो हम आपसे पूछते हैं कि बावड़ी के स्नान के हटा देने से क्या फल हुआ, उसके लिये क्यों इतना परिश्रम किया गया? क्योंकि जिस तरह एक स्थान पर व्यभिचरित होना—संभोग के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से संबंध रखना—अनुमान के प्रतिकूल है और व्यंजना के नहीं, उसी प्रकार अनेक स्थानों पर व्यभिचरित होना भी। अतः यह सब प्रयास व्यर्थ है।

यह तो हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और लीजिए। नायिका के इस कथन से यह व्यंग्य निकलता है कि "तू उसके पास ही रमण करने गई थी"। विचारकर देखने से ज्ञात होगा कि यह व्यंग्य दो बातों से बना हुआ है। उनमें से एक बात है "उसके पास ही गई थी" यह, और दूसरी है

वहाँ जाने का फल "रमण"। इनमें से "उसके पास ही गई थी" इस अंश को व्यंग्य सिद्ध करना, तुम्हारे हिसाब से, कठिन है। तुमने जो रीति बताई है, उसके अनुसार "सब चंदन छूट गया" इत्यादि विशेषण वाक्यों के अर्थ बावड़ी के स्नान में तो लग नहीं सकते; क्योंकि तुमने वैसा करने में बाधा उपस्थित कर दी है; समझा दिया है कि वे वापी-स्नान में नहीं लग सकते; अतः वाच्यार्थ में सब वाक्य के जो प्रधान अर्थ हैं कि "बावड़ी नहाने गई थी, उसके पास नहीं गई" इन शब्दों में विपरीत लक्षणा करनी पड़ेगी; तब उनका यह अर्थ होगा कि "बावड़ी नहाने नहीं गई", "उसके पास ही गई थी"। अर्थात् वाच्य अर्थ में जहाँ "गई थी" कहा है, वहाँ "नहीं गई थी" अर्थ करना पड़ेगा और जहाँ "नहीं गई थी" कहा है, वहाँ "गई थी" अर्थ करना पड़ेगा, अन्यथा बात ही न बनेगी। और वाच्यार्थ के बाधित होने पर जो अर्थ प्रकट होता है, वह व्यंजना से बोधित होता है अथवा व्यंग्य होता है, यह कहना उचित नहीं; क्योंकि वह लक्षणा का ही विषय है व्यंजना का नहीं। जैसे "अहो पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नांति मानवाः—अर्थात् आश्चर्य है कि यह सरोवर पूरा भरा हुआ है, जिसमें मनुष्य लेटते हुए नहा रहे हैं" इस वाक्य में नहानेवाले मनुष्यों का विशेषण जो "लेटते हुए" है, उससे प्रकट होता है कि "तालाब भरा हुआ नहीं है" इस अर्थ को कोई भी व्यंग्य नहीं बता सकता, यह लक्ष्य ही है। तब सिद्ध हुआ

कि पूर्वोक्त व्यंग्य का एक अंश "उसके पास गई थी" यह तो, आपके हिसाब से, व्यंग्य है नहीं, लक्ष्य है।

अब यदि आप कहें कि "उसके पास ही गई थी" इस अंश के लक्ष्य होने पर भी जो जाने का फल है "रमण", वह तो व्यंग्य ही रहा; क्योंकि वह तो लक्षणा से ज्ञात हो नहीं सकता। सो भी नहीं; क्योंकि आपने ही "चित्रमीमांसा" में लिखा है—"अधम शब्द का अर्थ हीन है, और हीन दो प्रकार से हो सकता है—एक जाति से, दूसरे कर्म से। सो उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती........." इत्यादि। तब यह सिद्ध हुआ कि "रमण" भी अर्थापत्ति प्रमाण से स्पष्ट प्रतीत होता है; क्योंकि जो बात किसी दूसरी रीति से उपस्थित हो जाय, उसे शब्द का अर्थ नहीं माना जाता। पर यदि समझ लो कि "अर्थापत्ति" कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, जैसा कि कई एक दर्शनकारों ने माना है, तो वहाँ जाने का फल "रमण" व्यंग्य हो सकता है, पर तथापि जो बात तुम चाहते हो, वह सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि "स्तनों के ऊपरी भाग का चंदन हटना" आदि एवं नायक की "अधमता", ये जो वाच्य हैं, वे, तुम्हारे हिसाब से, केवल दूती के संभोग से ही सिद्ध हो सकते हैं, अन्य किसी प्रकार—अर्थात् बावड़ी में नहाने आदि—से नहीं; इस कारण यह काव्य गुणीभूत व्यंग्य हो जायगा; क्योंकि बेचारे व्यंग्य को ही उन वाच्य अर्थों को सिद्ध करना पड़ेगा, सो वह वाच्यों की अपेक्षा गौण हो जायगा।

तब तुमने जो इसे "ध्वनि-काव्य" माना है सो न हो सकेगा। इस तरह युक्ति के द्वारा भी तुम्हारा सब आडंबर व्यर्थ ही सिद्ध होता है। सो अत्यंत चतुर नायिका के कहे हुए इन विशेषणों का वाच्य अर्थ (वापीस्नान) और व्यंग्य अर्थ (संभोग) दोनों में साधारण होना—दोनों में बराबर लग जाना—ही उचित है, न कि एक (संभोग) ही में लगना।

तब उनको यों लगाना चाहिए—"हे बांधव जन के (मेरे) ऊपर आई हुई पीड़ा को न जाननेवाली स्वार्थ में तत्पर दूती! तू स्नान का समय न चूक जाय इसलिये, नदी और मेरे प्रिय दोनों के पास न जाकर, मेरे पास से स्नान करने के लिये सीधी बावड़ी चली गई; उस, दूसरे की पीड़ा को (जानते हुए भी) न जानकर दु:ख देनेवाले, अतएव अधम के पास नहीं। यह तेरी दशा से सूचित होता है। देख, बावड़ी में बहुतेरे युवा लोग नहाने के लिये आया करते हैं, उनसे लज्जित होने के कारण, तूने अपने हाथों को कंधे पर धरकर और उनमें आँटी लगाकर स्तनों को मला है; अत: ऊँचा होने के कारण स्तनों का ऊपरी भाग ही मला जा सका और छाती का चंदन लगा ही रह गया। इसी तरह, जल्दी में, अच्छी तरह न धोने के कारण ऊपर के होठ का रंग पूरा न उड़ सका; पर नीचे के होठ में कुल्लों के जल, दाँत साफ करने की अँगुली आदि की रगड़ अधिक लगती है, इस कारण वह बिलकुल साफ हो गया। नेत्रों में जल केवल लग ही पाया, अत: ऊपर ऊपर

से ही काजल हट सका। इसी प्रकार तू दुबली है और ठंड पड़ रही है, सो शरीर रोमांचित हो गया है।" इस तरह चतुर नायिका की उक्ति के अभिप्राय का छिपा हुआ होना ही उचित है, नहीं तो उसकी सब चतुराई मिट्टी में मिल जायगी।

इस प्रकार जब इन वाक्यों के अर्थ साधारण होंगे, तो मुख्य अर्थ में कोई बाधा न अवेगी; अत: यहाँ लक्षणा के लिये स्थान ही न रहेगा। वाच्यार्थ समझने के अनंतर जब यह सोचेंगे कि यह बात कौन किससे कह रही है, बात नायक के विषय की है; तब यह प्रतीत होगा—दु:ख देने के कारण नायक को "अधम" कहा जा रहा है। और देखिए, वह अधम शब्द वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों में समान रूप से अन्वित हो जाता है। फिर, "नायक ने, पहले, जो किसी प्रकार की बुराइयाँ की थीं, उसके हिसाब से, नायिका ने उसे दु:खदायी बताया है", वाच्य अर्थ में इस प्रकार समझा हुआ अधम शब्द व्यंजना-शक्ति के द्वारा "दूती से संभोग करने के कारण जो उसका दु:खदायित्व हुआ है" उस रूप में परिणत हो जाता है—उस शब्द से यह सिद्ध हो जाता है कि "नायक ने दूती से संभोग किया है।" यह है अलंकारशास्त्र के ज्ञाताओं के सिद्धांत का सार।

इससे "अधम-शब्द का अर्थ हीन है, और हीन दो प्रकार से हो सकता है—एक जाति से, दूसरे कर्म से। सो उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती। अब रही कर्म से हीनता, सो उसे भी, दूती के संभोग आदि,

जो अपने (नायिका के) अपराध बन सकते हैं, ऐसे कर्म के अतिरिक्त अन्य तो बता नहीं सकती। और वैसे कर्म भी जो दूती के भेजने के पहले हुए थे, वे तो सब सह ही लिए गए हैं, सो उनको उघाड़ने की आवश्यकता नहीं। तब अंततोगत्वा, सब बखेड़े के हटने के बाद, दूती का संभोग ही सिद्ध होता है।'' यह जो आप (अप्पय दीक्षित) ने लिखा है, वह भी खंडित हो जाता है। क्योंकि चतुर और उत्तम नायिका सखियों के सामने, उसी (दूती) से संभोग करना जो अपने नायक का अपराध है, उसे स्पष्ट प्रकट करे, यह सर्वथा अनुचित है; अत: जिन पुराने अपराधों को वह सह चुकी है, वे बड़े असह्य थे, इस कारण उसे दूती के सामने उन्हीं का प्रतिपादन करना अभीष्ट था। बस, इतने में सब समझ लीजिए।

उत्तम काव्य

जिस काव्य में व्यंग्य चमत्कार-जनक तो हो, पर प्रधान न हो, वह "उत्तम काव्य होता है।"

जो व्यंग्य वाच्य-अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो और दूसरे किसी व्यंग्य की अपेक्षा गौण हो, उस व्यंग्य में अतिव्याप्ति न हो जाय, इसके लिये ''प्रधान न हो'' लिखा है; और जिन वाच्य-चित्र-काव्यों में व्यंग्य लीन हो जाता है—उसका कुछ भी चमत्कार नहीं रहता—किंतु केवल अर्थालंकारों—उपमादिकों—की ही प्रधानता रहती है, उनमें अतिव्याप्ति न हो जाय, इसलिये लिखा है कि ''चमत्कार-जनक हो''।

यहाँ एक विचार और है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने "अताद्दशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्" इस गुणीभूत व्यंग्य के लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "गुणीभूत व्यंग्य उसी का नाम है, जो "चित्र (अलंकारप्रधान) काव्य" न हो। पर यह उनका कथन ठीक नहीं; क्योंकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि अलंकार जिनमें प्रधान हों, उन काव्यों में अव्याप्ति हो जायगी—अर्थात् उनका यह लक्षण न हो सकेगा। और होना चाहिए अवश्य; क्योंकि सभी अलंकारशास्त्र के ज्ञाताओं ने उनको गुणीभूत व्यंग्य और चित्र दोनों माना है। अतः जो चित्र-काव्य हो, वह गुणीभूत व्यंग्य न हो सके यह कोई बात नहीं।

अच्छा, अब उत्तम काव्य का उदाहरण लीजिए—

राघवविरहज्वालासंतापितसह्यशैलशिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यंति पवनतनयाय॥

❀ ❀ ❀ ❀

रघुवर-विरहानल तपे सह्य-शैल के अंत।
सुख सों सोए, शिशिर में कपि कोपे हनुमंत॥

भगवान् रामचंद्र के विरहानल की ज्वालाओं से संतप्त सह्याचल के शिखरों पर, ठंड के दिनों में, सुख से सोए हुए बंदर हनुमान् पर क्रोध कर रहे हैं।

इस श्लोक का व्यंग्य अर्थ यह है कि "जानकीजी की कुशलता सुनाकर हनुमान् ने रामचंद्र को शीतल कर दिया,

उनका विरह-ताप शांत हो गया'' और वाच्य-अर्थ है ''हनुमान् पर बंदरों का अकस्मात् उत्पन्न होनेवाला क्रोध''। सो यह वाच्य-अर्थ व्यंग्य के द्वारा ही सिद्ध होता है; क्योंकि पहले जब व्यंग्य के द्वारा यह समझ लेते हैं—रामचंद्र का विरह शांत होने से सह्याचल के शिखर ठंडे हो गए, तब यह सिद्ध होता है कि—इसी कारण, ठंड के मारे, बंदरों ने हनुमान् पर क्रोध किया। अतः यह व्यंग्य गौण हो गया, प्रधान नहीं रहा; क्योंकि वाच्य-अर्थ को सिद्ध करनेवाला व्यंग्य गौण हो जाता है, यह नियम है। पर इस दशा में भी, जिस तरह दुर्भाग्य के कारण कोई राजांगना किसी की दासी बनकर रहे, तथापि उसका अनुपम सौंदर्य झलकता ही है, ठीक उसी प्रकार इस व्यंग्य में भी अनिर्वचनीय सुंदरता दृष्टिगोचर हो रही है।

यहाँ एक शंका होती है—इसी तरह ''तल्पगताऽपि च सुतनुः......'' इस पूर्वोक्त ध्वनि-काव्य के उदाहरण में ''हाथ का धीरे धीरे हटाना'' भी नई दुलहिन के स्वभाव के विरुद्ध है; क्योंकि नवोढा के स्वभाव के अनुसार तो उसे झट हटा लेना चाहिए था; इस कारण वह वाच्य भी व्यंग्य (प्रेम) से ही सिद्ध किया जा सकता है—अर्थात् धीरे धीरे उठाना तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम यह समझ लें कि उसे पति से प्रेम होने लगा है, सो उसे उत्तमोत्तम काव्य कहना ठीक नहीं। इसका उत्तर यह है—प्रतिदिन के सखियों के

उपदेश आदि, जो कि विशेष चमत्कारी नहीं हैं, उनसे भी "धीरे धीरे उठाना" सिद्ध हो सकता है, अतः उसके सिद्ध करने के लिये प्रेम ही की विशेष आवश्यकता हो, सो बात नहीं है। पर सहृदयों के हृदय में जो पहले ही से यह बात उठ खड़ी होती है कि "यह वियोग के समय का प्रेम है" उसे ध्वनित किए बिना "धीरे धीरे उठाना", स्वतंत्रता से, परम आनंद के आस्वाद का विषय बनने का सामर्थ्य नहीं रखता। इसी तरह "निःशेषच्युतचंदनम्........" आदि पद्यों में भी "अधमता" आदि वाच्य, व्यंग्य (दूती-संभोग आदि) के अतिरिक्त अर्थ के द्वारा तैयार किए गए हैं, और व्यंग्य अर्थ को स्वयं प्रकट करते हैं, सो वहाँ भी व्यंग्य के गौण होने की शंका न करनी चाहिए।

उत्तमोत्तम और उत्तम भेदों में क्या अंतर है?

यद्यपि इन दोनों (उत्तमोत्तम और उत्तम) भेदों में व्यंग्य का चमत्कार प्रकट ही रहता है, छिपा हुआ नहीं; तथापि एक में व्यंग्य की प्रधानता रहती है और दूसरे में अप्रधानता, इस कारण इनमें एक दूसरे की अपेक्षा विशेषता है, जिसे सहृदय पुरुष समझ सकते हैं।

चित्र-मीमांसा के उदाहरण का खंडन

अच्छा, अब एक "चित्रमीमांसा" के उदाहरण का खंडन भी सुन लीजिए; क्योंकि इसके बिना पंडितराज को कल नहीं पड़ती। वह उदाहरण यह है—

प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाऽह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि ?
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥

"प्यारे ! क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे, या मध्याह्न में, अथवा उसके भी बाद ? किंवा पूरा दिन बीत जाने पर ही लौटेंगे ?", अश्रुधारा सहित, इस तरह की बातों से बालिका (नवोढा), जहाँ सैकड़ों दिनों में पहुँचनेवाले हैं, उस देश में जाना चाहते हुए प्रेमी के जाने का निषेध कर रही है—इसे जाने से रोक रही है ।

इस पद्य में "सारा दिन पूरी अवधि है, उसके बाद मैं न जी सकूँगी" यह व्यंग्य है, और वाच्य है "प्यारे के जाने का निवारण" । अब सोचिए कि "प्यारे का न जाना" तभी हो सकता है, जब कि वह यह समझ ले कि "यह एक दिन के बाद न जी सकेगी"; सो यह वाच्य-अर्थ पूर्वोक्त व्यंग्य से सिद्ध होता है, इस कारण यह काव्य "गुणीभूत व्यंग्य" (मध्यम) है । यह है चित्रमीमांसाकार का कथन ।

अब पंडितराज के विचार सुनिए । वे कहते हैं—गुणीभूत व्यंग्य का यह उदाहरण ठीक नहीं; क्योंकि अश्रुधारा सहित "क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे ?" इत्यादि कथन ही से "प्यारे का न जाना" रूपी वाच्य सिद्ध हो जाता है,

इस कारण व्यंग्य के गौण होकर उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। "बातों से...जाने का निवारण कर रही है" इस कथन में "बातों से" यह तृतीया करण-अर्थ में है; अतः स्पष्ट है कि वे (बातें) जाने के निवारण की साधक हैं। पर यदि आप कहें कि—व्यंग्य भी तो वाच्य को सिद्ध कर सकता है, इस कारण हमने उसे गुणीभूत लिखा है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा करोगे तो "निःशेषच्युतचंदनम्..." आदिकों में भी "दूती-संभोग" आदि व्यंग्य भी नायक की अधमता को सिद्ध करते हैं, इस कारण वे भी गुणीभूत हो जायँगे। हाँ, यदि आप कहें कि "अश्रुधारा सहित...बातों" की तो "जाने के बाद बहुत समय तक न ठहरना" यह सिद्ध कर देने से भी चरितार्थता हो सकती है; अतः व्यंग्य-सहित होने पर ही उनसे "जाने का निवारण" सिद्ध हो सकता है; तो पंडितराज कहते हैं—अच्छा, "उसके बाद न जी सकूँगी" इस व्यंग्य को वाच्यसिद्धि का अंग मानकर गौण समझ लीजिए; पर नायक-आदि विभाव, अश्रु-आदि अनुभाव एवं चित्त के आवेग आदि संचारी भावों के संयोग से ध्वनित होनेवाले विप्रलंभ-शृंगार के कारण इस काव्य को "ध्वनि-काव्य" कहा जाय तो कौन मना कर सकता है* ।

---

* इस बहस में पंडितराज अप्पय दीक्षित को परास्त न कर सके; क्योंकि मध्य में प्रतीत होनेवाले व्यंग्य के द्वारा भी ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य का व्यवहार होना काव्यप्रकाशकारादि साहित्य के प्राचीन

मध्यम काव्य

जिस काव्य में वाच्य-अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो—उससे उत्कृष्ट हो, अर्थात् व्यंग्य का चमत्कार स्पष्ट न हो और वाच्य का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता हो, वह "मध्यम काव्य' होता है।

जैसे यमुना के वर्णन में लिखा है कि—

तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भागीरथ्याः सखी........।

(यह यमुना) उस भागीरथी की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिये लंबी की हुई एवं समुद्र के उदर में घुसी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है।

यहाँ संस्कृत में 'क्यङ्' प्रत्यय से और हिंदी में 'मानो' शब्द से वाच्य उत्प्रेक्षा ही चमत्कार का कारण है। यद्यपि यहाँ पर, गंगाजी में हिमालय पर्वत की भुजा की उत्प्रेक्षा की गई है, इस कारण "श्वेतता" और "पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिये...समुद्र के उदर में घुसी हुई" इस कथन से "पाताल की तह तक पहुँचना" व्यंग्य हैं, और उनका किसी अंश में चमत्कार

आचार्यों को सम्मत है; अतः अंत में विप्रलंभ-शृंगार के ध्वनित होने से इस काव्य को गुणीभूत व्यंग्य न मानना कुछ भी अभिप्राय नहीं रखता; अन्यथा काव्यप्रकाशकारादि के दिए हुए "ग्रामतरुणं तरुण्याः..." आदि उदाहरण भी असंगत हो जायँगे; क्योंकि अंततोगत्वा विप्रलंभ की ध्वनि तो वे भी हैं ही।

भी है ही; तथापि वह चमत्कार उत्प्रेक्षा के चमत्कार के अंदर घुसा हुआ सा प्रतीत होता है, जैसे किसी ग्रामीण नायिका का गोरापन केसर-रस के लेप के अंदर छिपा हुआ दिखाई देता हो। हाँ, इस बात में कोई संदेह नहीं कि कोई भी वाच्य-अर्थ ऐसा नहीं है, जो व्यंग्य अर्थ से थोड़ा बहुत संबंध रखे बिना स्वतः रमणीयता उत्पन्न कर सके—अर्थात् वाच्य-अर्थ में रमणीयता उत्पन्न करने के लिये व्यंग्य का संबंध आवश्यक है।

वाच्य चित्रों को किस भेद में समझना चाहिए?

इन्हीं दूसरे और तीसरे (उत्तम और मध्यम)भेदों में, जिनमें से एक में व्यंग्य जगमगाता हुआ होता है और दूसरे में टिमटिमाता, सब अलंकारप्रधान काव्य प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् 'वाच्यचित्र' काव्यों का इन्हीं दोनों भेदों में समावेश है।

अधम काव्य

जिस काव्य में शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने के लिये हो, वह "अधम काव्य" कहलाता है;

जैसे—

मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीशात्रवशत्रवे ।
गोत्रारिगोत्रजत्राय गात्रात्रे ते नमो नमः ॥

भक्त कहता है—सूर्य और चंद्र जिनके नेत्र हैं, जो वेदों के शत्रुओं (असुरों) के शत्रु हैं और इंद्र के वंशजों (देव-

ताओं) के रक्षक हैं, उन—गोपाल अथवा वृषभवाहन (शिव)—आपको बार-बार नमस्कार है।

इसमें स्पष्ट दिखाई देता है कि अर्थ का चमत्कार शब्द में लीन हो गया है—श्लोक सुनने से शब्द के चमत्कार की ही प्रधानता प्रतीत होती है, अर्थ का चमत्कार कोई वस्तु नहीं।

अधमाधम भेद क्यों नहीं माना जाता ?

यद्यपि जिसमें अर्थ के चमत्कार से सर्वथा रहित शब्द का चमत्कार हो, वह काव्य का पाँचवाँ भेद "अधमाधम" भी इस गणना में आना चाहिए; जैसे—एकाक्षर पद्य, अर्धावृत्ति यमक और पद्मबंध प्रभृति। परंतु आनंदजनक अर्थ के प्रतिपादन करनेवाले शब्द का नाम ही काव्य है, और उनमें आनंद-जनक अर्थ होता नहीं, इस कारण "काव्यलक्षण" के हिसाब से वे वास्तव में काव्य ही नहीं हैं। यद्यपि महाकवियों ने पुरानी परंपरा के अनुरोध से, स्थान स्थान पर, उन्हें लिख डाला है, तथापि हमने उस भेद को काव्यों में इसलिये नहीं गिना कि वास्तव में जो बात हो उसी का अनुरोध होना उचित है, आँखें मींचकर प्राचीनों के पीछे चलना ठीक नहीं।

प्राचीनों के मत का खंडन

कुछ लोग काव्यों के ये चार भेद भी नहीं मानते; वे—उत्तम, मध्यम एवं अधम—तीन प्रकार के ही काव्य मानते हैं। उनके विषय में हमें यह कहना है कि अर्थ-चित्र और शब्द-चित्र दोनों को एक सा—अधम—ही बताना उचित नहीं;

क्योंकि उनका तारतम्य स्पष्ट दिखाई देता है। कौन ऐसा सहृदय पुरुष होगा कि जो—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरा-
द्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला
निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥*

एवम्

सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणु-
स्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य
पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽबभासे ॥†

---

* यह हयग्रीव राक्षस का वर्णन है। इसका अर्थ यों है—मित्रों के सम्मानदाता अथवा शत्रुओं के दर्पनाशक जिस हयग्रीव का, स्वेच्छा-पूर्वक भी (न कि किसी चढ़ाई आदि के लिये), घर से निकलना सुन-कर, घबड़ाए हुए इंद्र के द्वारा शीघ्रता से डलवाई गई हैं अर्गलें जिसमें ऐसी अमरावती (देवताओं की पुरी), माने, डर के मारे आँखें मीच लेती है।

† यह रण-वर्णन है। इसका अर्थ यों है—घोड़ों की टापों आदि से जो रज उड़ी थी, उसकी जड़ (पृथ्वी से सटा हुआ भाग) रुधिर ने काट दी, और वह उस रुधिर के ऊपर ही ऊपर उड़ने लगी। वह (रज) ऐसे शोभित होती थी, माने, आग के केवल अँगारे शेष रह गए हैं और उससे जो पहले निकल चुका था, वह धुआँ (ऊपर उड़ रहा) है।

इत्यादि काव्यों के साथ

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्नाय वः ।
भिन्द्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मंदाकिनी मंदताम् ॥*

इत्यादि काव्यों की, जिनको केवल साधारण श्रेणी के मनुष्य सराहा करते हैं, समानता बता सकता है। और यदि तारतम्य के रहते हुए भी दोनों को एक भेद बताया जाता है, तो जिनमें बहुत ही कम (व्यंग्य की प्रधानता और अप्रधानता का ही) अंतर है, उन "ध्वनि" और "गुणीभूतव्यंग्य" को पृथक् पृथक् भेद मानने के लिये क्यों दुराग्रह है? अतः काव्य के चार भेद मानना ही युक्तियुक्त है।

शब्द-अर्थ दोनों चमत्कारी हों, तो किस भेद में समावेश करना चाहिए?

---

* वह गङ्गा आपके अज्ञान को शीघ्र नष्ट करे, जिसके स्वतंत्र उछ-लते हुए और स्वच्छ जलप्राय प्रदेश के खड्डों के प्रबल जल की परंपरा महर्षियों के अज्ञान का नाश करनेवाली है और जिस जलपरम्परा में वे लोग स्नान एवं नित्यनियम किया करते हैं, जिसकी कंदराओं में, तरंगों की चोट से ऊपर का भाग गिर जाने के कारण, बड़े बड़े मेंढक दिखाई देते हैं और विस्तृत एवं सघन वृक्षों के गिराने के कारण अधिकता से युक्त लहरें ही जिसका गहरा मद है।

जिस काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार एक ही साथ हो, वहाँ यदि शब्द-चमत्कार की प्रधानता हो, तो अधम और अर्थ-चमत्कार की प्रधानता हो, तो मध्यम कहना चाहिए। पर यदि शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों समान हों, तो उस काव्य को मध्यम ही कहना चाहिए। जैसे—

उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
संघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रांततः प्रादुरासीत् ॥

खिले हुए कमलों के मध्य से निकलते हुए (रात भर मधु-पान करके) मत्त भ्रमरों का उल्लास (आनंददाता), शोकरूपी दावानल से जिनका हृदय विकल हो रहा था, उन चक्रवाकियों का निस्तार (दुःख मिटानेवाला), जिन्होंने तेज को नष्ट कर दिया था, उन अंधकार के समूहों का उत्पात (नष्ट करनेवाला) और नेत्रों का पक्षपात (सहायक) एक तेज का पुञ्ज उदयाचल के प्रांत से प्रकट हुआ।

इस श्लोक में शब्दों से वृत्त्यनुप्रास की अधिकता और ओजगुण के प्रकाशित होने के कारण शब्द का चमत्कार है, और प्रसाद-गुण-युक्त होने के कारण शब्द सुनते ही ज्ञात हुए "रूपक" अथवा "हेतु" अलङ्कार रूपी अर्थ का चमत्कार है।

सो श्लोक में दोनों—शब्द और अर्थ के चमत्कारों—के समान होने के कारण दोनों की प्रधानता समान ही है; इस कारण इसे मध्यम काव्य कहना ही उचित है। हिंदी में, इस श्रेणी में, पद्माकर के कितने ही पद्य आ सकते हैं।

ध्वनि-काव्य के भेद

काव्य का उत्तमोत्तम भेद जो "ध्वनि" है, उसके यद्यपि असंख्य भेद हैं, तथापि साधारणतया कुछ भेद यहाँ लिखे जाते हैं। ध्वनि-काव्य दो प्रकार का होता है—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक। उनमें से पहला अर्थात् अभिधा-मूलक ध्वनि-काव्य तीन प्रकार का है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि। "रसध्वनि" यह शब्द यहाँ असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि (जिसमें ध्वनित करनेवाले और ध्वनित होने के मध्य का क्रम प्रतीत नहीं होता) के लिये लाया गया है, अतः "रस-ध्वनि" शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता सबका ग्रहण समझना चाहिए। दूसरा (लक्षणामूलक ध्वनि-काव्य) दो प्रकार का है—अर्थांतरसंक्रमित वाच्य और अत्यंत-तिरस्कृत वाच्य। इस तरह ध्वनिकाव्य के पाँच भेद हैं। उनमें से "रस-ध्वनि" सबसे अधिक रमणीय है; इस कारण पहले रस-ध्वनि का आत्मा जो "रस" है, उसका वर्णन किया जाता है।

रस का स्वरूप और उसके विषय में ग्यारह मत

प्रधान लक्षण

(१)

अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट भट्ट का मत

(क)

सहृदय पुरुष, संसार में, जिन रति-शोक आदि भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है और कभी किसी का सोच इत्यादि, उनका उसके हृदय पर संस्कार जम जाता है—वे भाव वासनारूप से उसके हृदय में रहने लगते हैं। वे ही वासनारूप रति आदि स्थायी भाव, जो एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं और जिनका वर्णन आगे स्पष्ट रूप से किया जायगा, जब स्वतः प्रकाशमान और वास्तव में विद्यमान आत्मानंद के साथ अनुभव किए जाते हैं, तो "रस" कहलाने लगते हैं। पर उस आनंदरूप आत्मा के ऊपर अज्ञान का आवरण आया हुआ है—वह अज्ञान से ढँक रहा है; और जब तक उस आत्मानंद का साथ न हो, तब तक वासनारूप रति आदि का अनुभव किया नहीं जा सकता। अतः उसके उस आवरण को दूर करने के लिये एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न की जाती है। जब उस क्रिया के द्वारा अज्ञान, जो उस आनंद का आच्छादक है, दूर हो जाता है, तो अनुभवकर्त्ता में जो अल्पज्ञता रहती है, उसे जो कुछ पदार्थों का बोध होता है और

कुछ का नहीं, वह लुप्त हो जाती है; और सांसारिक भेद-भाव निवृत्त होकर उसे आत्मानंद सहित रति आदि स्थायी भावों का अनुभव होने लगता है। पूर्वोक्त अलौकिक क्रिया को विभाव, अनुभाव और संचारी भाव उत्पन्न करते हैं—अर्थात् वह उन तीनों के संयोग से उत्पन्न होती है।

अब यह भी समझिए कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव क्या वस्तु हैं। जो रति आदि चित्तवृत्तियाँ आत्मानंद के साथ अनुभव करने पर रसरूप में परिणत होती हैं, वे जिन कारणों से उत्पन्न होती हैं. वे दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनसे वे उत्पन्न होती हैं और दूसरे वे जिनसे वे उद्दीप्त की जाती हैं, उन्हें जोश दिया जाता है। जिन कारणों से उत्पन्न होती हैं, उन्हें आलंबन कारण कहते हैं और जिनसे वे उद्दीप्त की जाती हैं, उन्हें उद्दीपन। इसी तरह पूर्वोक्त चित्तवृत्तियों के उत्पन्न होने पर, शरीर आदि में कुछ भाव उत्पन्न होते हैं, जो उनके कार्य होते हैं। और इसी प्रकार जब वे चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं तो उनके साथ अन्यान्य चित्तवृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं, जो सहकारी होती हैं और उन चित्तवृत्तियों की सहायता करती हैं। इस बात को हम उदाहरण देकर समझा देते हैं। मान लीजिए कि शकुंतला के विषय में दुष्यंत की अंतरात्मा में रति अर्थात् प्रेम उत्पन्न हुआ; ऐसी दशा में रति का उत्पादन करनेवाली शकुंतला हुई; अतः वह प्रेम का आलंबन कारण हुई। चाँदनी चटक रही थी, वनलताएँ कुसुमित हो

रही थीं; अतः वे और वैसी ही अन्य वस्तुएँ उद्दीपन कारण हुईं। अब दुष्यंत का प्रेम दृढ़ हो गया और शकुंतला के प्राप्त न होने के कारण, उसके वियोग में, उसकी आँखों से लगे अश्रु गिरने। यह अश्रुपात उस प्रेम का कार्य हुआ। और इसी तरह उस प्रेम के साथ साथ, उसका सहकारी भाव, चिंता उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा कि मुझे उसकी प्राप्ति कैसे हो! इसी तरह शोक आदि में भी समझो। पूर्वोक्त सभी बातों को हम संसार में देखा करते हैं। अब पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार, संसार में, रति आदि के जो शकुंतला आदि आलंबन कारण होते हैं, चाँदनी आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे अश्रुपातादि कार्य उत्पन्न होते हैं और चिंता आदि उनके सहकारी भाव होते हैं; वे ही जब, जहाँ जिस रस का वर्णन हो, उसके उचित एवं ललित शब्दों की रचना के कारण मनोहर काव्य के द्वारा उपस्थित होकर सहृदय पुरुषों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता और एक प्रकार की भावना—अर्थात् काव्य के बार बार अनुसंधान के प्रभाव से, उनमें से "शकुंतला दुष्यंत की स्त्री है" इत्यादि भाव निकल जाते हैं, और अलौकिक बनकर— संसार की वस्तुएँ न रहकर—जो कारण हैं वे विभाव, जो कार्य हैं वे अनुभाव और जो सहकारी हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाने लगते हैं। बस, इन्हीं के द्वारा पूर्वोक्त अलौकिक क्रिया के द्वारा रसों की अभिव्यक्ति होती है।

इसी बात को मम्मटाचार्य काव्यप्रकाश में कहते हैं—

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।

अर्थात् स्थायी भाव (रति आदि) जब पूर्वोक्त विभावादिकों से व्यक्त होता है तो "रस" कहलाता है । और "व्यक्त होने" का अर्थ यह है कि जिसका अज्ञान रूप आवरण नष्ट हो गया है, उस चैतन्य का विषय होना—उसके द्वारा प्रकाशित होना । जैसे किसी बोरा आदि से ढँका हुआ दीपक, उस ढक्कन के हटा देने पर, पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता और स्वयं प्रकाशित होता है । रति आदि अंतःकरण के धर्म हैं और जितने अंतःकरण के धर्म हैं, उन सबको "साक्षिभास्य" माना गया है । "साक्षिभास्य" किसे कहते हैं सो भी समझ लीजिए । संसार के जितने पदार्थ हैं, उनको आत्मा अंतःकरण से संयुक्त होकर भासित करता है और अंतःकरण के धर्म—प्रेम आदि—उस साक्षात् देखनेवाले आत्मा के ही द्वारा प्रकाशित होते हैं । अब यह शंका होती है कि रति आदि, जो वासनारूप से अंतःकरण में रहते हैं, उनका केवल आत्मचैतन्य के द्वारा बोध हो सकता है; पर विभाव आदि पदार्थों—अर्थात् शकुंतला आदि—का, उसके द्वारा, कैसे भान होगा ? इसका उत्तर यह है कि जैसे सपने में घोड़े आदि और जागते में (भ्रम होने पर) राँगे में चाँदी आदि साक्षिभास्य ही होती हैं, केवल आत्मा के द्वारा ही उनका भान होता है; क्योंकि वे कोई पदार्थ तो हैं नहीं, केवल

कल्पना है; उसी प्रकार इन (विभावादि) को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं। अब रही यह शंका कि रस नित्य नहीं कहा जाता; क्योंकि वह भी उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली वस्तु के समान है, उसकी सदा तो स्फूर्त्ति होती नहीं; अतः व्यवहार से विरोध हो जायगा। सो इसका समाधान यह है कि—रस को ध्वनित करनेवाले विभावादिकों के (क्योंकि ये कल्पित हैं) अथवा उनके संयोग से उत्पन्न किए हुए अज्ञानरूप आवरण के भंग की उत्पत्ति और विनाश के कारण रस की उत्पत्ति और विनाश मान लिए जाते हैं। जैसे कि वैयाकरण लोग अक्षरों को नित्य मानते हैं, तथापि वर्णों को व्यक्त करनेवाले तालु आदि स्थानों की क्रियाओं की उत्पत्ति और विनाश को अकार आदि अक्षरों की उत्पत्ति और विनाश मान लेते हैं। तब यह सिद्ध हुआ कि जब तक विभावादिकों की चर्वणा होती है—उनका अनुभव होता रहता है, तब तक आत्मानंद का आवरण भंग होता है और आवरण भंग होने पर ही रति आदि प्रकाशित होते हैं; अतः जब विभावादिकों की चर्वणा निवृत्त हो जाती है, तब प्रकाश ढँक जाता है, इस कारण स्थायी भाव यद्यपि विद्यमान रहता है, तथापि हमें उसका अनुभव नहीं होता।

(ख)

पहले पक्ष में यह बतलाया गया है कि विभावादिकों के संयोग से एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है और उसके द्वारा

पूर्वोक्त रीति से रस का आस्वादन होता है, पर इस अलौकिक क्रिया के न मानने पर भी काम चल सकता है, इस अभिप्राय से कहते हैं—अथवा यों समझना चाहिए—

सहृदय पुरुष जो विभावादिकों का आस्वादन करता है, उसका सहृदयता के कारण, उसके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के द्वारा, काव्य की व्यंजना से उत्पन्न की हुई उसकी चित्तवृत्ति, जिस रस के विभावादिकों का उसने आस्वादन किया है, उसके स्थायी भाव से युक्त अपने स्वरूपानंद को, जिसका वर्णन पहले हो चुका है, अपना विषय बना लेती है—अर्थात् तन्मय हो जाती है; जैसी कि सविकल्पक* समाधि में योगी की चित्तवृत्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि उसकी चित्तवृत्ति को उस समय स्थायी भाव से युक्त आत्मानंद के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का बोध नहीं रहता। अर्थात् पूर्वोक्त व्यापार के बिना, विभावादिकों के आस्वादन के प्रभाव से ही, चित्तवृत्ति रति आदि सहित आत्मानंद का अनुभव करने लगती है। यह आनंद अन्य सांसारिक सुखों के समान नहीं है; क्योंकि वे सब सुख अंतःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यरूप होते हैं, उनके अनुभव के समय चैतन्य का और अंतःकरण की वृत्तियों का

---

* समाधियां दो प्रकार की हैं—एक संप्रज्ञात और दूसरी असंप्रज्ञात; इन्हीं का नाम सविकल्पक और निर्विकल्पक भी है। सविकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक् पृथक् अनुसंधान रहता है; पर निर्विकल्पक में कुछ नहीं रहता, योगी ब्रह्मानंद में लीन हो जाता है।

योग रहता है; पर यह आनंद अंतःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यरूप नहीं, किंतु शुद्ध चैतन्यरूप है; क्योंकि इस अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनंदमय हो जाती है और आनंद अनवच्छिन्न रहता है, उसका अंतःकरण की वृत्तियों के द्वारा अवच्छेद नहीं रहता।

इस तरह, अभिनवगुप्ताचार्य ("ध्वनि" के टीकाकार) और मम्मट भट्ट (काव्यप्रकाशकार) आदि के ग्रंथों के वास्तविक तात्पर्य के अनुसार "अज्ञानरूप आवरण से रहित जो चैतन्य है, उससे युक्त रति आदि स्थायी भाव ही 'रस' हैं" यह स्थिर हुआ।

(ग)

वास्तव में तो आगे जो श्रुति हम लिखनेवाले हैं, उसके अनुसार, रति आदि से युक्त और आवरण-रहित चैतन्य का ही नाम 'रस' है।

अस्तु, कुछ भी हो, चाहे ज्ञानरूप आत्मा के द्वारा प्रकाशित होनेवाले रति आदि को रस मानो अथवा रति आदि के विषय में होनेवाले ज्ञान को; दोनों ही तरह यह अवश्य सिद्ध है कि रस के स्वरूप में रति और चैतन्य दोनों का साथ है। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि एक पक्ष में चैतन्य विशेषण है और रति आदि विशेष्य और दूसरे पक्ष में रति आदि विशेषण हैं और चैतन्य विशेष्य। पर दोनों ही पक्षों में, विशेषण अथवा विशेष्य किसी रूप में रहनेवाले चैतन्यांश को लेकर

रस की नित्यता और स्वतःप्रकाशमानता सिद्ध है और रति आदि के अंश को लेकर अनित्यता और दूसरे के द्वारा प्रकाशित होना।

चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना—उसका अज्ञान-रहित हो जाना—ही इस रस की चर्वणा (आस्वादन) कहलाती है, जैसा कि पहले कह आए हैं; अथवा अंतःकरण की वृत्ति के आनंदमय हो जाने को (जैसा कि दूसरा पक्ष है) रस की चर्वणा समझिए। यह चर्वणा परब्रह्म के आस्वाद-रूप समाधि से विलक्षण है, क्योंकि इसका आलंबन विभावादि विषयों (सांसारिक पदार्थों) से युक्त आत्मानंद है और समाधि के आनंद में विषय साथ रह नहीं सकते। यह चर्वणा केवल काव्य की व्यापार-व्यंजना से उत्पन्न की जाती है।

अब यह शंका हो सकती है कि इस आस्वादन में सुख का अंश प्रतीत होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? हम पूछते हैं कि समाधि में भी सुख का भान होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? प्रश्न दोनों में बराबर ही है। आप कहेंगे—

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्" (भगवद्गीता) "अर्थात् समाधि में जो अत्यंत सुख है, उसे बुद्धि जान सकती है, इन्द्रियाँ नहीं।" इत्यादि शब्द प्रमाणरूप में विद्यमान हैं; तो हम कहेंगे कि हमारे पास भी दो प्रमाण विद्यमान हैं। एक तो "रसो वै सः" (अर्थात् वह आत्मा रसरूप है) और "रसँ ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनंदीभवति" (रस को प्राप्त होकर ही

यह आनंदरूप होता है) ये श्रुतियाँ और दूसरा सब सहृदयों का प्रत्यक्ष। आप सहृदयों से पूछ देखिए कि इस चर्वणा में कुछ आनंद है अथवा नहीं। स्वयं अभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं—जो यह दूसरे (ख) पक्ष में 'चित्तवृत्ति के आनंदमय हो जाने' को रस की चर्वणा बताई गई है, वह शब्द की व्यापार-व्यंजना से उत्पन्न होती है, इस कारण शब्द-प्रमाण के द्वारा ज्ञात होनेवाली है और प्रत्यक्ष सुख का आलंबन है—इसके द्वारा सुख का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इस कारण प्रत्यक्ष रूप है; जैसे कि "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मज्ञान।

(२)

भट्टनायक का मत

साहित्य शास्त्र के एक पुराने आचार्य भट्टनायक का कथन है कि—तटस्थ रहने पर—रस से कुछ संबंध न होने पर—यदि रस की प्रतीति मान ली जाय तो रस का आस्वादन नहीं हो सकता; और 'रस हमारे साथ संबंध रखता है' यह प्रतीत होना बन नहीं सकता; क्योंकि शकुंतलादिक सामाजिकों (नाटक देखनेवाले आदि) के तो विभाव हैं नहीं—वे उनके प्रेम आदि का तो आलंबन हो नहीं सकतीं; क्योंकि सामाजिकों से शकुंतला आदि का लेना देना क्या? और बिना विभाव के आलंबनरहित रस की प्रतीति हो नहीं सकती; क्योंकि जिसे हम अपना प्रेमपात्र समझना चाहते हैं, उससे

हमारा कुछ संबंध तो अवश्य होना चाहिए—उसमें वह योग्यता होनी चाहिए कि वह हमारा प्रेमपात्र बन सके। आप कहेंगे कि 'स्त्री होने' के कारण वे साधारण रूप से विभाव बनने की योग्यता रख सकती हैं। सो यह ठीक नहीं। जिसे हम विभाव (प्रेमपात्र) मानते हैं, उसके विषय में हमें यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि 'वह हमारे लिये अगम्य नहीं है—उसके साथ हमारा प्रेम हो सकता है', और वह ज्ञान भी ऐसा होना चाहिए कि जिसकी अप्रामाणिकता (गैरसबूती) न हो—अर्थात् कम से कम, हम यह न समझते हों कि यह बात बिल्कुल गलत है। अन्यथा स्त्री तो हमारी बहिन आदि भी होती हैं, वे भी विभाव होने लगेंगी। इसी तरह करुण-रसादिक में जिसके विषय में हम 'शोक' कर रहे हैं, वह अशोच्य (अर्थात् जिसका सोच करना अनुचित है, जैसे ब्रह्म-ज्ञानी) अथवा निंदित पुरुष (जिसके मरने से किसी को कष्ट न हो) न होना चाहिए। अब जिसे हम विभाव मानते हैं, उसके विषय में वैसे (अगम्य होने आदि के) ज्ञान की उत्पत्ति का न होना किसी प्रतिबंधक (उस ज्ञान को रोकनेवाले) के सिद्ध हुए बिना बन नहीं सकता। यदि आप कहें कि 'दुष्यं-तादिक (जिनकी शकुंतलादिक प्रेमपात्र थीं) के साथ हमारा अपने को अभिन्न समझ लेना' ही उस ज्ञान का प्रतिबंधक है; सो ठीक नहीं; क्योंकि शकुंतला का नायक दुष्यंत पृथिवीपति और धीर पुरुष था और हम इस जमाने के क्षुद्र मनुष्य हैं, इस

विरोध के स्पष्ट प्रतीत होने के कारण उसके साथ अपना अभेद समझना दुर्लभ है।

यह तो हुई एक बात। अब हम आपसे एक दूसरी बात पूछते हैं—यह जो हमें रस की प्रतीति होती है सो है क्या? दूसरा कोई प्रमाण तो इस बात को सिद्ध करनेवाला है नहीं; अतः (काव्य सुनने से उत्पन्न होने के कारण) इसे शब्द-प्रमाण से उत्पन्न हुई समझिए। सो हो नहीं सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर, रात दिन व्यवहार में आनेवाले अन्य शब्दों के द्वारा ज्ञात हुए, स्त्री पुरुषों के वृत्तांतों के ज्ञान में जैसे कोई चित्ताकर्षकता नहीं होती, वही दशा इस प्रतीति की भी होगी। यदि इसे मानस ज्ञान समझें, तो यह भी नहीं बन सकता; क्योंकि सोच सोचकर लाए हुए पदार्थों का मन में, जो बोध होता है, उससे इसमें विलक्षणता दिखाई देती है। न इसे स्मृति ही कह सकते हैं; क्योंकि उन पदार्थों का वैसा अनुभव पहले कभी नहीं हुआ है, और जिस वस्तु का अनुभव नहीं हुआ हो, उसकी स्मृति हो नहीं सकती। अतः यह मानना चाहिए कि अभिधा शक्ति के द्वारा जो पदार्थ समझाए जाते हैं, उन पर "भावकत्व" अथवा "भावना" नामक एक क्रिया की कार्रवाई होती है। उसका काम यह है—रस के विरोधी जो 'अगम्या होना आदि' के ज्ञान हैं, वे हटा दिए जाते हैं, और रस के अनुकूल 'कामिनीपन' आदि धर्म ही हमारे सामने आते हैं। इस तरह वह क्रिया दुष्यंत, शकुंतला, देश, काल,

वय और स्थिति आदि सब पदार्थों को साधारण बना देती है, उनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने देती कि जिससे हमारी रस-चर्वणा में गड़बड़ पड़े। बस, यह सब कार्रवाई करके वह (भावना) ठंडी पड़ जाती है। उसके अनंतर एक तीसरी क्रिया उत्पन्न होती है, जिसका नाम है "भोगकृत्त्व", अर्थात् आस्वादन करना। उस क्रिया के प्रभाव से हमारे रजोगुण और तमोगुण का लय हो जाता है और सत्त्वगुण की वृद्धि होती है; जिससे हम अपने चैतन्यरूपी आनंद को प्राप्त होकर (सांसारिक झगड़ों से) विश्राम पाने लगते हैं, उस समय हमें इन झगड़ों का कुछ भी बोध नहीं रहता, केवल आनंद ही आनंद का अनुभव होता है। बस, यह विश्राम ही रस का साक्षात्कार (अनुभव) है; और "रस" है इसके द्वारा अनुभव किए जानेवाले रति आदि स्थायी भाव, जिनको कि पूर्वोक्त भावना नामक क्रिया साधारण रूप में—अर्थात् किसी व्यक्ति-विशेष से संबंध न रखनेवाले बनाकर—उपस्थित करती है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि के कारण जो आनंद प्रकाशित होता है, उससे अभिन्न ज्ञान (चैतन्य) का नाम ही 'भोग' है और उसके विषय (अनुभव में आनेवाले) होते हैं रति आदि स्थायी भाव। अतः इस पक्ष में भी (प्रथम पक्ष की तरह ही) भोग किए जाते हुए (अर्थात् चैतन्य से युक्त) रति आदि अथवा रति आदि का भोग (अर्थात् रति आदि से युक्त चैतन्य) इन दोनों

का नाम रस है। यह आस्वाद ब्रह्मानंद के आस्वाद का समीपवर्त्ती या सहोदर कहलाता है, ब्रह्मानंद रूप नहीं, क्योंकि यह विषयों (रति आदि) से मिश्रित रहता है और उस (ब्रह्मानंद) में विषयानंद सर्वथा नहीं रहता। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त रीति से काव्य के तीन अंश हैं—एक अभिधा, जिससे काव्यगत पदार्थों को समझा जाता है; दूसरा भावना, जिससे उनमें से व्यक्तिगतता हटा दी जाती है और तीसरा भोगीकृति, जिससे उनका आस्वादन किया जाता है।

इस मत में पहले मत से, केवल, भावकत्व अथवा भावना नामक अतिरिक्त क्रिया का स्वीकार करना ही विशेषता है; भोग आवरण से रहित चैतन्य रूप है और आवरण भंग करनेवाली भोगीकृति नामक क्रिया तो (पहले मत की) व्यंजना ही है, इसमें और उसमें कुछ अंतर नहीं। एवं भोगकृत्व तथा ध्वनित करना इन दोनों में भी कोई भेद नहीं। शेष सब पद्धति वही है।

(३)

नवीन विद्वानों का मत

साहित्यशास्त्र के नवीन विद्वानों का मत है—काव्य में कवि के द्वारा और नाटक में नट के द्वारा, जब विभाव आदि प्रकाशित कर दिए जाते हैं, वे उन्हें सहृदयों के सामने उपस्थित कर चुकते हैं, तब हमें, व्यंजना वृत्ति के द्वारा, दुष्यंत आदि की जो शकुंतला आदि के विषय में रति थी, उसका ज्ञान होता है—हमारी समझ में यह आता है कि दुष्यंत आदि का

शकुंतला आदि के साथ प्रेम था। तदनंतर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है जो कि एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारा अंतरात्मा कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छादित हो जाता है—अर्थात् हम उस दोष के कारण अपने को, मन ही मन, दुष्यंत समझने लगते हैं। तब जैसे (हमारे) अज्ञान से ढँके हुए सीप के टुकड़े में चाँदी का टुकड़ा उत्पन्न हो जाता है—हमें सीप के स्थान में चाँदी की प्रतीति होने लगती है; ठीक इसी तरह पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छादित अपने आत्मा में, शकुंतला आदि के विषय में, अनिर्वचनीय सत् असत् से विलक्षण (अतएव जिनके स्वरूप का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता ऐसी) रति आदि चित्त-वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं—अर्थात् हमें शकुंतला आदि के साथ व्यवहारतः बिलकुल झूठे प्रेम आदि उत्पन्न हो जाते हैं, और वे (चित्तवृत्तियाँ) आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती हैं। बस, उन्हीं विलक्षण चित्तवृत्तियों का नाम "रस" है। यह रस एक प्रकार के (पूर्वोक्त) दोष का कार्य है और उसका नाश होने पर नष्ट हो जाता है—अर्थात् जब तक हमारे ऊपर उस दोष का प्रभाव रहता है, तभी तक हमें उसकी प्रतीति होती है। यद्यपि यह न तो सुख रूप है, न व्यंग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है; तथापि इसकी प्रतीति के अनंतर उत्पन्न होनेवाले सुख के साथ जो इसका भेद है, वह हमें प्रतीत नहीं होता; इस कारण हम इसका

सुख शब्द से व्यवहार करते हैं। कह देते हैं कि 'रस' सुखरूप है। इसी तरह इसके पूर्व, व्यंजनावृत्ति के द्वारा, शकुंतला आदि के विषय में जो दुष्यंत आदि की रति आदि का ज्ञान होता है, उसका और इस—झूठे प्रेम आदि—का भेद विदित नहीं होता; अतः हम इसे व्यंग्य और वर्णन करने योग्य कह देते हैं—अर्थात् हम यह कहने लगते हैं कि यह व्यंजना वृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने इसका वर्णन किया है। इसी प्रकार सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करनेवाला दुष्यंतत्व भी अनिर्वचनीय ही है, उसके भी स्वरूप का यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता। वह हमारे आत्मा का आच्छादन कैसे करता है सो भी समझ लेना चाहिए। वह यों है कि जब हम अपने आपको दुष्यंत समझ लेते हैं, तब यह समझते हैं कि यह रति आदि हमारे ही हैं, किसी अन्य व्यक्ति के नहीं; बस, इसी का अर्थ यह है कि हमको दुष्यंतत्व ने आच्छादित कर दिया। इस तरह मानने से, भट्टनायक की जो ये शंकाएँ हैं कि—"दुष्यंत आदि के जो रति आदि हैं, उनका तो हमें आस्वादन नहीं हो सकता; अतः वे रस नहीं कहला सकते; और अपने रति आदि व्यक्त नहीं हो सकते, क्योंकि उनका शकुंतला आदि से कोई संबंध नहीं। यदि दुष्यंत के साथ अपना अभेद मानें तो वह हो नहीं सकता; क्योंकि हमको 'वह राजा हम साधारण पुरुष' इत्यादि बाधक ज्ञान है—इत्यादि।" सो सब उड़ गईं; इस पक्ष में उनको अवकाश ही नहीं है। और जो कि

प्राचीन आचार्यों ने विभावादिकों का साधारण होना (किसी विशेष व्यक्ति से संबंध न रखना) लिखा है, उसका भी बिना किसी दोष की कल्पना किए सिद्ध होना कठिन है; क्योंकि काव्य में जो शकुंतला आदि का वर्णन है, उसका बोध हमें शकुंतला (दुष्यंत की स्त्री) आदि के रूप में ही होता है, केवल स्त्री के रूप में नहीं। तब यह तो सिद्ध हो ही गया कि शकुंतला आदि में जो विशेषता है, उसे निवृत्त करने के लिये किसी दोष की कल्पना करना आवश्यक है; और उसी दोष के द्वारा अपने आत्मा में दुष्यंत आदि के साथ अभेद समझ लेना भी सहज ही सिद्ध हो सकता है, फिर यों ही क्यों न समझ लिया जाय कि किसी प्रकार की गड़बड़ ही न रहे।

अब यहाँ एक शंका होती है कि आपने "अनिर्वचनीय रति आदि के अनंतर जो सुख उत्पन्न होता है, उसका और रति का भेद ज्ञान न होने के कारण हम उसे सुखरूप कहते हैं"। इस कथन के द्वारा जो 'रति आदि के अनंतर केवल सुख का उत्पन्न होना' स्वीकार किया है, सो ठीक नहीं; क्योंकि रति के अनुभव से एक प्रकार का सुख उत्पन्न होता है, यह बात बन सकती है; पर करुण रसादिकों के स्थायी भाव जो शोक आदि हैं, वे दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं, यह प्रसिद्ध है; अतः उनको सहृदय पुरुषों के आनंद का कारण कैसे कहा जा सकता है—यह कैसे माना जा सकता है कि उनसे भी सहृदयों को आनंद ही मिलता है। प्रत्युत यह सिद्ध हो सकता है कि जिस तरह

नायक को दुःख उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सहृदय मनुष्य को भी होना चाहिए। यदि आप कहें कि सच्चे शोक आदि से दुःख उत्पन्न होता है, कल्पित से नहीं; अतः नायकों को दुःख होता है और (कल्पित शोक आदि के अनुभवकर्त्ता) सहृदय को नहीं। तो हम कह सकते हैं कि जब हमको रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, तब भी हमें भय और कंप उत्पन्न नहीं होने चाहिएँ। दूसरे, यदि आप यह मानते हैं कि कल्पित शोकादिक से दुःख नहीं होता, तो हम कहेंगे कि आपके हिसाब से रति भी कल्पित है, अतः उससे भी सुख उत्पन्न नहीं होना चाहिए। इसका समाधान यह है कि यदि सहृदयों के हृदय के द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस तरह शृंगार-रस-प्रधान काव्यों से आनंद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार करुणरस-प्रधान काव्यों से भी केवल आनंद ही उत्पन्न होता है, तो यह नियम है कि "कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए—अर्थात् जैसे जैसे कार्य देखे जाते हैं, तदनुरूप ही उनके कारण समझ लिए जाते हैं"; सो जिस तरह काव्य के व्यापार को आनंद का उत्पन्न करनेवाला मानते हो, उसी प्रकार उसे दुःख का रोकनेवाला भी मानना चाहिए। पर यदि आनंद की तरह दुःख भी प्रमाणसिद्ध है, उसका भी सहृदयों को अनुभव होता है, तो काव्य की क्रिया को दुःख का रोकनेवाली न मानना चाहिए। काव्य की अलौकिक क्रिया से आनंद और शोक आदि से दुःख, इस तरह अपने

अपने कारण से सुख और दुःख दोनों उत्पन्न हो जायँगे। अब यह प्रश्न हो सकता है कि यदि करुण रसादिक में दुःख की भी प्रतीति होती है, तो ऐसे काव्यों के बनाने के लिये कवि, और सुनने के लिये सहृदय क्यों प्रवृत्त होंगे ? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट का साधन हैं, तो उनसे निवृत्त होना ही उचित है। इसका उत्तर यह है कि जिस तरह चंदन का लेप करने से शीतलता-जन्य सुख अधिक होता है और उसके सूख जाने पर पपड़ियों के उखड़ने का कष्ट उसकी अपेक्षा कम; इसी प्रकार करुण रसादिक में भी वांछनीय वस्तु अधिक है और अवांछनीय कम, इस कारण सहृदय लोग उनमें प्रवृत्त हो सकते हैं। और जो लोग काव्यों में शोक आदि से भी केवल आनंद की ही उत्पत्ति मानते हैं, उनकी प्रवृत्ति में तो कोई झगड़ा है ही नहीं। हाँ, उनसे आपका यह प्रश्न हो सकता है कि यदि करुण रसादिक में केवल आनंद ही उत्पन्न होता है, तो फिर उनके अनुभव से अश्रुपातादिक क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि उन आनंदों का यही स्वभाव है, अत: जो अश्रुपात होता है, वह दुःख के कारण नहीं। अतएव भगवद्भक्त लोग जब भगवान् का वर्णन सुनते हैं, तब उनको अश्रुपातादि होने लगते हैं; पर उस अवस्था में किंचिन्मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं होता। आप कहेंगे कि करुण रसादिक में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि से अभेद मान लेने पर यदि आनंद आता है, तो स्वप्न आदि में अथवा सन्निपात

आदि में, अपने आत्मा में, शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनंद ही होना चाहिए; पर अनुभव यह है कि उन अवस्थाओं में केवल दुःख ही होता है; इस कारण यहाँ भी केवल दुःख होता है यही मानना उचित है। इसके उत्तर में हम कहते हैं कि यह काव्य के अलौकिक व्यापार (व्यंजना) का प्रभाव है कि जिसके प्रयोग में आए हुए शोक आदि सुंदरतारहित पदार्थ भी अलौकिक आनंद को उत्पन्न करने लगते हैं; क्योंकि काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने-वाला रुचिर आस्वाद, अन्य प्रमाणों से उत्पन्न होनेवाले अनुभव की अपेक्षा विलक्षण है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि पूर्वोक्त वाक्य के "काव्य के व्यापार से उत्पन्न होनेवाला" इस अंश का अर्थ है, काव्य के व्यापार से उत्पन्न होनेवाली भावना से उत्पन्न हुए रति आदि का आस्वाद, अतः रस का आस्वाद यद्यपि काव्य के व्यापार से उत्पन्न नहीं होता है, किंतु काव्य के बार बार अनुसंधान से उत्पन्न होता है, तथापि कोई हानि नहीं। अब रही, शकुंतला आदि में अगम्या होने का ज्ञान हमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है, यह बात; सो इसका उत्तर यह है कि अपने आत्मा में दुष्यंत से अभेद समझ लेने के कारण हमें उस (अगम्या होने) की प्रतीति नहीं होती।

(४)

अन्य मत

इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानों का मत है कि व्यंजना

नामक क्रिया के (जिसे प्राचीन विद्वान् भी मानते हैं) और अनिर्वचनीय ख्याति के (जिसे नवीन विद्वान् मानते हैं) मानने की कोई आवश्यकता नहीं; अर्थात् रस न तो व्यंग्य है न अनिर्वचनीय; किंतु शकुंतला आदि के विषय में रति आदि से युक्त व्यक्ति के साथ अभेद का मन:कल्पित ज्ञान ही 'रस' है; अर्थात् रस एक प्रकार का भ्रम है, जो पूर्वोक्त व्यक्ति से हमें झूठे ही अभिन्न कर डालता है। उसके द्वारा, पूर्वोक्त दोष के प्रभाव से, हमको अपने आत्मा में दुष्यंत आदि की तद्रूपता समझ पड़ने लगती है, और उसका उत्पन्न करनेवाला है काव्यगत पदार्थों का बार बार अनुसंधान अर्थात् काव्य के पदार्थों को बार बार सोचने विचारने से इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है। जो दुष्यंत-शकुंतला आदि इस ज्ञान के विषय होते हैं, अर्थात् जिनके विषय में यह भ्रम होता है, वे विलक्षण हैं, उनका संसार की व्यावहारिक वस्तुओं से कोई संबंध नहीं।

आप कहेंगे कि यदि आप इस तरह के मन:कल्पित ज्ञान को ही रस मानते हैं, तो स्वप्न आदि में जो इसी प्रकार का मान ज्ञान होता है, आपके हिसाब से, वह भी रस ही हुआ। वे कहते हैं, नहीं; इसी लिये तो हमने लिखा है कि वह काव्य के बार बार अनुसंधान से उत्पन्न होता है। स्वप्न के बोध में वह बात नहीं है, अतः वह रस नहीं हो सकता। इस तरह मानने पर भी एक आपत्ति रहती है कि जो रति आदि हमारे

अंदर हैं ही नहीं—सर्वथा मनःकल्पित हैं, उनका अनुभव ही कैसे होगा? पर यह आपत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यह रति आदि का अनुभव लौकिक तो है नहीं, कि इसमें जिन वस्तुओं का अनुभव होता है, उनका विद्यमान रहना आवश्यक हो, किंतु भ्रम है। आप कहेंगे कि जब रस भ्रमरूप है, तो "रस का आस्वादन होता है" यह व्यवहार कैसे सिद्ध हो सकता है; क्योंकि भ्रम तो स्वयं ज्ञान रूप है उसका आस्वादन क्या? इसका उत्तर यह है कि भ्रम रति आदि के विषय में होता है, और रति आदि का आस्वादन हुआ करता है (यह अनुभवसिद्ध है); बस, इसी आधार पर यह व्यवहार हो गया है कि 'रसों का आस्वादन होता है'। वास्तव में 'रस' का आस्वादन नहीं होता। वे लोग यह भी कहते हैं।

जिसे इस मत के अनुसार रस कहते हैं, यह ज्ञान तीन प्रकार से हो सकता है। एक यह कि शकुंतला आदि के विषय में जो रति है, उससे युक्त मैं दुष्यंत हूँ; दूसरा यह कि शकुंतला आदि के विषय में जो रति है, उससे युक्त दुष्यंत मैं हूँ और तीसरा यह कि मैं शकुंतला आदि के विषय में जो रति है, उससे और दुष्यंतत्व से युक्त हूँ। अतः इन लोगों को तीनों प्रकार के ज्ञान को रस मानना पड़ेगा।

अब एक बात और सुनिए। इन तीनों ज्ञानों में जो रति विशेषणरूप से प्रविष्ट हो रही है, उसकी प्रतीति काव्य के शब्दों से तो होती नहीं; क्योंकि उसमें रति आदि के

वाचक शब्द लिखे नहीं रहते, और उसका बोध करानेवाली व्यंजना को ये स्वीकार नहीं करते; अतः इन्हें रति आदि के ज्ञान के लिये, पहले, (नट आदि की) चेष्टा आदि कारणों से सिद्ध अनुमान स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् इनके मन में रति आदि का, चेष्टा आदि का द्वारा, अनुमान कर लिया जाता है।

(५)

एक दल (भट्टलोल्लट इत्यादि) का मत

विद्वानों के एक दल का मत है कि दुष्यंत आदि में रहनेवाले जो रति आदि हैं, प्रधानतया, वे ही रस हैं; उन्हीं को, नाटक में, सुंदर विभाव आदि का अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यंत आदि का पार्ट लेनेवाले नट पर और काव्य में काव्य पढ़नेवाले व्यक्ति के ऊपर आरोपित करके हम उसका अनुभव कर लेते हैं। इस मत में भी रस का अनुभव, पूर्व मत की तरह, (तीनों प्रकार से) 'शकुंतला के विषय में जो रति है, उससे युक्त यह (नट) दुष्यंत है' इत्यादि समझना चाहिए। इस मत के अनुसार "शकुंतला के विषय में जो रति है उससे युक्त यह (नट) दुष्यंत है इस बोध में दो अंश हैं—एक नट विषयक, दूसरा दुष्यंत विषयक आदि। इसमें नट जो विशेष्य है उसके सामने रहने से उसका बोध लौकिक और बाकी का अलौकिक है।

(६)

कुछ विद्वानों (श्रीशंकुक प्रभृति) का मत है

कि दुष्यंत आदि में जो रति आदि रहते हैं, वे ही जब नट अथवा काव्यपाठक में, उसे दुष्यंत समझकर, अनुमान कर लिए जाते हैं, तो उनका नाम 'रस' हो जाता है। नाटक आदि में जो शकुंतला आदि विभाव परिज्ञात होते हैं, वे यद्यपि कृत्रिम होते हैं, तथापि उनको स्वाभाविक मानकर और नट को दुष्यंत मानकर पूर्वोक्त विभावादिकों से नट आदि में रति आदि का अनुमान कर लिया जाता है। यद्यपि दुष्यंत आदि के चरित्रों का उनसे भिन्न नट आदि के विषय में अनुमित होना नियम-विरुद्ध है, तथापि अनुमान की सामग्री के बलवान् होने के कारण, वह बन जाता है।

(७)

कितने ही कहते हैं

विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ये तीनों ही सम्मिलित रूप में रस कहलाते हैं।

(८)

बहुतेरों का कथन है

कि तीनों में जो चमत्कारी हो, वही रस है, और यदि चमत्कारी न हो तो तीनों ही रस नहीं कहला सकते।

(९)

इनके अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं

कि बार बार चिंतन किया हुआ विभाव ही रस है।

(१०)

दूसरे कहते हैं

बार बार चिंतन किया हुआ अनुभाव ही रस है।

(११)

तीसरे कहते हैं

कि बार बार चिंतन किया हुआ व्यभिचारी भाव ही रस-रूप में परिणत हो जाता है।

पूर्वोक्त मतों के अनुसार भरतसूत्र की व्याख्याएँ

यह तो हुआ रसों के विषय में मतभेद। अब इन सबका मूल जो भरत-मुनि का यह सूत्र है कि—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

इसकी पूर्वोक्त मतों के अनुसार व्याख्याएँ भी सुनिए। **प्रथम मत** के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, **संयोग** अर्थात् ध्वनित होने से, आत्मानंद से युक्त स्थायी भाव रूप अथवा स्थायी भाव से उपहित आत्मानंद-रूप **रस की, निष्पत्ति** होती है अर्थात् वह अपने वास्तव रूप में प्रकाशित होता है" यह अर्थ है।

द्वितीय मत के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (सं + योग) **सम्यक्** अर्थात् साधारण रूप से, **योग** अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से, स्थायी भाव रूप उपाधि से युक्त सत्वगुण की वृद्धि से प्रका-

शित, अपने आत्मानंद-रूप रस की, **निष्पत्ति** अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार के द्वारा अनुभव होता है" अर्थ है।

तृतीय मत के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के, **संयोग** अर्थात् एक प्रकार की भावनारूपी दोष से, दुष्यंत आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप **रस** की, निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है" अर्थ है।

चतुर्थ मत के अनुसार—"विभावादिकों के, **संयोग** अर्थात् ज्ञान से, एक प्रकार के ज्ञानरूप **रस** की, **निष्पत्ति** अर्थात् उत्पत्ति होती है" अर्थ है।

पंचम मत के अनुसार—"विभावादिकों के, **संयोग** अर्थात् संबंध से, रस अर्थात् रति आदि की, **निष्पत्ति** होती है अर्थात् वे (नट आदि पर) आरोपित किए जाते हैं" अर्थ है।

षष्ठ मत के अनुसार—"कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप में समझे हुए विभावादिकों के द्वारा, संयोग अर्थात् अनुमान के द्वारा, **रस** अर्थात् रति आदि की, **निष्पत्ति** होती है अर्थात् अनुमान कर लिया जाता है" अर्थ है।

सप्तम मत के अनुसार—"विभावादिक तीनों के **संयोग** अर्थात् सम्मिलित होने से, **रस** की **निष्पत्ति** होती है अर्थात् रस कहलाने लगता है" अर्थ है।

अष्टम मत के अनुसार—"विभावादिकों में से, **संयोग** अर्थात् चमत्कारी होने से **रस** कहलाता है" अर्थ है।

अब जो तीन मत शेष रहे, उनमें सूत्र का अर्थ संगत नहीं होता, अतः उनका सूत्र से विरोध पर्यवसित होता है—अर्थात् वे स्वतंत्र मत हैं, सूत्रानुसारी नहीं।

विभावादिकों में से प्रत्येक को रसव्यंजक क्यों नहीं माना जाता

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इनमें से केवल एक—अर्थात् केवल विभाव, केवल अनुभाव अथवा केवल व्यभिचारी भाव—का किसी नियत रस को ध्वनित करना नहीं बन सकता; क्योंकि वे जिस तरह एक रस के विभाव आदि होते हैं, उसी तरह दूसरे रस के भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिये देखिए; व्याघ्र आदि जिस तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं, उसी प्रकार वीर, अद्भुत और रौद्र-रस के भी हो सकते हैं; अश्रुपातादिक जिस तरह शृंगार के अनुभाव हो सकते हैं, उसी प्रकार करुण और भयानक के भी हो सकते हैं; चिंतादिक जिस तरह शृंगार के व्यभिचारी हो सकते हैं, उसी प्रकार करुण, वीर और भयानक के भी हो सकते हैं। अतः सूत्र में तीनों को सम्मिलित रूप में ही ग्रहण किया गया है, प्रत्येक को पृथक् पृथक् नहीं। जब इस प्रकार यह प्रमाणित हो चुका कि तीनों के सम्मिलित होने पर ही रस ध्वनित होता है, तब, जहाँ कहीं, किसी असाधारण रूप में वर्णित विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव में से किसी एक से ही रस का उद्बोध हो जाता है, जैसे कि निम्नलिखित पद्य में—

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदपाण्डुः कपोलः॥

मालतीमाधव प्रकरण के प्रथम अङ्क का यह श्लोक है। माधव मकरंद से मालती का वर्णन कर रहे हैं—(मालती के) अंग अत्यंत रौंदी हुई कमल की जड़ के समान हो गए हैं, शरीरस्थितिमात्रोपयोगी क्रियाओं में—परिवार के प्रार्थना करने पर, बड़ी कठिनता से प्रवृत्ति होती है; अर्थात् एक बार उपक्रम-मात्र होकर रह जाता है, चेष्टा नहीं होती और नए हाथी-दाँत के टुकड़े के समान श्वेत कपोल कलंकरहित चंद्रमा की शोभा को धारण करने लगे हैं—उनमें ललाई का लेश भी नहीं रहा है। यहाँ केवल अनुभाव के वर्णन मात्र से ही विप्रलंभ-शृंगार का आस्वादन होने लगता है। ऐसे स्थलों में अन्य दोनों (जैसे यहाँ विभाव और व्यभिचारी भाव) का आक्षेप कर लिया जाता है। सो यह बात नहीं है कि रस कहीं सम्मिलितों से उत्पन्न होता है और कहीं एक ही से; किंतु तीनों के सम्मेलन के विना रस उत्पन्न होता ही नहीं, यह सिद्ध है।

सो इस तरह विद्वानों ने, यद्यपि अनेक प्रकार की बुद्धियों के द्वारा, रस को, अनेक रूपों में समझा है, आज दिन तक भी इस विषय में विचार स्थिर नहीं हो पाए हैं; तथापि इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं कि, इस संसार में, रस एक

सौंदर्यमय वस्तु है और उसमें परमानंद की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती।

रस कौन-कौन और कितने हैं ?

पूर्वोक्त रस—शृंगार, करुण, शांत, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स इस तरह नौ प्रकार का है; और इसमें प्रमाण है भरत मुनि का वाक्य। पर कुछ लोग कहते हैं—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते॥

अर्थात् शांतरस के सिद्ध करने के लिये शांति की आवश्यकता है, और (सांसारिक झगड़ों में व्यापृत) नट में उसका होना असंभव है; अत: नाट्य में आठ ही रस होते हैं, उसमें शांतरस का होना नहीं बन सकता। इस बात को दूसरे विद्वान् मानना नहीं चाहते। वे कहते हैं—आपने जो यह हेतु दिया है कि 'नट में शांति का होना असंभव है', सो असंगत है—इस बात का यहाँ मेल नहीं मिलता; क्योंकि हम लोग नट में रस का अभिव्यक्त होना स्वीकार ही नहीं करते। वह शांत रहे अथवा अशांत, यदि सामाजिक लोग शांतियुक्त होंगे, तो उन्हें रस का आस्वादन होने में कोई बाधा नहीं। आप कहेंगे—यदि नट में शांति न होगी तो वह शांतरस का अभिनय ही प्रकाशित नहीं कर सकेगा; तो हम आपसे कहेंगे—नट जब भयानक अथवा रौद्ररस की अभिव्यक्ति के लिये अभिनय करता

है, तब भी उसमें भय और क्रोध तो रहते नहीं; फिर वह उन रसों का अभिनय भी कैसे कर सकता है? यदि आप कहें कि नट में क्रोध आदि के न होने के कारण, क्रोधादिक के वास्तविक कार्य वध-बंधन आदि के उत्पन्न न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास आदि से बनावटी वध-बंधन आदि के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती—यह देखा ही जाता है, तो हम कहेंगे कि इस विषय में भी वैसा ही क्यों नहीं समझ लेते? दोनों स्थानों पर वही तो बात है। हाँ, आप यह कह सकते हैं कि सामाजिकों में भी, नाटकादि के द्वारा, शांतरस का उदय कैसे हो सकता है? क्योंकि विषयों से विमुख होना ही शांतरस का स्वरूप है, और नाटक में उसके विरोधी पदार्थ—गीत, वाद्य आदि—विद्यमान रहते हैं; अतः विरोधियों के द्वारा रस का आविर्भाव सिद्ध होना असंभव है। इसका उत्तर यह है कि जो लोग नाटक में शांतरस को स्वीकार करते हैं, वे गीत-वाद्य आदि को उसका विरोधी नहीं मानते; क्योंकि यदि ऐसा हो तो उनका फल—शांतरस का उदय—ही न बन पावे। दूसरे, यदि आप यावन्मात्र विषयों के चिंतन को शांतरस के विरुद्ध मानें, तो शांतरस का आलंबन—संसार का अनित्य होना एवं उसके उद्दीपन पुराणों का सुनना, सत्संग, पवित्र वन और तीर्थों के दर्शन—आदि भी विषय ही हैं, अतः वे भी उसके विरोधी हो जायँगे। इस कारण, यह मानना चाहिए कि जिनमें शांतरस के अनुकूल—संसार से विरक्त होने के उपयोगी वर्णन होता

है—वे भजन-कीर्त्तन आदि शांतरस के अभिव्यंजक हो सकते हैं। इसी कारण, 'संगीतरत्नाकर' के अंतिम अध्याय में—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु यतः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः॥

अर्थात् 'नाटकों में आठ ही रस हैं' यह जो कुछ लोगों की शंका है, सो ठीक नहीं; क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता—इत्यादि लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि नाटकों में भी शांत-रस है। परंतु जो लोग 'नाटकों में शांत-रस नहीं है' यह मानते हैं, उन्हें भी, किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण, एवं 'महाभारतादि ग्रंथों में शांतरस ही प्रधान है' यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध होने के कारण, उसे (शांतरस को) काव्यों में अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी कारण, मम्मट भट्ट ने भी "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः (नाटक में आठ रस माने गए हैं)" इस तरह प्रारंभ करके "शांतोऽपि नवमो रसः (शांत भी नौवाँ रस है)" इस तरह उपसंहार किया है। अर्थात् उनके हिसाब से भी काव्यों में शांतरस सिद्ध है। तब रस नौ हैं, इस बात में कोई संदेह नहीं।

स्थायी भाव

पूर्वोक्त रसों के, क्रम से, रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय और जुगुप्सा ये स्थायी भाव होते हैं। अर्थात् शृंगार का रति, करुण का शोक, शांत का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य

का हास, भयानक का भय और बीभत्स का जुगुप्सा स्थायी भाव होता है।

रसों और स्थायी भावों का भेद

अच्छा, अब, रसों से स्थायी भावों में क्या भेद है, सो भी समझ लीजिए। **पहले और दूसरे मतों में**—जिस तरह घड़े आदि का घड़े आदि के अंदर आए हुए आकाश से भेद है, उस तरह; **तीसरे मत में**—जिस तरह सच्ची चाँदी से मनः—कल्पित चाँदी में भेद है, उस तरह; और **चौथे मत में**—जिस तरह विषय (ज्ञानगम्य पदार्थ) का ज्ञान से भेद है, उस तरह स्थायी भावों का रसों से भेद समझना चाहिए।

ये स्थायी क्यों कहलाते हैं ?

ये रति आदि भाव किसी भी काव्यादिक में उसकी समाप्ति पर्यंत स्थिर रहते हैं, अतः इनको स्थायी भाव कहते हैं। आप कहेंगे कि ये तो चित्तवृत्तिरूप हैं, अतएव तत्काल नष्ट हो जानेवाले पदार्थ हैं, इस कारण इनका स्थिर होना दुर्लभ है, फिर इन्हें स्थायी कैसे कहा जा सकता है ? और यदि वासनारूप से इनको स्थिर माना जाय तो व्यभिचारी भाव भी हमारे अंतः-करण में वासनारूप से विद्यमान रहते हैं, अतः वे भी स्थायी भाव हो जायँगे। इसका उत्तर यह है कि यहाँ इन वासना-रूप भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना ही स्थिर-पद का अर्थ है। व्यभिचारी भावों में यह बात नहीं होती, क्योंकि उनकी

चमक बिजली की चमक की तरह अस्थिर होती है; अतः वे स्थायी भाव नहीं कहला सकते* । जैसा कि लिखा है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः ॥
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥

तथा—

सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् ।
यावद्रसं वर्त्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः ॥

अर्थात् जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता; किंतु विरुद्ध भावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, उसका नाम स्थायी है और वह लवणा-

---

* यहाँ म० म० श्रीगंगाधर शास्त्री जी की टिप्पणी है, जिसका अभिप्राय यह है—यदि वेदांतियों के मत के अनुसार यह माना जाय कि कोई भी चित्तवृत्ति उसके विरुद्ध चित्तवृत्ति उत्पन्न होने तक स्थिर रहती है, तो स्थिर-पद का बार बार अभिव्यक्त होना अर्थ करने की आवश्यकता नहीं। और जो 'विरुद्धैः......' इस कारिका में विरुद्ध भावों से भी स्थायी भाव का विच्छेद न होना लिखा है, सो लौकिक दृष्टि से जो भाव विरुद्ध दिखाई देते हैं, उनके विषय में लिखा गया है। काव्य में तो 'अयं स रशनोत्कर्षी......' इत्यादि स्थलों में लोकदृष्ट्या विरुद्ध भाव—प्रेम आदि—भी शोक अदि के पोषक ही होते हैं—यह अनुभव-सिद्ध है। अन्यथा ऐसे स्थलों में 'प्रतिकूलविभावादि ग्रह' रूपी रस-दोष होगा, जो कि किसी को भी सम्मत नहीं।

कर के समान है। जिस तरह लवणाकर समुद्र में गिरने से सब वस्तुएँ लीन बन जाती हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव से मिलकर सब भाव तद्रूप हो जाते हैं।

जो भाव बहुत समय तक चित्त में रहते हैं, विभावादिकों से संबंध करते हैं और रस-रूप बन जाते हैं, वे यहाँ (साहित्य-शास्त्र में) स्थायी नाम से प्रसिद्ध हैं। तथा—

जिस भाव का स्वरूप सजातीय और विजातीय भावों से तिरस्कृत न किया जा सके, और जब तक रस का आस्वादन हो तब तक वर्त्तमान रहे उसे स्थायी भाव कहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं—पूर्वोक्त रति आदि नौ भावों में से अन्यतम (कोई एक) होना ही स्थायी भाव का परिचायक है। सो नहीं हो सकता; क्योंकि रति आदिकों में से किसी-एक के बढ़े चढ़े हुए होने पर (उन्हीं में से) यदि अन्य कोई भाव बढ़ा चढ़ा न हो, तो उसको व्यभिचारी भाव माना जाता है। बढ़े चढ़े हुए का क्या अर्थ है सो भी समझ लीजिए। अधिक विभावादिकों से उत्पन्न हुए का नाम 'बढ़ा चढ़ा हुआ' है और थोड़े विभावादिकों से उत्पन्न हुए का नाम है 'नहीं बढ़ा चढ़ा हुआ'। अतएव 'रत्नाकर' में लिखा है—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः॥

अर्थात् अधिक विभावादिकों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं, और वे ही जब थोड़े विभावादिकों से उत्पन्न होते

हैं तो व्यभिचारी कहलाते हैं। इस तरह मान लेने पर वीर-रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र-रस के प्रधान होने पर उत्साह और शृंगार-रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी होता है और बिना उनके वे रस रहते ही नहीं, यह भी सिद्ध है। जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिये उस (अंगभूत भाव क्रोध-आदि) को भी अधिक विभावादिकों से अभिव्यक्त किया जाता है, तो वह 'रसालंकार' कहलाने लगता है—इत्यादि समझ लेना चाहिए।

स्थायी भावों के लक्षण

१—रति

स्त्री-पुरुष की, एक दूसरे के विषय में, प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे **'रति'** स्थायी भाव कहते हैं। वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तो व्यभिचारी भाव कहलाता है।

२—शोक

पुत्र-आदि के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने-वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्तवृत्ति होती है, उसे **'शोक'** कहते हैं। परंतु स्त्री-पुरुष के वियोग में, जब तक प्रेमपात्र के जीवित होने का ज्ञान हो, तब तक व्याकुलता से पुष्ट किए हुए प्रेम की ही प्रधानता रहती है, अतः 'विप्रलंभ' नामक शृंगार-रस होता है। उस समय जो व्याकुलता रहती है, वह व्यभिचारी भाव मात्र है। पर यदि प्रेमपात्र के मरने का

पता लग जाय तो व्याकुलता प्रधान रहती है, और प्रेम उसे पुष्ट करता है, इस कारण वहाँ करुण-रस ही होता है। और जब कि मर जाने का ज्ञान होने पर भी देवता की प्रसन्नता आदि से, किसी प्रकार, उसके पुनः जीवित होने का ज्ञान हो सके, तो आलंबन (प्रेमपात्र) के सर्वथा नष्ट न हो जाने के कारण, लंबे परदेशवास की तरह, 'विप्रलंभ' ही होता है, 'करुण' नहीं; जैसा कि (कादंबरी में) चन्द्रापीड़ से महाश्वेता ने जो बातें की हैं, उनमें। कुछ लोगों की इच्छा है—ऐसी जगह एक दूसरा ही रस मानना चाहिए, जिसका नाम 'करुण-विप्रलंभ' है।

३—निर्वेद

जिसकी (वेदांत आदि के द्वारा) नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार से उत्पत्ति होती है, और जिसका नाम विषयों से विरक्ति है उसे **'निर्वेद'** कहते हैं। वही निर्वेद यदि घर के झगड़े आदि से उत्पन्न हुआ हो, तो व्यभिचारी भाव होता है।

४—क्रोध

जिसकी, गुरु अथवा बंधु के मरने आदि—किसी प्रबल अपराध—के कारण, उत्पत्ति होती है, और जिसका नाम जलन है, उसे **'क्रोध'** कहते हैं। यह शत्रु-विनाश आदि का कारण होता है। यही जलन यदि किसी छोटे मोटे अपराध से उत्पन्न हुई हो, तो कठोर वचन और मौन-आदि का कारण

होती है, तब वह अमर्ष नामक व्यभिचारी कहलाती है। 'अमर्ष' और 'क्रोध' में यही भेद है।

५—उत्साह

जिसकी, शत्रु के पराक्रम तथा किसी के दान आदि के स्मरण से, उत्पत्ति होती है, और जिसका नाम उन्नतता है, उसे '**उत्साह**' कहते हैं।

६—विस्मय

जिसकी, अलौकिक वस्तु के देखने आदि से, उत्पत्ति होती है, और जिसका नाम आश्चर्य है, उसे '**विस्मय**' कहते हैं।

७—हास

जिसकी, वाणी एवं अंगों के विकारों के देखने आदि से, उत्पत्ति होती है, और जिसका नाम खिल जाना है, उसे '**हास**' कहते हैं।

८—भय

जिसकी, व्याघ्र आदि के देखने आदि से उत्पत्ति, होती है, और जो प्रबल अनर्थ के विषय में हुआ करती है, एवं जिसका नाम व्याकुलता है, उसे '**भय**' कहते हैं। यदि वही व्याकुलता किसी प्रबल अनर्थ के विषय में न हुई हो, तो उसे 'त्रास' नामक व्यभिचारी भाव कहते हैं। पर दूसरे विद्वानों का यह भी कथन है कि उत्पातकारी वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न हुई व्याकुलता का नाम 'त्रास' है, और अपने अपराध के द्वारा उत्पन्न होनेवाली का नाम 'भय'। भय और त्रास में यह भेद है।

९—जुगुप्सा

किसी घृणित वस्तु के देखने से जो घृणा नामक एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे '**जुगुप्सा**' कहते हैं।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव

इन्हीं स्थायी भावों को हम लोग, संसार में, उन उन नायकों में देखा करते हैं। ऐसे स्थानों पर जो वस्तुएँ उन चित्तवृत्तियों के आलंबन—अर्थात् विषय—अथवा उद्दीपन—अर्थात् जोश देनेवाली—होने के कारण, 'कारण' रूप से प्रसिद्ध हैं; वे ही काव्य अथवा नाटक में इन (स्थायी भावों) के अभिव्यक्त होने पर '**विभाव**' कहलाने लगती हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार विभाव—शब्द का अर्थ (रति आदि के) 'उत्पन्न करनेवाले' अथवा 'समृद्ध करनेवाले' हैं।

उन स्थायी भावों से जो कार्य उत्पन्न होते हैं—जैसे रोमांचादिक; उन्हें '**अनुभाव**' कहते हैं; क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार अनुभाव शब्द का अर्थ 'जो (स्थायी भावों के) अनंतर उत्पन्न हों' अथवा 'जो उनका अनुभव करावें' यह है।

जो स्थायी भावों के साथ में रहनेवाली चित्तवृत्तियाँ होती हैं—जैसे चिंता आदि, उन्हें '**व्यभिचारी भाव**' कहते हैं।

विभावादि के कुछ उदाहरण

शृंगार-रस के स्त्री पुरुष आलंबन विभाव; चाँदनी, वसंत ऋतु, अनेक प्रकार के बाग बगीचे, सुखप्रद पवन और एकांत स्थान आदि उद्दीपन विभाव; प्रेमपात्र के मुख का दर्शन, उसके

गुणों का श्रवण और कीर्तन आदि एवं कंप, रोमांच आदि 'सात्त्विक भाव' अनुभाव; और स्मरण, चिंता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

करुण-रस के बंधु का नष्ट हो जाना आदि आलंबन विभाव; उसके घर, घोड़े, गहने आदि का देखना आदि तथा उसकी बातें सुनना आदि उद्दीपन विभाव; शरीर का पछाड़ना (छटपटाना) और अश्रुपात आदि अनुभाव और ग्लानि, श्रम, भय, मोह, विषाद, चिंता, औत्सुक्य, दीनता और जड़ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

शांत-रस के अनित्य रूप से समझा हुआ जगत् आलंबन विभाव; वेदांत का सुनना, तपोवन एवं तपस्वियों का दर्शनादि उद्दीपन विभाव; विषयों से अरुचि, शत्रु-मित्रादिकों से उदासीनता, निश्चेष्टता, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि आदि अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मृति, मति आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

रौद्र-रस के अपराध करनेवाला पुरुष आदि आलंबन विभाव; उसका किया हुआ अपराध आदि उद्दीपन विभाव; लाल नेत्र करना, दाँत चबाना, कठोर भाषण करना, शस्त्र उठाना इत्यादि, जिनका फल वध अथवा बंधन आदि हैं, अनुभाव; और अमर्ष, वेग, उग्रता, चपलता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। इत्यादि।

इस तरह जो चित्तवृत्ति जिसके विषय में होती है, वह उसका आलंबन और जो निमित्त हैं, वे उद्दीपन होते हैं—यह समझ लेना चाहिए।

रसों के अवांतर भेद और उदाहरण आदि

शृंगार-रस

शृंगार-रस दो प्रकार का है—संयोग और विप्रलंभ। यदि स्त्री पुरुषों के संयोग के समय में प्रेम हो, तो 'संयोग-शृंगार' कहलाता है, और यदि वियोग के समय में हो, तो 'विप्रलंभ-शृंगार'। पर संयोग का अर्थ 'स्त्री-पुरुषों का एक स्थान पर रहना' नहीं है; क्योंकि एक पलँग पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि हों, तो 'विप्रलंभ-रस' का ही वर्णन किया जाता है। इसी तरह वियोग का अर्थ भी 'अलग अलग रहना' नहीं है; क्योंकि वही दोष यहाँ भी कहा जा सकता है। अतः यह मानना चाहिए कि 'संयोग' और 'वियोग' ये दोनों एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं, और वे हैं 'मिला हुआ हूँ' और 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान। उनमें से 'संयोग-शृंगार' का उदाहरण 'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा...' एवं 'सोई सविध सकी न करि......' इत्यादि पहले वर्णन कर चुके हैं। जो कि 'चित्र-मीमांसा' में लिखा है—"**वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥** (अर्थात् वाणी और अर्थ की तरह मिले हुए, जगत् के जननी-जनक पार्वती और परमेश्वर (शिव) को, वाणी और अर्थ के ज्ञान के लिये, अभिवादन करता हूँ) इस पद्य में शृंगार-रस की ध्वनि है; क्योंकि इससे शिव-पार्वती का सर्वाधिक प्रेमयुक्त होना ध्वनित होता है।" सो यह

ध्वनि के मार्ग को न समझने के कारण लिखा गया है। इस श्लोक में पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि का प्रेम प्रधान है, और उन दोनों (शिव-पार्वती) का पारस्परिक प्रेम उसकी अपेक्षा गौण हो गया है; और गौण रति आदि के कारण काव्य को 'रस-ध्वनि' कहना उचित नहीं; क्योंकि यह सिद्धांत है—

भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः।

अर्थात् जिसको अलंकारादिकों से शोभित किया जाता है, वह (रसादिक) रस-भाव आदि को शोभित करनेवाले अलङ्कार रूप रस आदि से भिन्न है। तात्पर्य यह कि जिनके कारण काव्य को 'ध्वनिरूप' कहा जाता है, वे रसादिक किसी की अपेक्षा गौण नहीं होते, उन्हें अन्य अलंकारादिक शोभित करते हैं, वे किसी को नहीं। दूसरे रसादिकों को अलङ्कृत करनेवाले रसादिक उनसे भिन्न हैं। यह तो हुई 'संयोग-शृंगार' की बात; अब 'विप्रलंभ-शृंगार' का उदाहरण सुनिए; जैसे—

वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा।
निःश्वासग्लपिताधरोपरिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव! शिव! प्राणेशमालोकते॥

× × × ×

पिय-गौन-समै सब लोग करैं बहु भाँति उचारन मंगल-बानी।
मुख-कंज दिए रति-मंदिर के सुठि गोख के द्वार महा-अकुलानी॥

अति-साँस ते सूखे भए अधरा पर ते कुच डारती लोचन-पानी ।
वह बालिका चंचल नैनन ते निज-नाथ निहारत हाय! अयानी ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—पतिदेव के परदेश जाने का समय है, लोग अत्यधिक मांगलिक वचन बोल रहे हैं, पर वह चंचलनयनी बालिका (नवोढ़ा) रति-भवन के झरोखे में मुख-कमल डाले हुए बैठी है, अत्यंत श्वासों के कारण कुम्हलाए हुए अधरों पर अश्रु गिर रहे हैं और उनसे कुच भीग गए हैं। शिव ! शिव !! ऐसी दशा को प्राप्त हुई वह अपने प्राणनाथ को देख रही है। उस बेचारी को न यह बोध है कि अश्रु गिरने से अशकुन होगा और न यही शंका है कि लोग क्या कहेंगे !

इस पद्य में (नायिका के प्रेमपात्र) नायकरूपी आलंबन के, निःश्वास, अश्रु-पातादिरूप अनुभाव के और विषाद, चिंता, आवेग आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से ध्वनित हुई नायिका की रति, वियोग-काल में होने के कारण 'विप्रलंभ रस' के निर्देश का कारण है। अथवा; जैसे—

आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा ।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डयुग्मे
शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ॥

× × × ×

जनमी जब ते जग में सजनी, मधु-धारन की बरसावनहारी।
ब्रजराजकिशोर की कान्ति कछू जन-नैन-विमोहिनी कामनगारी॥
तबते सगरी कुल-नारिन की सब हालत हाय! भई कछु न्यारी।
मुख दीरघ सांस, कपोलन पै सितता, हिय में भइ शून्यता भारी॥

जब से मधु बरसानेवाली और सब मनुष्यों के नेत्रों को आकर्षण करने का जादू जाननेवाली नंद-नंदन की अनिर्वचनीय कांति उत्पन्न हुई है तब से कुलांगनाओं के मुख में दीर्घ श्वास, दोनों कपोलों पर सफेदी एवं चित्त में शून्यवृत्ति (विचार-रहितता) उत्पन्न हो गई है। अथवा; जैसे—

नयनाञ्चलावमर्शं या न कदाचित् पुरा सेहे।
आलिङ्गिताऽपि जोषं तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन॥

× × × ×

नैन-कोन को मिलन जो सहन कियो कबहूँ न।
आलिङ्गित हू पिय-गवन वहै करति है चूँ न॥

जिस नायिका ने, पहले कभी, नेत्र के प्रांत का मिल जाना भी सहन न किया था, वही (वियोग के समय) परदेश जाने-वाले पति से आलिंगन की हुई भी चुप खड़ी थी, चूँ भी न करती थी। इस पद्य में भी स्वाभाविक चंचलता की निवृत्ति अनुभाव और जड़ता व्यभिचारी भाव है।

प्राचीन आचार्यों ने इस—विप्रलंभ रस—को प्रवास आदि उपाधियों से पाँच प्रकार का माना है; पर

प्रवास*, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शाप के कारण जो वियोग होते हैं, उनमें कोई विशेषता न समझ पड़ने के कारण हमने उनका विस्तार नहीं किया।

करुण-रस; जैसे—

अपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम्।
हा! तनय!! विनयशालिन्!!! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः॥

※ ※ ※ ※

सब बंधुन को सोच तजि तजि गुरुकुल को नेह।
हा! सुशील सुत!! किमि कियो अनत लोक तैं गेह॥

हाय! अत्यंत सुशील बेटे! तू सब बंधुओं की चिंता को त्यागकर और गुरुकुल के प्रेम को भी हटाकर किस तरह परलोक का पथिक हो गया!!

यहाँ मरा हुआ पुत्र आलंबन है, उस समय में आए हुए बांधवों का दर्शन आदि उद्दीपन हैं, रोना अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं।

शांत-रस; जैसे—

मलयानिलकालकूटयो रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः।
श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा मम जाता परमात्मनि स्थितिः॥

※ ※ ※ ※

---

* प्रिय के परदेश जाने की हालत में प्रवासरूप, समागम से पूर्व ही गुणश्रवण आदि से अभिलाषरूप, गुरुजनों की लज्जादि के कारण रुकने पर विरहरूप, मान से ईर्ष्यारूप और जिस तरह शकुंतला को दुर्वासा के शाप से वियोग हुआ उस तरह होने पर शापरूप उपाधियाँ हुआ करती हैं जिनके कारण वियोग को पाँच प्रकार का कहा जाता है—यह है प्राचीन आचार्यों का अभिप्राय।

मलय-अनिल अरु गुरु गरल, तिय-कुन्तल अहि-देह।
सुपच रु विधि को भेद तजि मम थिति भई अछेह॥

मलयाचल के वायु और विष में, स्त्रियों के सिंदूर-पूरित केश और सर्प के शरीर में एवं चण्डाल तथा ब्रह्मा में भेद-भाव-रहित मेरी स्थिति, परमात्मा में, हो गई है।

यहाँ सब जगत् आलंबन है, सब व्यक्तियों और वस्तुओं में समानता अनुभाव है और मति आदि संचारी भाव हैं। यद्यपि पूर्वार्ध में पहले उत्तम (मलय-पवन आदि) का वर्णन और पीछे अधम (विष आदि) का वर्णन है; पर उत्तरार्ध में पहले अधम (श्वपच) का और पीछे उत्तम (ब्रह्मा) का वर्णन है; अतः 'प्रक्रम-भंग' दोष है—अर्थात् जिस क्रम से प्रारंभ किया गया, उसी क्रम का समाप्तिपर्यंत निर्वाह नहीं हो सका; तथापि "कहनेवाला ब्रह्मरूप होने के कारण, उत्तम-अधम के ज्ञान से रहित हो गया है" यह बात प्रकाशित करने के लिये 'क्रमभंग' गुण ही है—अर्थात् इससे वक्ता की उत्तमाधम-ज्ञान-शून्यता प्रकाशित होती है, जो कि ब्रह्म-ज्ञानी के लिये आवश्यक है। सो यह दोष नहीं, गुण है। यह तो हुआ शांतरस का उदाहरण; अब उसका प्रत्युदाहरण भी सुनिए—

सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन्नयनयो-
र्विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान्।

विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुर-मधुरायां चिति कदा
निमग्नः स्यां कस्याञ्चन नव-नभस्याम्बुदरुचि ॥

❀ ❀ ❀ ❀

श्रीगंगा के पुलिन बैठि करि नयन-निमीलन।
तजिके महा-उपाधिरूप ये सकल विषय-गन॥
अन्तःकरण मलीन करि दियो जाने इकदम।
करिके दूर समग्र वहै अज्ञानरूप तम॥
भादौं के नव-घन-सरिस परम मनोहर कान्तिमय।
मधुर मधुर चैतन्य में होवेगो कब मम विलय॥

श्रीगंगाजी के वालुकामय तट पर बैठा हुआ मैं, आँखें मींच-कर, सब सांसारिक विषयों को, उसी समय, दूर हटाकर एवं अंतःकरण के अंधकार (अज्ञान) से रहित होकर, भाद्रपद के नवीन मेघ के समान कांतियुक्त किसी (अनिर्वचनीय) परम-मधुर चैतन्य में कब निमग्न हो जाऊँगा—उसकी तन्मयता मुझे कब प्राप्त होगी !

यद्यपि इस पद्य में भी विषयों का निरादर आलंबन है, गंगा के तट आदि उद्दीपन हैं, आँखों का मींचना आदि अनु-भाव हैं और उनके संयोग से स्थायी भाव निर्वेद की प्रतीति होती है; तथापि भगवान् वासुदेव को प्रेमपात्र मानकर जो कवि का प्रेम है, उसकी अपेक्षा निर्वेद गौण हो गया है; इस कारण निर्वेद के रहते हुए भी यह पद्य 'शांत-रस' की ध्वनि नहीं कहा जा सकता। यह पद्य मेरी (पंडितराज की)

बनाई हुई 'करुणा-लहरी' नामक पुस्तक में लिखा गया है और उसमें भाव (भगवत्प्रेम) ही प्रधान है, अतः इस पद्य में भी उसी की प्रधानता उचित है। दूसरे, इस पद्य की ओजस्विनी रचना भी शांत-रस के प्रतिकूल है, इस कारण भी इसे उसके उदाहरण रूप में उपस्थित करना उचित नहीं। यदि कहो कि 'मलयानिलकालकूटयोः......' इस पूर्वोक्त पद्य में भी 'परमात्मा में स्थिति' का वर्णन है, अतः वहाँ भी भाव प्रधान होना चाहिए, उसे शांत-रस का उदाहरण कैसे कह दिया; तो उसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति हो गई है' यह लिखा है, सो उसे अपने आत्मा में भगवद्रूपता का बोध होने के कारण प्रेम की प्रतीति नहीं होती; क्योंकि प्रेम पृथक् समझने पर ही हो सकता है, ऐक्यज्ञान होने पर नहीं।

रौद्र-रस; जैसे—

नवोच्छलितयौवनस्फुरदखर्वगर्वज्वरे
मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गल-
स्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः॥

❀ ❀ ❀ ❀

नव-जौवन की बाढ़ ते बढ़े गरब ते फाटि।
मेरे गुरु को धनुष यह निरभै ह्वै दिय काटि॥
निरभै ह्वै दिय काटि अबै यह अतिसय भीषण।
दृप्त भूपाल-कंठ-शोणित करि भक्षण॥

मेरो फरसा पड़े तासु ऊपर निर्दय-मन ।
ह्वै जावै परतच्छ वच्छ को सब नव-जौवन ।।

सीता-स्वयंवर में, परशुराम ने, जब धनुष के टुकड़े हुए देखे तो उनसे न रहा गया। वे बोले—किसी को, नवयौवन की उमंग के कारण, अभिमानरूपी ज्वर तेज हो गया है, तभी तो उसने निर्भय होकर मेरे गुरु—भगवान् शिव—का धनुष तोड़ डाला। अच्छा, अब (मेरी इच्छा है कि) उसके ऊपर यह मेरा भयंकर फरसा निर्दयता के साथ गिरे, जिसने काटे हुए अभिमानी भूमिपतियों के गले से झरते हुए रुधिर का पान किया है। मैं चाहता हूँ कि उस उन्मत्त की निर्दयतापूर्वक खबर ली जाय।

यहाँ जिसको परशुराम ने, उस समय, यह नहीं जाना था कि 'यह भगवान् राम हैं', वह गुरु (शिवजी) के धनुष को तोड़ देनेवाला आलंबन है। गुरुद्रोही का नाम न लेना चाहिए इस कारण, अथवा क्रोध उत्पन्न हो जाने के कारण, 'तोड़नेवाला' यह विशेषण मात्र ही कहा गया है, विशेष्य (तोड़नेवाले का नाम) नहीं कहा गया। एक प्रकार की भुवन व्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ 'निर्भय होकर धनुष तोड़ देना' उद्दीपन है, कठोर वचन अनुभाव है और गर्व, उग्रता आदि संचारी भाव हैं। यह धनुष के भंग की ध्वनि से समाधि टूट जाने पर परशुरामजी की उक्ति है। इस पद्य की अत्यंत उद्धत रचना भी रौद्ररस की परम ओजस्विता को पुष्ट करती है।

यद्यपि अन्यत्र गुरु का स्मरण होने पर अहंकार का निवृत्त हो जाना आवश्यक है; पर इस प्रसंग में, ऐसे अवसर पर भी, गर्व का उत्कर्ष प्रकाशित होने से परशुरामजी की विवेकरहितता स्पष्ट प्रतीत होती है, और उसके द्वारा उनके क्रोध की अधिकता ज्ञात होती है। यहाँ गर्व का उत्कर्ष प्रकाशित करनेवाला, गुरु के साथ लगा हुआ 'मेरे' शब्द है; उससे 'अजहत्स्वार्था लक्षणा' के द्वारा यह ध्वनित होता है कि "मैं पृथ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय करनेवाला हूँ (फिर मेरे गुरु के धनुष को कौन छू सकता है)"। यह तो है उदाहरण, अब प्रत्युदाहरण सुनिए—

धनुर्विदलनध्वनिश्रवणतत्क्षणाविर्भव-
न्महागुरुवधस्मृतिः श्वसनवेगधूताधरः।
विलोचनविनिःसरद्बहलविस्फुलिङ्गव्रजो
रघुप्रवरमाक्षिपञ्जयति जामदग्न्यो मुनिः॥

❀ ❀ ❀ ❀

धनु-विदलन को शब्द सुनि स्मरण भयो तत्काल।
परम-गुरू जमदग्नि के वध को सब अहवाल॥
वध को सब अहवाल सांस कंपे दशनच्छद।
नैननि निकसत उग्र आग के कनिका बेहद॥
जयति परशुधर राम राम पै ह्वै निर्दय मन।
करत प्रबल आक्षेप कियो क्यों तैं धनु-विदलन॥

जिनको धनुष टूटने का शब्द सुनते ही, तत्काल, महागुरु जमदग्नि के वध का स्मरण हो आया; अतएव श्वास-वायु के वेग

से नीचे का होठ फड़कने लगा और नेत्रों से आग की चिन-गारियों का भारी समूह निकलने लगा, ऐसी दशा में रामचंद्र पर आक्षेप करते हुए मुनि परशुराम सबसे उत्कृष्ट हैं।

यहाँ भी, यद्यपि अपराधपात्र भगवान् रामचंद्र आलंबन हैं, धनुष टूटने के शब्द का सुनना उद्दीपन है, श्वास तथा नेत्रों का जलना आदि अनुभाव हैं, पिता के वध का स्मरण, गर्व और उग्रता आदि संचारी भाव हैं और इनके द्वारा क्रोध अभिव्यक्त होता है; तथापि जिसके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उस कवि के प्रेम की अपेक्षा क्रोध गौण हो गया है, अतः उसके कारण इस पद्य को रौद्र-रस की ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

अच्छा, अब यहाँ एक प्रसंगप्राप्त बात भी सुन लीजिए। 'काव्य-प्रकाश' में रौद्र-रस का यह उदाहरण दिया गया है—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिना—
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्॥'

'वेणीसंहार' नाटक के तृतीय अंक में द्रोण-वध से कुपित अश्वत्थामा की, अर्जुन आदि के प्रति, यह उक्ति है—

शस्त्र उठानेवाले जिन मर्यादारहित, नरपशुओं ने गुरु (द्रोणाचार्य) का वधरूपी पातक किया है या उसमें अनुमति दी

है अथवा उसे आँखों देखा है,—कृष्ण, भीम और अर्जुन के साथ साथ—उन सभी लोगों के रुधिर, मज्जा तथा मांस से अकेला ही मैं दिग्देवताओं की बलि करता हूँ।

इस पद्य की रचना रौद्र-रस को व्यक्त नहीं कर सकती—इस रचना में वह शक्ति नहीं कि जिसके सुनते ही यह पता लग जाय कि यह रौद्र-रस के वर्णन का पद्य है; सो यह उस पद्य के निर्माता की अशक्ति ही है।

वीर-रस

वीर-रस चार प्रकार का है; क्योंकि वीर-रस का स्थायी भाव जो 'उत्साह' है, वह दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार कारणों से चार प्रकार का है। उनमें से पहला—अर्थात् दानवीर; जैसे—

कियदिदमधिकं मे यद् द्विजायार्थयित्रे
कवचमरमणीयं कुंडले चार्पयामि।
अकरुणमवकृत्य द्राक् कृपाणेन निर्य-
द्बहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि॥

❀ ❀ ❀ ❀

अरपे याचत दुजहिं कवच कुंडल साधारण।
कहहु कहा यह अधिक भयो मम हे सदस्य-गण॥
निर्दयता से काटि कंठ झट पट्ट खड्ग सन।
भूरि रक्त की धार झरत शिर करौं निवेदन॥

मेरे लिये यह क्या अधिक बात है कि मैं माँगने आए हुए ब्राह्मण को, साधारण से, कवच और कुंडल अर्पण कर रहा हूँ। लीजिए, यदि वह चाहे तो, निर्दयता के साथ, तलवार से तत्काल काटकर गहरी रुधिर-धारा झरते हुए (अपने) शिर को भी निवेदन कर रहा हूँ। यह, ब्राह्मण का वेष धारण करके आए हुए इंद्र को कवच और कुण्डल देने के लिये उद्यत देखकर, उस दान से आश्चर्ययुक्त सभासदों के प्रति, कर्ण का कथन है।

यहाँ माँगनेवाला आलंबन है, उसकी वर्णन की हुई स्तुति उद्दीपन है, कवचादिक का दान करना और उनको साधारण समझना अनुभाव है और 'मेरे लिये' इस शब्द से 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' से सूचित किया हुआ गर्व एवं अलौकिक पिता भगवान् भुवन-भास्कर से अपने उत्पन्न होने आदि का स्मरण संचारी भाव हैं। इस पद्य की रचना भी उन उन अर्थों के अनुकूल ओज और मृदुता दोनों से युक्त होने के कारण सहृदयों के हृदय (अन्त:करण) में चमत्कार उत्पन्न कर देनेवाली है। देखिए—पूर्वार्ध में कवच और कुण्डल के अर्पण को साधारण बताना उत्साह का पोषक है इसलिये उसके अनुकूल मृदुरचना है, और उत्तरार्ध में '......मौलि' के पहले, वक्ता के गर्व और उत्साह को पुष्ट करने के लिये, उद्धत है; पर उसके बाद ब्राह्मण के विषय में विनययुक्तता प्रकाशित करने के लिये फिर मृदु है। इसी कारण 'निवेदन कर रहा हूँ'

कहा, 'देता हूँ' अथवा 'वितरण करता हूँ' नहीं। निम्न-लिखित पद्य 'दान-वीर' का उदाहरण नहीं हो सकता—

यस्योद्दामदिवानिशार्थिविलसद्दानप्रवाहप्रथा-
माकर्ण्यावनिमण्डलागतवियद्वन्दीन्द्रवृन्दाननात्।
ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकरव्यावल्गदूधःस्रव-
त्पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पयोदायते॥

❀ ❀ ❀ ❀

जाचक-जन-हित नित्य सुभग निरवधि वितरन ते।
उपजी कीरति जासु, फिरे जे मनुज-भुवन ते॥
तिन बंदिन मुख जानि होत ईर्ष्या अति भारी।
ताते इकदम फूलि उठत रोमावलि सारी॥
सो चञ्चल-गादी गिरत नव-पय-चय-आसार सन।
होत सुरेश्वर की सुरभि ज्यों पावस को सघन घन॥

भूमंडल से लौटकर आए हुए स्वर्गीय बंदीजनों के समूह के मुख से, जिसकी, याचक लोगों में सुशोभित होनेवाली रात-दिन दान के प्रवाह की ख्याति को सुनकर ईर्ष्या के कारण अत्यंत पुलकित कामधेनु फड़कती हुई गादी में से झरते हुए नवीन दुग्ध के समूहों के कारण वर्षा ऋतु के मेघ सी बन जाती है—उसके स्तनों से दूध की अविरल धारा प्रारंभ हो जाती है।

यहाँ इंद्र-सभा में बैठे हुए सब दर्शक लोग आलंबन हैं, भूमंडल से आए हुए स्वर्गीय बंदीजनों के मुख से किए हुए राजा

के दान का वर्णन उद्दीपन है, गादी से झरते हुए नवीन दूध का समूह अनुभाव है और ईर्ष्या के द्वारा ध्वनित हुई राजा के दान-वर्णन को साधारण दिखाने की बुद्धि, जिसे 'असूया' कहना चाहिए, वह और अन्य ऐसी ही चित्तवृत्तियाँ संचारी भाव हैं। इनके संयोग से यद्यपि कामधेनु का उत्साह अभिव्यक्त होता है; तथापि वह राजा की स्तुति की अपेक्षा गौण हो गया है, अत: उसको लेकर यहाँ वीर-रस नहीं कहा जा सकता। इसी कारण यह उदाहरण भी नहीं बन सकता—

साब्धिर्द्वीपकुलाचलां वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां
सर्वां द्यामपि सस्मितेन हरिणा मन्दं समालोकितः।
प्रादुर्भूतपरप्रमोदविदलद्रोमाञ्चितस्तत्क्षणं
व्यानम्रीकृतकन्धरोऽसुरवरो मौलिं पुरो न्यस्तवान्।

❀ ❀ ❀ ❀

उदधि, दीप, कुल-अचल सहित सब भुवहिं स्ववश कै।
सब सुरगहु कों; लगे देखिबे हरि सस्मित ह्वै॥
उपज्यो परम प्रमोद, भयो पुलकित, अरु सत्वर।
शिर आगे धरि दीन्ह असुर, करि नम्र शिरोधर॥

समुद्रों, द्वीपों एवं कुलपर्वतों के सहित पृथ्वी को और सात कोटवाले समग्र स्वर्ग को भी आक्रमण करने के अनन्तर भगवान् वामन ने जब कुछ हँसकर राजा बलि की तरफ (तीसरे पैंड के लिये) थोड़ा सा देखा, तो उस असुरश्रेष्ठ ने अत्यन्त

आनन्द की उत्पत्ति के कारण पुलकित होकर, तत्काल गरदन नीची करके सिर सामने रख दिया, कहा—लो, एक पैर इस पर भी धरकर इसे भी स्वीकार कर लो।

यहाँ भगवान् वामन आलंबन हैं, उनका थोड़ा सा देखना उद्दीपन है, रोमांचादिक अनुभाव हैं और हर्षादिक संचारी भाव हैं। यद्यपि इनके संयोग से 'उत्साह' अभिव्यक्त होता है, तथापि वह गौण हो गया है; क्योंकि जिस तरह पहले पद्य में दूसरे (कामधेनु) का उत्साह राजा की स्तुति को उत्कृष्ट करनेवाला था, उसी तरह यहाँ राजा (बलि) का उत्साह भी राजा की स्तुति को उत्कृष्ट करता है; सो स्तुति प्रधान हुई और उत्साह गौण।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि काव्यपरीक्षा-कर्त्ता श्रीवत्सलांछन भट्टाचार्य ने जो वीर-रस का यह उदाहरण दिया है—

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान् देवः पिनाकी गुरुः
शौर्यं यत्तु न तद् गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभिः।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
क्षत्त्रब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किंवा न लोकोत्तरम्॥'

'महावीरचरित' नाटक के द्वितीय अंक में धनुष तोड़ने से कुपित परशुराम के प्रति यह रामचन्द्र की उक्ति है—

भगवन्! आपकी महिमा लोकोत्तर है, आपके पिता महर्षि जमदग्नि हैं, आपने साक्षात् शिवजी से धनुर्वेद का अध्य-

यन किया है, आपकी वीरता तो आपके कर्त्तव्यों से ही स्पष्ट है। उसके वर्णन के लिये शब्द नहीं मिलते। आपके त्याग का तो कहना ही क्या? सप्त समुद्र मुद्रित पृथ्वी का, विना किसी लगाव या स्वार्थ के, दे डालना हँसी खेल नहीं है। आप ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों की तपस्या के निधान हैं। आपकी सभी बातें निराली हैं।—वह उदाहरण ठीक नहीं; क्योंकि वह भी दूसरे का अंग होने से गुणीभूत व्यंग हो गया है। 'रसध्वनि' में वह उदाहरण उचित नहीं।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि—आपने जो 'दान-वीर' का उदाहरण दिया है 'अकरुणमवकृत्य·····इत्यादि'; उसमें प्रतीत होनेवाला 'दान-वीर (रस)' भी कर्ण की स्तुति का अंग है—उससे भी कर्ण की प्रशंसा सूचित होती है; अतः उसे आपने ध्वनि-काव्य कैसे बताया? हाँ, यह सच है; पर, थोड़ा ध्यान देकर देखिए, उस पद्य में कवि का तात्पर्य तो कर्ण के वचन का केवल अनुवाद करने मात्र में है, कर्ण की स्तुति करना तो उसका प्रतिपाद्य है नहीं; और कर्ण है महाशय, इस कारण उसका भी अपनी स्तुति में तात्पर्य हो नहीं सकता; क्योंकि अपनी बड़ाई करना क्षुद्राशयों का काम है। सो उस वाक्य का अर्थ (तात्पर्य) तो कर्ण की स्तुति है नहीं; किंतु वीर-रस की प्रतीति के अनंतर, वैसे उत्साह के कारण, रसज्ञों के हृदय में वह (स्तुति) अनुमित होती है। पर जहाँ राजा का वर्णन हो, वहाँ तो राजा की स्तुति में ही पद्य का तात्पर्य रहता है;

अतः वह स्तुति वाक्यार्थ रूप होती है, सो उसे प्रधान माने बिना गुज़ारा नहीं। दूसरा दयावीर; जैसे—

न कपोत! भवंतमण्वपि स्पृशतु श्येनसमुद्भवं भयम्।
इदमद्य मया तृणीकृतं भवदायुःकुशलं कलेवरम्॥

❀ ❀ ❀ ❀

जनि कपोत, तुहि तनिक हूँ छुवै बाज-भय, आज।
यह तन तिनका मैं कियो तेरे जीवन-काज॥

हे कबूतर, (मैं चाहता हूँ कि) बाज का भय तेरा किंचिन्मात्र भी स्पर्श न करे। आज, मैंने, तेरे जीवन को कुशलता प्रदान करनेवाले इस शरीर को तिनका बना दिया है—मैं इस शरीर को तिनके की तरह समझकर नष्ट कर रहा हूँ और चाहता हूँ कि बाज के द्वारा तुझे किसी प्रकार का भय न हो। अथवा इस पद्य की रचना यों समझिए—

न कपोतकपोतकं तव स्पृशतु श्येन मनागपि स्पृहा।
इदमद्य मया समर्पितं भवते चारुतरं कलेवरम्॥

❀ ❀ ❀ ❀

जनि कपोत-पोतहि छुवै तनिक हु तुव मन बाज!
यह तुव हित अरपन कियो सुघर कलेवर आज॥

हे बाज! (मैं चाहता हूँ कि) तेरी इच्छा (इस) कबूतर के बच्चे का किंचिन्मात्र भी स्पर्श न करे। मैंने, आज, तेरे लिये इस परम रमणीय शरीर का समपर्ण कर दिया है—

निर्मम होकर, इसे, तिनके की तरह तुझे सौंप दिया है। यह राजा शिबि की, पहले पद्य में कबूतर के प्रति और दूसरे पद्य में बाज के प्रति, उक्ति है।

यहाँ कबूतर आलंबन है, उसका व्याकुल होना उद्दीपन है और उसके लिये अपने शरीर का अर्पण करना अनुभाव है।

पर यह कहना कि 'इस पद्य में शरीर के दान की प्रतीति होती है, इस कारण यह दानवीर की 'ध्वनि' हो जायगा, उचित नहीं; क्योंकि बाज का कबूतर खाद्य पदार्थ है, अतः वह कबूतर का याचक हो सकता है, राजा के शरीर का नहीं। बाज को जो शरीर दान किया गया है, सो तो कपोत के शरीर की रक्षा के लिये बदले में दिया गया है, वह दान नहीं, किंतु 'लेन-देन' है। तीसरा युद्धवीर; जैसे—

रणे दीनान् देवान् दशवदन! विद्राव्य वहति
प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः।
ललाटोद्यज्ज्वालाकवलितजगज्जालविभवो
भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवर्गं कलयतु॥

❀ ❀ ❀ ❀

दीन-देवतनि दशवदन, रन छुड़ाइ तू आज।
है प्रभाव-शाली, कहा तोपै साज-समाज॥
तोपै साज-समाज भाल की धधकत झारन
जारि दियो जिन विश्व वहै शिव बूझै इहि रन॥

देखै मम कोदंड-मुक्त-शर-वेगहिँ तू जनि।
समुझै सगरे ठामु बापुरे दीन-देवतनि॥

हे दशानन! बेचारे देवताओं को रण में भगाकर भारी सामर्थ्य रखनेवाले तेरे विषय में तो मेरी यह तैयारी क्या हो सकती है—तू तो चीज ही क्या है; पर जिनके ललाट से निकली हुई ज्वालाओं से सारे संसार का वैभव भस्म हो जाता है, वे महादेव, मेरे धनुष से निकले हुए बाणों के वेग को झेलें। तात्पर्य यह कि तुझे तो मैं समझता ही क्या हूँ; पर यदि समग्र संसार के संहारक भगवान् शिव भी आवें तो वे भी मेरे बाणों के वेग को देखकर चकित हो सकते हैं। यह रावण के प्रति भगवान् राम की उक्ति है।

यहाँ महादेव आलंबन हैं, रण का देखना उद्दीपन है, रावण की अवज्ञा अनुभाव है और गर्व संचारी भाव है। रचना देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत नहीं है, जिसके द्वारा उनकी कायरता प्रकट होती है, और उससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामचंद्र उनको वीर-रस का आलंबन नहीं समझते। हाँ, रावण के प्रस्ताव में देवताओं के दर्प को दमन करनेवाली वीरता का प्रतिपादन करना है, अतः उद्धत है; पर उसकी अवज्ञा की गई है, राम उसे अपनी बराबरी का नहीं समझते, अतएव वह उनके उत्साह का आलंबन नहीं है सो उसे आलंबन मानकर रस की प्रतीति नहीं हो सकती; इस कारण उस रचना में उद्धतता का आधिक्य नहीं है। पर, भगवान् शिव परम

उत्तम आलंबन विभाव हैं, और उनको आलंबन मान कर ही ओजस्वी वीर-रस संपन्न होता है, अतः उनके प्रस्ताव में पूर्ण-तया उद्धत रचना है।

चौथा धर्मवीर; जैसे—

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतांतो मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात् ॥

❀ ❀ ❀ ❀

विलय होहु ततकाल राज्य-लक्ष्मी मम सारी।
अथवा ऊपर परहु खरग-धारा भयकारी ॥
हरहु कालहू सीस सहूँगो अविचल सब यह।
मेरी मति तो डिगै धरम ते तनिक न अब यह ॥

चाहे, राज्य-लक्ष्मी तत्काल विलीन हो जाय, अथवा तल-वारों की धाराएँ सिर पर पड़ें, यद्वा स्वयं काल शिर उतार ले; पर मेरी बुद्धि तो धर्म से किंचिन्मात्र भी नहीं हटती। यह 'अधर्म से भी शत्रु को जीतना चाहिए' यों कहनेवाले के प्रति महाराज युधिष्ठिर का कथन है।

यहाँ धर्म आलंबन है, **"न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः**(महाभारत उ० पर्व) (अर्थात् धर्म को काम, भय अथवा लोभ के लिये, किंबहुना, जीवन के लिये भी कभी न छोड़ना चाहिए)" इत्यादि शास्त्रीय वाक्यों की आलोचना उद्दीपन है, सिर के कटने आदि का अंगीकार करना अनुभाव है और धृति संचारी भाव है।

वीर-रस के, चार ही नहीं, अनेक भेद हो सकते हैं।

इस तरह प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से वीर-रस का चार प्रकार से वर्णन किया गया है; पर वास्तव में विचार किया जाय तो, शृंगार की तरह, वीर-रस के भी बहुतेरे भेद निरूपण किए जा सकते हैं। देखिए, यदि पूर्वोक्त 'सपदि विलयमेतु······' इत्यादि अथवा 'विलय होहु ततकाल······' इत्यादि पद्य में 'मम तु मतिर्न मनागपैति सत्यात्' अथवा 'मेरी मति तो डिगै सत्य ते तनिक न अब यह' इस तरह अंतिम चरण बदल दिया जाय तो 'सत्य-वीर' भी एक भेद हो सकता है। आप कहेंगे कि सत्य भी धर्म के अन्तर्गत है, इस कारण 'धर्मवीर-रस' में ही 'सत्य-वीर' का भी समावेश हो जाता है। तो हम कहते हैं कि दान और दया भी धर्म के अंतर्गत ही हैं, फिर 'दान-वीर' और 'दया-वीर' को भी अलग गिनना अनुचित है।

इसी तरह 'पांडित्य-वीर' भी प्रतीत होता है; जैसे—

अपि वक्ति गिरां पतिः स्वयं यदि तासामधिदेवताऽपि वा।
अयमस्मि पुरो हयाननस्मरणोल्लंघितवाङ्मयाम्बुधिः॥

*　　*　　*　　*

यदि बोलैं वाक्पति स्वयं कै सारद हू आइ।
हूँ तयार, हयमुख सुमिरि, सब-विधि विद्या पाइ॥

सभा में बैठकर एक पंडितजी कह रहे हैं—यदि स्वयं बृह-स्पति अथवा वाग्देवी भी बोलें, तो भी भगवान् हयग्रीव के स्मरण से समग्र साहित्य-समुद्र को पार करनेवाला यह मैं

सामने उपस्थित हूँ—आप लोगों का मुझे कुछ भी भय नहीं है, जिसकी इच्छा आवे, वह बात करले।

यहाँ बृहस्पति और सरस्वती आदि आलंबन हैं, सभा आदि का दर्शन उद्दीपन है, सब विद्वानों का तिरस्कार अनुभाव है, गर्व संचारी भाव परिपोषक है और इनसे पुष्ट किया हुआ वक्ता का उत्साह प्रतीत होता है। आप कहेंगे—यह तो 'युद्ध-वीर' ही है; क्योंकि युद्ध-शब्द से वाद-विवाद का भी संग्रह हो जाता है; क्योंकि वह भी एक प्रकार का झगड़ा ही है। तो हम कहते हैं—यों ही सही; पर 'क्षमा-वीर' के विषय में आप क्या समाधान करेंगे ? जैसे—

अपि बहलदहनजालं मूर्ध्नि रिपुर्मे निरंतरं धमतु।
पातयतु वाऽसिधारामहमणुमात्रं न किञ्चिदाभाषे॥

❀ ❀ ❀ ❀

भलैं अहित जन दहन-गन मम सिर सतत जराहिं।
कै पटकहिं असि-धार, पै हैं कछु बोलौं नाहिं॥

भले ही शत्रु मेरे सिर पर निरंतर गहरी आग जलाते रहें, अथवा तलवार की धार पटकते रहें, पर मैं कुछ भी बोलने का नहीं। अथवा 'बल-वीर' में क्या समाधान करेंगे ? जैसे—

परिहरतु धरां फणिप्रवीरः, सुखमयतां कमठोऽपि तां विहाय।
अहमिह पुरुहूत! पक्षकोणे निखिलमिदं जगदक्लमं वहामि॥

❀ ❀ ❀ ❀

फनि-पति धरनिहि परिहरै, कमठ हु करै अराम ।
सुरपति, हौं निज-पंख पै राखौं जगत तमाम ॥

सर्पवीर शेषजी अपने ऊपर से पृथ्वी को हटा ँ और कच्छप महाशय भी उसे छोड़कर आराम करें। हे इन्द्र ! लो, मैं—एक ही, अपने पंख के एक कोने पर इस सब जगत् को बिना घबराहट के धारण कर लेता हूँ। यह इंद्र के प्रति गरुड़ का कथन है।

आप कहेंगे कि 'अपि वक्ति···' और 'परिहरतु धराम्···' इन दोनों पद्यों में तो गर्व ही ध्वनित होता है, उत्साह नहीं; और बीच के पद्य 'अपि बहल···' में धृति-भाव ध्वनित होता है, अत: ये भाव की ध्वनियाँ हैं, रस की नहीं; तो फिर आप युद्ध-वीरादिकों में भी गर्व आदि की ध्वनियों को ही क्यों नहीं बता देते, अथवा यावन्मात्र रस ध्वनियों को, उनमें जो व्यभिचारी भाव ध्वनित होते हैं, उनकी ध्वनियाँ हैं, यह कहकर क्यों नहीं गतार्थ कर देते? यदि आप कहें कि उनमें जो स्थायी भाव की प्रतीति होती है, वह छिपाई नहीं जा सकती—उसे स्वीकार करना ही पड़ता है, तो सोच देखिए, वही बात यहाँ भी है। 'पीछे के पद्यों में तो उत्साह प्रतीत नहीं होता है और 'दया-वीर'-आदि में प्रतीत होता है'—यह कहना तो केवल राजाज्ञा है—अर्थात् जबरदस्ती का लट्ठ है। अत: यह सिद्ध है कि पूर्वोक्त गणना अपर्याप्त ही है।

अद्भुत-रस; जैसे—

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव ।
गलद्गगनगांभीर्यं वीक्ष्याऽस्मि हृतचेतना ॥

× × × ×

थावर-जंगम-जगत-गन-सदन वदन तुव जोइ ।
गई गगन की गहनता रही चेतना खोइ ॥

जिसमें सब स्थावर और जंगम जगत् निवास करता है, और जिसके देखने पर आकाश की भी गंभीरता गिर जाती है, उस तेरे मुख को देखकर मेरी बुद्धि नष्ट हो गई है—मेरी अकल काम नहीं करती कि यह है क्या गजब ! यह, किसी समय, भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविंद को देखने के अनंतर, यशोदाजी की उक्ति है ।

यहाँ मुख आलंबन है, उसके भीतर समग्र स्थावर-जंगम जगत् का देखना उद्दीपन है, बुद्धि का नष्ट हो जाना एवम् उसके द्वारा प्रतीत होनेवाले रोमांच, नेत्रों का विकसित हो जाना आदि अनुभाव हैं और त्रास-आदि व्यभिचारी भाव हैं । यहाँ पुत्र का प्रेम यद्यपि विद्यमान है, तथापि प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उसका कोई व्यंजक शब्द नहीं है—इस पद्य के किसी शब्द से उसकी प्रतीति नहीं होती । यदि प्रकरणादिक की पर्यालोचना करने पर वह प्रतीत भी हो जाय, तथापि आश्चर्य उसकी अपेक्षा गौण नहीं हो सकता । क्योंकि समझने की शक्ति ही जाती रही ऐसा कहने से आश्चर्य की ही प्रधानता

प्रकट होती है। इसी तरह 'यह कोई महापुरुष है' यह समझ-कर भक्ति भी उत्पन्न ही नहीं हो सकती; क्योंकि उसमें यशोदा का यह निश्चय रुकावट डालता है कि 'यह बालक मेरा पुत्र है'। सो भक्ति की अपेक्षा भी आश्चर्य गौण नहीं हो सकता।

सहृदय-शिरोमणि प्राचीन आचार्यों (काव्यप्रकाशकार) ने जो उदाहरण दिया है—

> "चित्रं महानेष तवाऽवतारः
>
> क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
>
> लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः
>
> काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

भगवान् वामन को देखकर बलि कहते हैं—यह आपका महान् अवतार लोकोत्तर है, ऐसी कांति कहाँ प्राप्त हो सकती है? यह चलने, बैठने, देखने आदि का ढंग सर्वथा नवीन ही है; अलौकिक धैर्य है, विलक्षण प्रभाव है, अनिर्वचनीय आकार है; यह एक नई सृष्टि है—अब तक ऐसा कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ।

उसके विषय में हमें यह कहना है कि—इस पद्य में 'विस्मय' स्थायीभाव की प्रतीति भले ही हो, उसके विषय में हमें कुछ नहीं कहना है; पर उस विस्मय के कारण इस पद्य को अद्भुत-रस की ध्वनि कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि इस पद्य में जिस महापुरुष का वर्णन किया गया है, उसके विषय

में स्तुति करनेवाले की जो भक्ति है, वही यहाँ प्रधान है; और विस्मय उसे उत्कृष्ट बनाता है, अतः उसकी अपेक्षा गौण हो गया है। जैसा कि महाभारत में भगवद्गीता के अंदर,—जब अर्जुन ने विश्वरूप (विराट् रूप) के दर्शन किए तो उसने कहा—

"**पश्यामि देवांस्तव देव! देहे सर्वांस्तथा भूत-विशेषसंघान्**—हे देव! मैं आपके शरीर में सब देवताओं को तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों के समूहों को देख रहा हूँ"। इत्यादि वाक्यों के संदर्भ में आश्चर्य प्रतीत होता है, परन्तु वहाँ, अर्जुन की, भगवान् के विषय में उत्पन्न हुई, भक्ति प्रधान है और आश्चर्य गौण। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि इस आश्चर्य को यहाँ रसालंकार कहना उचित है, रस-ध्वनि कहना नहीं। पर यदि आप फिर भी कहें कि 'इसमें भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं' तो हम सहृदयों से प्रार्थना करेंगे कि आप लोग थोड़ा, आँखें मींचकर, सोचिए— देखिए कि इसमें भक्ति की प्रतीति होती है, अथवा नहीं।

हास्य-रस; जैसे—

श्रीतातपादैर्विहिते निबंधे
निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा—
अंगं गवां पूर्वमहो पवित्रं
न वा कथं रासभधर्मपत्न्याः ?

× × × ×

दादाजी किय दंग बुधन, लेख लिखि यह जुगति—
सुचि गौ-पूरब-अंग रासभ-रानी को न क्यों ?

श्रीमान् पिताजी ने जो निबंध लिखा है, उसमें यह एक नई युक्ति वर्णन की गई है। वह युक्ति यह है—आश्चर्य है कि यदि गायों का पूर्व अंग पवित्र है तो गर्दभ महाशय की धर्म-पत्नीजी का वह अंग क्यों न पवित्र माना जाय ? अर्थात् गौ और गर्दभी एक समान हैं।

यहाँ तार्किक (युक्ति सोचनेवाले) का पुत्र आलंबन है, उसका शंकारहित कथन उद्दीपन है, दाँत निकलना आदि अनुभाव है और उद्वेग आदि व्यभिचारी भाव हैं।

हास्य के भेद

हास्य-रस के विषय में प्राचीन आचार्यों का कथन है कि—

आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम् ।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः ॥
हसंतमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्त्तितः ॥
उत्तमानां मध्यमानां नीचानामप्यसौ भवेत् ।
त्र्यवस्थः कथितस्तस्य षड् भेदाः सन्ति चाऽपरे ॥
स्मितं च हसितं प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
भवेद्विहसितं चोपहसितं मध्यमे नरे ॥

नीचेऽपहसितं चातिहसितं परिकीर्त्तितम् ।
ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ॥
अदृश्यदशनो हासो मधुरः स्मितमुच्यते ।
वक्त्रनेत्रकपोलैश्चेदुत्फुल्लै रुपलक्षितः ॥
किञ्चिल्लक्षितदन्तश्च तदा हसितमिष्यते ।
सशब्दं मधुरं कायगतं वदनरागवत् ॥
आकुञ्चिताक्षि मन्द्रं च विदुर्विहसितं बुधाः ।
निकुञ्चितांसशीर्षश्च जिह्मदृष्टिविलोकनः ॥
उत्फुल्लनासिको हासो नाम्नोपहसितं मतम् ।
अस्थानजः साश्रुदृष्टिराकम्पस्कंधमूर्धजः ॥
शार्ङ्गदेवेन गदितो हासोऽपहसिताह्वयः ।
स्थूलकर्णकटुध्वानो बाष्पपूरप्लुतेक्षणः ॥
करोपगूढपार्श्वश्च हासोऽतिहसितं मतम् ।

हास्य-रस दो प्रकार का है—एक आत्मस्थ, दूसरा परस्थ। **आत्मस्थ** उसे कहते हैं, जो देखनेवाले को विभाव (हास्य के विषय) के देखने मात्र से उत्पन्न हो जाता है; और जो हास्य-रस दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है एवं जिसका विभाव भी हास्य ही होता है—अर्थात् जो दूसरे के हँसने के कारण ही होता है, उसे रसज्ञ पुरुष **परस्थ** कहते हैं। यह उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है; अतः इसकी तीन अवस्थाएँ कहलाती हैं। एवं उसके और भी छः भेद हैं—उत्तम पुरुष में **स्मित**

और **हसित**, मध्यम पुरुष में **विहसित** और **उपहसित** तथा नीच पुरुष में **अपहसित** और **अतिहसित** होते हैं। जिसमें कपोल थोड़े विकसित हों, नेत्रों के प्रान्त अधिक प्रकाशित न हों, दाँत दिखाई न दें और जो मधुर हो, वह हँसना **स्मित** कहलाता है। जिस हँसने में मुख, नेत्र और कपोल विकसित हो जायँ और कुछ कुछ दाँत भी दिखाई दें, उसे **हसित** माना जाता है। जिस हँसने में शब्द होता हो, जो मधुर हो, जिसकी पहुँच शरीर के अन्य अवयवों में भी हो, जिसमें मुँह लाल हो जाये, आँखें कुछ कुछ मिच जायँ और ध्वनि गंभीर हो, उसे विद्वान लोग **विहसित** कहते हैं। जिसमें कन्धे और सिर सिकुड़ जायँ, टेढ़ी नजर से देखना पड़े और नाक फूल जाय उस हँसने का नाम **उपहसित** है। जो हँसना बे-मौके हो, जिसमें आँखों में आँसू आ जाय और कंधे एवं केश खूब हिलने लगें, उस हँसने का शार्ङ्गदेव आचार्य ने **अपहसित** नाम रखा है। जिसमें बहुत भारी और कानों को अप्रिय लगनेवाला शब्द हो, नेत्र आँसुओं के मारे भर जायँ और पसलियों को हाथों से पकड़ना पड़े, वह हँसना **अतिहसित** कहलाता है।

भयानक-रस; जैसे—

श्येनमम्बरतलादुपागतं शुष्यदाननबिलो विलोकयन्।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः स्पन्दितुं न हि शशाक लावकः॥

× × × ×

नभ ते झपटत बाज लखि भूल्यो सकल प्रपंच ।
कंपित-तन व्याकुल-नयन लावक हिल्यो न रंच ॥

एक दर्शक कहता है—बेचारे लवा (एक प्रकार का पक्षी) ने ज्योंही आकाश से झपटते हुए बाज को देखा, त्योंही मुँह सूख गया, देह थरथराने लगी, नेत्र व्याकुल हो गए और हिल भी न सका।

यहाँ बाज आलंबन है, उसका वेग-सहित झपटना उद्दीपन है, मुँह सूखना आदि अनुभाव हैं और दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं।

बीभत्स-रस; जैसे—

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम् ।
आननेष्वनुलिम्पन्ति हृष्टा वेतालयोषितः ॥

× × × ×

फाड़ि नखन शव-आँतड़िन, रुधिर-मवाद निकारि ।
लेपति अपने मुखन पै हरसि प्रेत-गन-नारि ॥

एक मनुष्य किसी से रणांगण अथवा श्मशान का दृश्य कह रहा है—हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियाँ नखों से मुरदों की अँतड़ियों को फाड़कर मवाद और रुधिर को मुँह पर लेप रही हैं।

यहाँ मुरदे आलंबन हैं, अँतड़ियों का चीरना आदि उद्दीपन हैं, ऊपर से आक्षिप्त किए हुए रोमांच, नेत्र मींचना आदि अनुभाव हैं और आवेग आदि संचारी भाव हैं।

‘हास’ और ‘जुगुप्सा’ का आश्रय कौन होता है ?

अब एक शंका हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायी-भावों में जिस तरह आलंबन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है; जैसे कि—यदि शकुंतला के विषय में दुष्यंत का प्रेम है तो शकुं-तला प्रेम का आलंबन है और दुष्यंत आश्रय, और वहाँ इन दोनों की प्रतीति होती है; उस तरह हास और जुगुप्सा में नहीं होती; क्योंकि इन दोनों में केवल आलंबन की ही प्रतीति होती है, उनमें आश्रय का वर्णन होता ही नहीं। और यदि पद्य सुननेवाले को ही उनका आश्रय माना जाय तो यह उचित नहीं; क्योंकि वह तो रस के आस्वाद का आधार है—उसे तो अलौकिक रस की चर्वणा होती है, सो वह लौकिक हास और जुगुप्सा का आश्रय नहीं हो सकता। हम कहते हैं कि हाँ, यह सच है; पर वहाँ उन दोनों भावों के आश्रय—किसी देखनेवाले पुरुष का आक्षेप कर लेना चाहिए, उसे ऊपर से समझ लेना चाहिए। और यदि ऐसा न करें, तो भी जिस तरह सुननेवाले को अपनी स्त्री के वर्णन में लिखे हुए पद्यों से रस का उद्बोध हो जाता है—अर्थात् वहाँ जो लौकिक रति का आश्रय है, वही रस का भी अनुभवकर्त्ता हो जाता है; उसी तरह यहाँ भी लौकिक भाव और रस के आश्रय को एक ही मान लेने में कोई बाधा नहीं।

इस तरह संक्षेप से रसों का निरूपण किया गया है।

रसालंकार

इन रसों के प्रधान होने पर, इनके कारण, काव्य को 'रस-ध्वनि' कहा जाता है और दूसरों की अपेक्षा गौण होने पर इन्हें 'रसालंकार' कहा जाता है, और ऐसी दशा में वह काव्य, जिसमें ये आए हों, 'रसध्वनि' नहीं कहला सकता। कुछ लोगों का कथन है कि—जब ये प्रधान हों, तभी इनको रस कहा जाना चाहिए, अन्यथा ये अलंकार-मात्र ही होते हैं, उनमें रस कहलाने की योग्यता ही नहीं होती। तथापि लोग जो उन्हें रसालंकार कहते हैं, उसी प्रकार सो जैसे 'अलंकार-ध्वनि'* कहते हैं। इस बात को एक उदाहरण देकर समझा देते हैं। जिस तरह कोई ब्राह्मण बौद्धमत की दीक्षा लेकर 'श्रमण' (बौद्ध-भिक्षुक) बन जाय, तब वह ब्राह्मण तो रहता नहीं, तथापि लोग उसे पहले ब्राह्मण रहने के कारण ब्राह्मण-'श्रमण' कहा करते हैं, बस, वही हिसाब यहाँ समझिए। अर्थात् जो किसी भी अवस्था में रस या अलंकार शब्द से

---

* इसका अभिप्राय यह है कि—अलंकार उसका नाम है, जो किसी को शोभित करे, जिसे शोभित किया जाय उसका नहीं; और जो अर्थ ध्वनित होता है, वह किसी को शोभित नहीं करता, किंतु उसे अन्य उपकरण शोभित करते हैं। तब ध्वनित होनेवाले अर्थ को अलंकार रूप मानकर उसके कारण काव्य को अलंकारध्वनि कहना ठीक नहीं। किन्तु अलंकार्य ध्वनि कहना चाहिये, तथापि उसे 'अलंकारध्वनि' कहा जाता है।

व्यवहार में प्रयुक्त हो चुके हैं उनका अन्य अवस्था में भी उसी प्रकार व्यवहार होता है, और ये रस तभी कहे जाते हैं जब ये असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रहते हैं। संलक्ष्यक्रम होने से तो इनका वस्तु शब्द से ही व्यवहार होता है।

ये 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' क्यों कहलाते हैं ?

ये रस 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' कहलाते हैं, क्योंकि सहृदय पुरुष को जब सहसा रस का आस्वादन होता है, उस समय, यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के विमर्श का क्रम रहता है, तथापि जिस तरह शतपत्र कमल के सौ-के-सौ पत्रों को सूई से बेधन किया जाता है, उस समय, यह तो जान पड़ता है कि सौ-के-सौ ही पत्र बिध गए; पर उनमें से कौन पहले बिधा और कौन पीछे—इतना सोचने का अवसर ही नहीं मिलता, इसी प्रकार यहाँ भी, शीघ्रता के कारण, वह क्रम विदित नहीं हो पाता। परन्तु यह समझना उचित नहीं कि ये विना क्रम के ही व्यंग्य हैं—इनका और व्यंजक विभावादिकों का कोई क्रम है ही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो रस की अभिव्यक्ति का और अभिव्यक्ति के कारणों का कार्यकारणभाव ही न बन सके—अर्थात् विभावादिकों का रस के कारण-रूप होना ही निर्मूल हो जाय, जो कि प्रतीति से सरासर विरुद्ध है।

रस नौ ही क्यों हैं ?

अब यह प्रश्न होता है कि रस इतने ही क्यों हैं, यदि इनसे अधिक रस माने जायँ तो क्या बुराई है? उदाहरण

के लिये देखिए कि—जब भगवद्भक्त लोग भागवत आदि पुराणों का श्रवण करते हैं, उस समय वे जिस 'भक्ति-रस' का अनुभव करते हैं, उसे आप किसी तरह नहीं छिपा सकते। उस रस के भगवान् आलंबन हैं, भागवतश्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमांच, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष-आदि संचारी भाव हैं। तथा इसका स्थायी भाव है भगवान् से प्रेम-रूप 'भक्ति'। इसका शान्त-रस में भी अंतर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि अनुराग (प्रेम) वैराग्य से विरुद्ध है और शान्त-रस का स्थायी भाव है वैराग्य। अच्छा, इसका उत्तर भी सुनिए। भक्ति भी देवता आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसी का नाम है, और देवता आदि के विषय में जो रति होती है, उसकी भावों में गणना की गई है, सो वह रस नहीं, किंतु भाव है; क्योंकि—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्त्तिताः॥

अर्थात् देवता-आदि के विषय में होनेवाला प्रेम और व्यंजना-वृत्ति से ध्वनित हुआ व्यभिचारी भाव 'भाव' कहलाता है, और यदि रस तथा भाव अनुचित रीति से प्रवृत्त हों, तो 'रसा-भास' और 'भावाभास' कहलाते हैं—यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धांत है। आप कहेंगे—यदि ऐसा ही है तो कामिनी के विषय में जो प्रेम होता है, उसे भी 'भाव' कहिए; क्योंकि जैसा यह प्रेम वैसा ही वह भी प्रेम—इसमें उसमें भेद ही

क्या है? अथवा भगवद्भक्ति को ही स्थायी भाव मान लीजिए और कामिनी आदि के विषय में जो प्रेम होता है, उसे (संचारी) भाव; क्योंकि उसमें कोई युक्ति तो है नहीं कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायी मानना चाहिए। इसके उत्तर में हम कहते हैं कि साहित्य शास्त्र में रस-भाव-आदि की व्यवस्था भरत-आदि मुनियों के वचनों के अनुसार की गई है, अतः इस विषय में स्वतंत्रता नहीं चल सकती। अन्यथा पुत्र आदि के विषय में जो प्रेम होता है, उसे 'स्थायि-भाव' क्यों न माना जाय और 'जुगुप्सा' और 'शोक' आदि को भाव ही क्यों न मान लिया जाय। यदि ऐसा करने लगें तो सारे शास्त्र में ही बखेड़ा पड़ जाय और भरत-मुनि के वचन के अनुसार नियत की हुई जो रसों की नौ संख्या है, वह टूट जाय और वे कभी अधिक और कभी कम मान लिए जाया करें। इस कारण शास्त्र के अनुसार मानना ही उत्तम है।

रसों का परस्पर अविरोध और विरोध

इन रसों का आपस में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध। उनमें से वीर और शृंगार का, शृंगार और हास्य का, वीर और अद्भुत का, वीर और रौद्र का एवं शृंगार और अद्भुत का परस्पर विरोध नहीं है। शृंगार और बीभत्स का, शृंगार और करुण का, वीर और भयानक का, शांत और रौद्र का एवं शांत और शृंगार का विरोध है। यदि कवि प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पुष्ट करना चाहे—

यदि उसकी इच्छा हो कि मेरे काव्य में रस का अच्छा परिपाक हो, तो उसे उचित है कि उस रस के अभिव्यक्त करनेवाले काव्य में उससे विरुद्ध रस के अंगों का वर्णन न करे; क्योंकि यदि विरुद्ध रस के अंगों का वर्णन किया जायगा, तो उसकी अभिव्यक्ति होने पर वह प्रस्तुत रस को बाधित करेगा अथवा 'सुंदोपसुंद-न्याय'* से दोनों नष्ट हो जायँगे—न इसका ही मजा रहेगा, न उसका ही।

विरुद्ध-रसों का समावेश

पर, यदि कवि को विरुद्ध रसों का एक स्थान पर समावेश करना ही हो, तो विरोध का परिहार करके करना चाहिए। विरोध का परिहार कैसे करना चाहिए सो भी सुनिए। विरोध दो प्रकार का है—एक स्थितिविरोध और दूसरा ज्ञानविरोध। स्थितिविरोध का अर्थ है—एक ही आधार (पात्र) में दोनों का न रह सकना, और ज्ञानविरोध का अर्थ है—एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का बाधित हो जाना अर्थात् जिन दो रसों का ज्ञान एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी हो,

* सुंद और उपसुंद की कथा यों है। सुंद और उपसुंद नाम के दो दैत्य थे। उन्होंने बड़ी भारी तपस्या करके भगवान् ब्रह्मा को प्रसन्न किया। ब्रह्मा जी के वरदान से वे सब के अवध्य रहे, केवल परस्पर की लड़ाई से वे मर सकते थे। विश्वविजयी दोनों भाइयों की तिलोत्तमा नाम की अप्सरा की प्राप्ति के लिये लड़ाई हुई और वे मर मिटे। दे० महाभा० आ० अ० २२८—३२। इस तरह दोनों के समबल होने के कारण नष्ट हो जाने के ढंग को 'सुंदोपसुंदन्याय' कहते हैं।

उनमें ज्ञानविरोध होता है। उनमें से पहला विरोध विरोधी रस को दूसरे आधार में स्थापित कर देने से निवृत्त हो जाता है। जैसे कि यदि नायक में वीर-रस का वर्णन करना हो, तो प्रतिनायक (उसके शत्रु) में भयानक का वर्णन करना चाहिए।

इस प्रकरण में रस-पद से रसों के उपाधिरूप स्थायी भावों का ग्रहण किया गया है; क्योंकि रस तो दर्शक-समाज की व्यक्तियों में रहता है, नायक आदि में नहीं। एवं रस अद्वितीय आनंद-मय है, अर्थात् जब उसकी प्रतीति होती है, तब अन्य किसी की प्रतीति होती ही नहीं, तब उसके विरोध की बात ही चलाना अनुचित है।

विरुद्ध-रसों का स्थिति-विरोध कैसे मिटाया जा सकता है, इसका उदाहरण लीजिए—

कुण्डलीकृतकोदण्डदोर्दण्डस्य पुरस्तव।
मृगारातेरिव मृगाः परे नैवाऽवतस्थिरे॥

× × × ×

कुंडल-सम धनु कर लिए तुव आगे रन-माहिं।
केहरि-समुहैं मृग-सरिस ठहरि सके अरि नाहिं॥

कवि कहता है—हे राजन्! जब आपने खैंचकर कुंडल के समान गोल किए हुए धनुष को हाथ में लिया, तो आपके सामने, सिंह के सामने मृगों के समान, शत्रु नहीं ठहर सके। (यहाँ नायक में 'वीर' और प्रतिनायक मे 'भयानक' का वर्णन स्पष्ट ही है।)

यह तो हुई पहले प्रकार के विरोध को निवृत्त करने की बात। अब दूसरे प्रकार के विरोध को निवृत्त करने की विधि भी सुनिए। वह (ज्ञान) विरोध भी, जो रस दोनों रसों का विरोधी न हो, उसे संधि (सुलह) करवानेवाले की तरह, विरुद्ध-रसों के बीच में स्थापित कर देने से निवृत्त हो जाता है। जैसे कि मेरी (पंडितराज की) बनाई हुई आख्यायिका में—कण्वाश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु के शांत-रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत होने पर "यह कैसा रूप है, जिसका कभी अनुभव नहीं किया गया; यह वचन-माला की कैसी मधुरता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता" इस तरह अद्भुत-रस को मध्य में स्थापित करके वरवर्णिनी-नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन किया गया है। वहाँ शान्त और शृङ्गार के मध्य में अद्भुत आ जाने से विरोध हट गया अथवा जैसे—

सुराङ्गनाभिराश्लिष्टा व्योम्नि वीरा विमानगाः।
विलोकन्ते निजान् देहान् फेरुनारीभिरावृतान्॥

× × × ×

सुर-नारिन सँग गगन में वीर विराजि विमान।
निरखत स्यारिन सों घिरे अपुने देह महान॥

देवांगनाओं से आलिंगन किए हुए, आकाश में, विमानों में बैठे हुए वीर, मादा-सियारों से घिरे हुए, अपने देहों को देख रहे हैं।

यहाँ देवांगनाओं को आलंबन मानकर शृंगार-रस और वीरों के मृतक शरीरों को आलंबन मानकर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतः इन दोनों के मध्य में वीरों की स्वर्गप्राप्ति का वर्णन करके उसके द्वारा आक्षिप्त वीर-रस प्रविष्ट कर दिया गया है। बीच में प्रवेश करने का अर्थ यह है कि परस्पर विरोधी रसों के आस्वादन का जो समय है उसके मध्य के समय में उसका आस्वादन होना। सो देखिए, यहाँ स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृंगार-रस का आस्वादन होने के अनंतर वीर-रस का आस्वादन होता है और उसके अनंतर दूसरे अर्द्ध में बीभत्स का।

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजात-
मालारजोवासितबाहुमध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्
सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः
पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः
सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः
कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।

निर्दिश्यमानाँल्ललनाङ्गुलीभि-
वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

रणांगण का वर्णन है। कवि कहता है—उस समय पृथिवी की रज से भरे हुए, शृगालियों से पूर्णतया आलिंगन किए हुए, मांसाहारी पक्षियों के चमचमाते हुए रुधिर-लिप्त पंखों से झले जा रहे, रणांगण में गिरे हुए और ललनाओं की अँगुलियों से दिखाए जाते हुए अपने देहों को, जिनके वक्षःस्थल नवीन पारिजात पुष्पों की मालाओं से सुगन्धित हो रहे हैं और देवांगनाओं से आलिंगित हैं, एवं जिनको, कल्पवल्लियों से प्राप्त अतएव चंदन के जल से छिड़के जाने के कारण सुगंधित दुशालों (के बने हुए पंखों) से झला जा रहा है ऐसे विमानों के पलँगों पर बैठे हुए (युद्ध में लड़कर स्वर्ग गए हुए) वीरों ने कौतुकयुक्त होकर देखा।

इत्यादि काव्य-प्रकाश के पद्य-समूह में तो पहले बीभत्स-रस की सामग्री का श्रवण होने के कारण उसका आस्वादन होता है और उसके अनंतर, बीभत्स-रस की सामग्री से 'निर्भय होकर प्राण त्याग देने आदि' वीर-रस की सामग्री का आक्षेप होता है, सो उसके द्वारा जब वीर-रस का आस्वादन हो चुकता है, तब शृंगार-रस का आस्वादन होता है—यह भेद है। अर्थात् हमारे पद्य में क्रमशः शृंगार, वीर और बीभत्स का आस्वादन होता है और काव्य-प्रकाश के पद्यों में बीभत्स, वीर और शृंगार का।

अस्तु। इस तरह इस सब कथन का तात्पर्य यह होता है कि मध्य में उदासीन रस का आस्वादन होने से रुकावट डालने-वाले ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, और इस कारण जिसको रोक दिया जा सकता था, उस रस का आस्वादन निर्विघ्नता से हो जाता है—उसके आस्वादन में किसी प्रकार की रुकावट नहीं रहती।

अब अन्य प्रकार से विरोध दूर करने की युक्ति करते हैं:—

एक रस दूसरे रस-भाव आदि का अंग हो गया हो, अथवा दोनों रस किसी अन्य रस-भाव आदि के अंग हो गए हों, तो उनमें विरोध नहीं रहता; क्योंकि यदि वे विरुद्ध रहें तो अंग ही नहीं बन सकते। जैसे कि—

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा सखीभिः
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः।
मामद्य मंजुरचनैर्वचनैश्च बाले!
हा! लेशतोऽपि न कथं वद सत्करोषि॥

× × × ×

स्मर के सचिव समान सरस चितवन सुखकारी
अरु अति-मंजुल-रचन वचन गन सों हा प्यारी!
विनय सहित झट सखिन संग लै समुहै आई
करति क्यों न मम आज कछु हु आदर हरषाई।

हाय! बाले! तुम, सखियों सहित विनयपूर्वक झट से सामने आकर, कामदेव की कामदार—उसकी सिफारिश करने-

वाली, विकसित और सरस चितवनों से तथा सुंदर रचनावाले वचनों से, आज, मेरा कुछ भी सत्कार क्यों नहीं कर रही हो। यह आगे पड़ी हुई मृतक नायिका के प्रति नायक की उक्ति है।

यहाँ, नायिका-रूपी आलंबन, अश्रुपातादिक अनुभाव और आवेग, विषाद आदि संचारी भावों से अभिव्यक्त हुआ नायक का (नायिका विषयक) प्रेम, इन्हीं आलंबनादिकों से अभिव्यक्त हुए, परंतु प्रस्तुत होने के कारण प्रधान, नायक के 'शोक' का, उसे बढ़ानेवाला होने के कारण, अंग है। यदि यह आग्रह किया जाय कि—यहाँ नायक के प्रेम की प्रतीति नहीं होती, किंतु पूर्वोक्त सामग्री के द्वारा उसका शोक ही प्रतीत होता है, क्योंकि वही प्रस्तुत है—उस बेचारे को प्रेम कहाँ से आवेगा, उसे तो रोना पड़ रहा है; तो, जिसका नायक आलंबन है, सामने आना आदि अनुभाव हैं, हर्षादिक संचारी भाव हैं—उस नायिका के प्रेम को ही शोक का अंग समझिए; क्योंकि नायिका का प्रेम नायक के शोक का बढ़ानेवाला होता है—यह बात सब लोगों की मानी हुई है। आप कहेंगे कि जब नायिका नष्ट हो गई, तब उसका प्रेम विद्यमान तो है नहीं, फिर वह शोक का अंग कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि अंग होने में विद्यमान होना आवश्यक नहीं है, अतः स्मरण किया हुआ प्रेम भी अंग हो सकता है।

अन्य का अंग होने पर विरुद्ध रसों का अविरोध; जैसे—

उत्क्षिप्ताः कबरीभरं विवलिताः पार्श्वद्वयं, न्यक्कृताः
पादाम्भोजयुगं, रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम्।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभटक्ष्मापालवामभ्रुवां
यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिताः के के न भूमीरुहाः ?

× × × ×

ऊँचे कबरिन, किए बंक दोऊ बगलनि कों।
बल सों नीचे किए भूमि सु-चरन-कमलनि कों॥
किए रोस सों दूर तुरत पट-आँचल पकरत।
सब जतननि कों हाय! सहज ही में हैं निदरत॥
इहि भाँति विपिन में विचरतीं तुव रिपु-नृप-नारिन विकल।
हे भूमिनाथ! कहु कौन नहिं करत कँटीले तरुन दल॥

हे राजन्! कौन ऐसे कँटीले पेड़ हैं, जो, जंगल में जाती हुई, आपके शत्रु राजाओं की स्त्रियों के, ऊँचे करने पर केश-पाश को, टेढ़े करने पर दोनों बगलों को, नीचे करने पर दोनों **चरण-कमलों को** और रोष से दूर हटा देने पर झट से कपड़े का प्रांत न पकड़ लेते हों।

इस पद्य में समासोक्ति अलंकार है और उसके अंग हैं दो प्रकार के व्यवहार—एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत। उनमें से यहाँ प्रस्तुत व्यवहार है—पेड़ों के द्वारा स्त्रियों की चोटी-आदि का पकड़ना, और अप्रस्तुत है—किसी कामी पुरुष के द्वारा उनका पकड़ना। इन दोनों व्यवहारों में से

पहले के द्वारा करुण-रस की और दूसरे के द्वारा शृंगार-रस की अभिव्यक्ति होती है, और वे दोनों रस (परस्पर विरोधी होने पर भी) राजा के विषय में जो कवि का प्रेम है, उसके अंग हो गए हैं, अतः उनमें कुछ भी विरोध नहीं रहा।

विरोधी रस के वर्णन की आवश्यकता

सच पूछिए तो प्रकरण-**प्राप्त रस** को अच्छी तरह पुष्ट करने के लिये विरोधी रस का बाधित करना उचित है, अतः उसका वर्णन अवश्य करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से, जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसकी शोभा, वैरी का विजय कर लेने के कारण, अनिर्वचनीय हो जाती है। रस के बाधित किए जाने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अंगों के प्रबल होने के कारण, अपने अंगों के विद्यमान होने पर भी रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना। अर्थात् किसी रस के अभिव्यक्त होने की सामग्री के होने पर भी, दूसरे रस की सामग्री के प्रबल होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना। पर व्यभिचारी भावों का बाध्य होना तो इसी का नाम है कि उनके द्वारा जिस रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिए थी, उसका न होना, न कि व्यभिचारी भावों की ही अभिव्यक्ति का न होना; क्योंकि व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है। आप कहेंगे कि क्यों नहीं, विरोधी रस के अंग-रूप भावों की अभिव्यक्ति होने से रुकावट हो जायगी और

इस कारण प्रस्तुत भावों की अभिव्यक्ति न हो सकेगी; पर यह ठीक नहीं; क्योंकि जिस समय प्रस्तुत भावों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्दों और अर्थों का ज्ञान होगा, उस समय विरोधी रस के अंगरूप भावों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्दों और अर्थों का ज्ञान नहीं रह सकता; इस कारण एक दूसरे को प्रतिबध्य (रुकनेवाला) और प्रतिबंधक (रोकनेवाला) मानने में कोई प्रमाण नहीं। दूसरे, यदि ऐसा मान लिया जाय तो, विरोधी भावों का एक पद्य में एकत्र होना, जिसे भाव-शबलता कहते हैं, सर्वथा उच्छिन्न हो जाय, जो कि सर्व-संमत है। रस की अभि-व्यक्ति का रुक जाना तो अनुभव-सिद्ध है, इस कारण विरोधी रस के प्रबल अंगों के अभिव्यक्त होने को रस की अभिव्यक्ति का ही प्रतिबंधक मानना उचित है, व्यभिचारी भावों का नहीं।

जहाँ एक से विशेषणों के प्रभाव से दो विरुद्ध-रस अभि-व्यक्त हो जाते हैं, वहाँ भी उनका विरोध निवृत्त हो जाया करता है; जैसे—

नितान्तं यौवनोन्मत्ता गाढरक्ताः सदाऽऽहवे।
वसुंधरां समालिङ्ग्य शेरते वीर! तेऽरयः॥

हे वीर! जवानी से अत्यंत उन्मत्त हुए और रण में सर्वदा गहरे रक्तवाले—खूब चोट खाए हुए अथवा अत्यंत अनुरक्त तेरे शत्रु लोग पृथ्वी से चिपटकर सो रहे हैं। यहाँ समान विशेषणों के द्वारा वीर के साथ साथ उसके विरोधी शृंगार की भी प्रतीति होती है।

रस-वर्णन में दोष

इस तरह विरोध मिटा देने पर भी जिस रस का वर्णन किया जाय, उसको 'रस' शब्द अथवा 'श्रृंगार-आदि' शब्दों से बोल देना अनुचित है; क्योंकि ऐसा करने से रस आस्वादन करने योग्य नहीं रहता—प्रकट हो जाने के कारण उसका मज़ा जाता रहता है; इसी लिये पहले कह चुके हैं कि रस का आस्वादन केवल व्यंजना वृत्ति से ही सिद्ध होता है। आप पूछ सकते हैं कि जहाँ विभावादिकों से अभिव्यक्त हुए रस को उसका नाम लेकर वर्णन कर दिया जाय, वहाँ कौन दोष होता है? तो उत्तर यह है कि व्यंग्य को वाच्य बना देने से सभी व्यंग्यों में 'वमन' नामक दोष होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। यह तो हुई सामान्य दोष की बात। पर रसों का जिस रूप में आस्वादन किया जाता है, वह प्रतीति, वाच्य-वृत्ति (अभिधा) के द्वारा, अर्थात् उन रसों का नाम लेने से उत्पन्न नहीं हो सकती; अतः जहाँ रसों का वर्णन हो, उस स्थल पर ऐसा करना बंदर की सी चेष्टा है—अर्थात् जिस तरह बंदर अपने घाव को, ठीक करने के लिये, खोदकर और बिगाड़ डालता है उसी प्रकार इस चेष्टा से भी रस-वर्णन उत्तम होने के स्थान पर और भी बिगड़ जाता है। सो रसों के विषय में तो यह विशेष दोष भी है। इसी तरह स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों को भी अभिधा शक्ति के द्वारा वर्णन करना—उनके नाम ले लेकर लिखना—दोष है। इसी

तरह विभावों और अनुभावों का अच्छी तरह प्रतीत न होना अथवा विलंब से प्रतीत होना दोष है; क्योंकि ऐसा होने से रस का आस्वादन नहीं हो पाता। विरोधी रसों के (प्रस्तुत रसों के अङ्गों की अपेक्षा) समबल अथवा प्रबल अंगों का वर्णन करना भी दोष है; क्योंकि यह वर्णन जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसके प्रतिकूल है। किसी भी निबंध में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, वह यदि किसी दूसरे प्रसंग के कारण विच्छिन्न हो जाय, तो उसको फिर से दीपन करने से—गए किस्से को दुबारा उठाने से—'विच्छिन्न-दीपन' नामक दोष होता है। कारण कि मध्य में उच्छिन्न हो जाने से सहृदयों को पूर्णरूप से रसास्वाद नहीं होता इसी तरह जहाँ जिस रस के प्रस्तुत करने का अवसर न हो, वहाँ उसका प्रस्तुत करना और जहाँ उसे विच्छिन्न न करना चाहिए, वहाँ विच्छिन्न कर देना दोष है। जैसे—संध्यावंदन, देव-यजन-आदि धर्म का वर्णन प्रस्तुत हो, उस समय किसी कामिनी के साथ किसी कामी का प्रेमवर्णन करने में। अथवा, जैसे—महायुद्ध में मदमत्त शत्रु-वीर उपस्थित हों और मर्मभेदी वचन बोल रहे हों, ऐसे समय नायक के संध्या-वंदन आदि का वर्णन करने में। ये दोनों ही बातें अनुचित हैं।

इसी प्रकार जिसका प्रधानतया वर्णन न हो, उस प्रति-नायक आदि के नाना प्रकार के चरित्र और अनेक प्रकार की संपदाओं की, नायक के चरित और संपदाओं से, अधिकता

का वर्णन करना उचित नहीं; क्योंकि ऐसा करने से नायक के उत्कर्ष का वर्णन, जिसका करना अभीष्ट है, सिद्ध न होगा और उसके कारण होनेवाली रस की पुष्टि भी न होगी। आप कहेंगे—प्रतिनायक के उत्कर्ष का वर्णन तो उसको परास्त करनेवाले नायक के उत्कर्ष का अंग है—उस वर्णन से तो नायक का और भी अधिक उत्कर्ष सिद्ध होता है; फिर आप उसका वर्णन क्यों अनुचित मानते हैं? हम कहेंगे कि—जैसा प्रतिनायक का उत्कर्ष, उसे परास्त करनेवाले नायक के उत्कर्ष का अंग हो सके, वैसे उत्कर्ष का वर्णन हमें स्वीकृत है—हम तो उसी उत्कर्ष वर्णन का निषेध कर रहे हैं, जो नायक के उत्कर्ष के विरुद्ध हो। पर यदि आप कहें कि प्रकृत नायक की अपेक्षा प्रतिपक्षी का उत्कर्ष वर्णन किया जायगा, तथापि, नायक तो जिसका उत्कर्ष वर्णन किया गया है, उसका मार देनेवाला न है, बस, इतना होने से ही यह वर्णन नायक के उत्कर्ष को बढ़ा देगा; अतः ऐसे वर्णन में कोई दोष नहीं। तो हम कहेंगे कि—यदि यों मानने लगोगे, तो जिस तरह किसी बड़े राजा को किसी कंगाल भील ने केवल ज़हरीला बाण फेंक देने आदि के कारण मार डाला हो, ऐसी दशा में उस महाराज की अपेक्षा उस भील का कुछ भी उत्कर्ष नहीं हो सकता; उसी तरह जिसका वर्णन किया जा रहा है, उस नायक का भी कुछ उत्कर्ष नहीं होगा। बस, झगड़ा निवृत्त!

इसी तरह यदि रस के **आलंबन** और आश्रय का बीच बीच में अनुसंधान न हो, तो दोष है; क्योंकि रस के अनुभव की धारा आलम्बन और आश्रय के अनुसंधान के ही अधीन है; अतः यदि उनका अनुसंधान न हो तो वह निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार जिस वस्तु का वर्णन करने से वर्णन किए जानेवाले रस को कोई लाभ न हो, उसका वर्णन प्रस्तुत रस को समाप्त कर डालता है, अतः ऐसा वर्णन भी दोष ही है।

अनौचित्य

जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रस के भंग का कारण है, अतः उसे तो सर्वथा नहीं आने देना चाहिए। भंग किसे कहते हैं सो भी समझ लीजिए। जिस तरह शरबत आदि किसी तरल वस्तु में करकर (कंकड़) गिर जाने के कारण, वह खटकने लगता है, इसी प्रकार रस के अनुभव में खटकने को रस का भंग कहते हैं। और अनुचित होने का अर्थ यह है कि जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना। अच्छा, अब जाति आदि के अनुचित जो बातें हैं, उनके कुछ उदाहरण भी सुनिए। **जाति के विरुद्ध**; जैसे—बैल और गाय आदि के तेज और बल के कार्य पराक्रम आदि और सिंह आदि का सीधापन आदि। **देश के विरुद्ध**; जैसे—स्वर्ग में बुढ़ापा,

रोग आदि और पृथ्वी में अमृत-पान आदि। **काल के विरुद्ध**; जैसे—ठंड के दिनों में जलविहार आदि और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन आदि। **वर्ण के विरुद्ध**; जैसे—ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढ़ना। **आश्रम के विरुद्ध**; जैसे—ब्रह्मचारी और संन्यासी का तांबूल चबाना और स्त्री को स्वीकार करना। **अवस्था के विरुद्ध**; जैसे—बालक और बूढ़े का स्त्री-सेवन और युवा पुरुष का वैराग्य। **स्थिति के विरुद्ध**; जैसे—दरिद्रियों का भाग्यवानों जैसा आचरण और भाग्यवानों का दरिद्रियों जैसा आचरण।

अब **प्रकृतियों** की बात सुनिए। साहित्य-शास्त्र के अनुसार तीन प्रकार की प्रकृतियाँ (नायक की) होती हैं—कुछ दिव्य (देवतारूप इन्द्र आदि), कुछ अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त आदि) और कुछ दिव्यादिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी अवतार रूप होने से मनुष्य हैं राम, कृष्ण आदि) होते हैं। इसी तरह उन प्रकृतियों के दूसरे भेद—नायक धीरोदात्त जिनमें उत्साह प्रधान होता है, धीरोद्धत—जिनमें क्रोध प्रधान होता है, धीर-ललित—जिनमें स्त्री-विषयक प्रेम प्रधान होता है और धीर-शांत—जिनमें वैराग्य प्रधान होता है, होते हैं। पूर्व भेदों से बारह प्रकार के नायक उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से छत्तीस प्रकार के होते हैं। इन नायकों में यद्यपि भय के अतिरिक्त अन्य सब रति आदि स्थायी भाव सर्वत्र

समान ही होते हैं, तथापि संभोग-रूप रति का, जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है, उसी तरह सब अनुभावों (आलिंगन-चुंबन आदि) को स्पष्ट करके उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनुचित है; और संसार को भस्म कर देने में समर्थ एवं रात्रि और दिन को बदल देने आदि अनेक आश्चर्यों के उत्पन्न कर देनेवाले क्रोध का जिस तरह दिव्य नायकों में वर्णन किया जाता है, उसी तरह अदिव्य नायकों में वर्णन करना अनुचित है। क्योंकि दिव्य आलंबनों में हम लोगों को पूज्यता की बुद्धि रहने के कारण और अदिव्य आलंबनों में पूर्वोक्त अनुभावों के झूठेपन की प्रतीति होने के कारण रस विकसित नहीं हो सकेगा। आप कहेंगे कि रस-प्रतीति के पहले नायक-नायिका आदि के साधारण हो जाने के कारण, उनमें हमारी पूज्यता बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होगी; पर यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस स्थान पर सहृदय पुरुषों को रस की जागृति प्रमाण-सिद्ध है, उन्हीं नायक-नायिका आदि में साधारण कर लेने की कल्पना की जाती है, अन्यथा अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी रस की प्रतीति होने लगेगी। पर, जयदेव आदि कवियों ने गीतगोविंद आदि ग्रंथों में, सब सहृदयों के माने हुए इस संकेत को, **मदोन्मत्त** हाथियों की तरह, तोड़ डाला है, सो उनका दृष्टांत देकर आधुनिक कवियों को इस तरह के वर्णन न करने चाहिए।

इसी तरह जो लोग विद्या, अवस्था, वर्ण, आश्रम और तप आदि के कारण उत्कृष्ट हों, उन्हें अपने से छोटे लोगों के साथ अत्यंत सम्मानयुक्त वचनों से **व्यवहार** नहीं करना चाहिए, और छोटों को बड़ों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए। उनमें भी 'तत्र भवन्', 'भगवन्' इत्यादि संबोधनों से मुनि, गुरु और देवता आदि का ही संबोधन किया जाना चाहिए, राजा-दिकों का नहीं। सो भी जो लोग जाति से उत्तम—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य—हों, वे ही ऐसे संबोधनों का प्रयोग करें, शूद्रादिक नहीं। इसी तरह 'परमेश्वर'-आदि संबोधनों से चक्रवर्तियों का ही संबोधन किया जाना चाहिए, मुनि आदि का नहीं। यही सब सोचकर आनन्दवर्द्धन ने लिखा है कि—

अनौचित्यादृते नाऽन्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अर्थात् रस के भंग का, अनुचितता के अतिरिक्त, अन्य कोई भी कारण नहीं है, और प्रसिद्ध उचितता का वर्णन करना ही रस की सबसे बड़ी उपनिषत् है। तात्पर्य्य यह कि जिस तरह उपनिषत् से ही ब्रह्म का प्रतिपादन होता है, उस तरह प्रसिद्ध उचितता के वर्णन से ही इसका प्रतिपादन होता है, अन्यथा नहीं। बस, इतने में सब समझ लीजिए।

अनौचित्य से रस की पुष्टि

हाँ, जितने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो, उतने अनौचित्य का वर्णन निषिद्ध नहीं है, क्योंकि जो अनुचितता रस के प्रतिकूल हो, वही निषेध करने के योग्य है। इसी कारण—

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं वहिः स्थीयताम्
स्वल्पं जल्प बृहस्पते ! जडमते नैषा सभा वज्रिणः।
वीणां संहर नारद ! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो !
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः॥

ब्रह्मन् ! यह वेदपाठ का समय नहीं है, चुप-चाप बाहर बैठो; बृहस्पते ! जो कुछ कहना है थोड़े में कहो। मूढ़ ! यह इंद्र की सभा नहीं है कि घंटों बक-बक करते रहो; नारद ! अपनी वीणा समेट लो; हे तुंबुरो ! इस समय स्तुतिकथाएँ-- ख़ुशामद की बातें—न करो, क्योंकि सीता की बिरौनियों के भालों से लंकेश्वर—महाराज रावण—का हृदय घायल हो गया है, वे स्वस्थ नहीं हैं। इस किसी नाटक के पद्य में, ब्रह्मादिकों के तिरस्कार के लिये बोले गए द्वार-पाल के वचन की अनुचितता दोष नहीं है; क्योंकि उससे रावण के परम-ऐश्वर्य की पुष्टि होती है और उसके द्वारा वीर-रस का आक्षेप होता है, जो कि विप्रलंभ-शृंगार (रसाभास) का अंग हो गया है।

इसी तरह "**अले ले! सद्दस्समुप्पाडिअहरिअकुस-गंथिमयाच्छमालापद्वित्तिविस्सम्भिअबालविहवन्दःकअणा बह्मणा**—अरे ओ! तत्काल उखाड़े हुए हरित कुशों की गाँठों से बनी हुई अक्षमालाओं (जपमालाओं) के फिराने से बालविधवाओं के अन्तःकरणों को विश्वस्त करनेवाले ब्राह्मणो!..........." इत्यादि विदूषक के वचन में भी अनौचित्य दोष नहीं है; क्योंकि वह हास्य-रस के अनुकूल है। सो इस तरह यह अनौचित्य समझने की रीति दिखा दी गई है, सुबुद्धि पुरुषों को इसी प्रकार और भी सोच लेना चाहिए।

गुण

इन पूर्वोक्त रसों में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण वर्णन किए जाते हैं। उनके विषय में—कुछ विद्वानों का कहना है कि—संयोग-शृंगार में जितना माधुर्य होता है, उससे अधिक करुण-रस में होता है और उन दोनों से अधिक होता है विप्रलंभ-शृंगार में; एवम् इन सबसे अधिक शांत-रस में होता है, क्योंकि पूर्व पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर उत्तर रस में चित्त का द्रव विशेष होता जाता है। दूसरे विद्वानों का कथन है कि—संयोग-शृङ्गार से करुण और शांत-रसों में अधिक माधुर्य होता है, और इन दोनों से अधिक होता है विप्रलंभ-शृंगार में। अन्य विद्वानों का यह कथन है कि—संयोग-शृंगार से करुण, विप्रलंभ-शृंगार और शांत इन तीनों रसों में अधिक होता है, फिर इन तीनों में कुछ

भी तारतम्य (कमी-बेशी) नहीं होता—ये सब समान ही मधुर हैं। इनमें से पहले और तीसरे मत में "**करुणे विप्रलम्भे तच्छांते चाऽतिशयान्वितम्**" यह प्राचीन आचार्यों का सूत्र अनुकूल है; क्योंकि उसके आगे के सूत्र में जो '**क्रमेण**' पद है, उसको पहले सूत्र में खींचने और न खींचने से उसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं। रहा बीच का मत, सो उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि करुण और शांतरसों की अपेक्षा विप्रलंभ शृंगार के माधुर्य की अधिकता का यदि सहृदय पुरुषों को अनुभव होता हो, तो उसे भी प्रमाण मान लेना चाहिए। वीर, बीभत्स और रौद्र-रसों में पहले की अपेक्षा पिछले में अधिक ओज रहता है; क्योंकि इनमें से प्रत्येक पिछला रस चित्त को अधिक दीप्त करनेवाला--अर्थात् दिली जोश बढ़ानेवाला—है। अद्भुत, हास्य और भयानक रसों के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि इनमें माधुर्य और ओज दोनों गुण रहते हैं और दूसरे कहते हैं कि इनमें केवल प्रसाद गुण ही रहता है। हाँ, यह बात सिद्ध है कि प्रसाद-गुण सब रसों और सब रचनाओं में रहता है—वह किसी विशेष रस से ही संबंध रखनेवाला नहीं है।

इन गुणों के द्वारा, क्रम से, द्रुति (पिघलना), दीप्ति (जोश) और विकास (खिल जाना) ये चित्त की वृत्तियाँ उभारी जाती हैं, अर्थात् उन-उन गुणों से युक्त रसों के आस्वा-

दन से ये वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। तात्पर्य यह है कि माधुर्य-गुण से युक्त रस का आस्वादन करने से चित्त पिघल जाता है, ओज-गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त में जोश आता है और प्रसाद-गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित विकसित हो जाता है—खिल उठता है। इस तरह इन गुणों के केवल रस-धर्म (उन्हीं में रहनेवाले) सिद्ध होने पर, लोगों का जो '(पद्य की) रचना मधुर है' 'बंध ओजस्वी है' इत्यादि कथन है, वह कल्पित है; जैसे कि किसी मनुष्य के विषय में कहा जाय कि—'इसका आकार शूर-वीर है'। तात्पर्य यह कि शूर-वीर होना मनुष्य के आत्मा का धर्म है, उसके आकार का नहीं; क्योंकि आकार तो जड़ है; सो जिस प्रकार यह कथन कल्पित है, उसी प्रकार पूर्वोक्त व्यवहारों को भी समझिए। यह है मम्मट-भट्ट आदि प्राचीन विद्वानों का मत।

पर पण्डित-राज के विचार भिन्न हैं। वे कहते हैं कि—इन माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को जो केवल 'रस के धर्म' ही बताया जाता है—यह माना जाता है कि ये केवल रस ही में रहते हैं—इसमें क्या प्रमाण है? आप कहेंगे कि—प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि पूर्वोक्त रीति के अनुसार हमें उन-उन रसों के आस्वादन से पूर्वोक्त चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति का अनुभव होता है; तो हम कहेंगे कि—नहीं। जैसे अग्नि का कार्य दग्ध करना है और उष्ण स्पर्श उसका गुण है, इन दोनों का हमें पृथक्-पृथक् अनुभव होता है—हम जलते नहीं, पर हमें उष्ण-

स्पर्श का अनुभव हो सकता है; इस तरह रसों के कार्य जो द्रुति-आदि चित्तवृत्तियाँ हैं, उनके अतिरिक्त रसों में रहनेवाले गुणों का हमें अनुभव नहीं होता। आप कहेंगे—अच्छा, जाने दीजिए; प्रत्यक्ष नहीं होता तो न सही; पर माधुर्य-आदि गुणों से युक्त ही रस द्रुति-आदि के कारण होते हैं—अर्थात् उन गुणों के साथ रहने पर ही रसों से द्रुति-आदि चित्त-वृत्तियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, अतः कारणता के अवच्छेदक—अर्थात् कारण में रहनेवाले एक विशेष धर्म—के रूप में उनका अनुमान किया जा सकता है। सो भी ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्येक रस जब कि बिना गुणों के ही उन वृत्तियों का कारण हो सकता है, तो गुणों की कल्पना करने में गौरव है—अर्थात् केवल रसों को ही उन वृत्तियों का कारण न मानकर उनके साथ गुणों का झमेला लगाने की क्या आवश्यकता है? आप कहेंगे कि शृङ्गार, करुण और शान्त रसों में से प्रत्येक को द्रुति का कारण मानने की अपेक्षा 'तीनों माधुर्य-गुण-युक्त हैं, इस कारण तीनों से द्रुति उत्पन्न होती है'—यह मानने में लाघव है—अर्थात् द्रुति के तीन कारण मानने की अपेक्षा द्रुति के प्रति माधुर्य गुणवान् एक ही को कारण मान लेना सीधी बात है। तब हम कहेंगे कि मम्मट-भट्ट आदि कितने ही विद्वानों ने मधुररस से द्रुति, अत्यन्त मधुररस से अत्यंत द्रुति-इत्यादिक जो कार्यों में कमी-बेशी मानी है, उसके कारण माधुर्य-गुण-युक्त होने से रस द्रुति का कारण होता है—यह मानना घेघे (घेघा·

एक प्रकार की गाँठ, जो गले-आदि में हो जाया करती है) की तरह व्यर्थ है; क्योंकि पूर्वोक्त हिसाब से अन्ततो गत्वा एक-एक कार्य का एक-एक रस को पृथक्-पृथक् कारण मानना ही पड़ेगा। सो इस तरह प्रत्येक रस को माधुर्य-आदि का पृथक्-पृथक् कारण मानने में ही लाघव है। दूसरे, एक यह भी बात है कि आत्मा निर्गुण है और रस है आत्मरूप; अत: माधुर्यादिक को रस का गुण मानना बन भी नहीं सकता। पर यदि कहो कि रस के न सही, इनको उसके उपाधिरूप रति-आदि स्थायी भावों के ही गुण मान लीजिए; सो उनके गुण मानना भी नहीं बन सकता; क्योंकि प्रथम तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं, और दूसरे काव्यप्रकाश-कार आदि की रीति से रति-आदि सुख-रूप हैं, अत: वे स्वयं ही गुण हैं, सो उनमें अन्य गुणों का मानना अनुचित भी है।

अब यह शङ्का हो सकती है कि "शृङ्गार-रस मधुर होता है"—इत्यादि व्यवहार, जो सब विद्वानों में प्रचलित है, कैसे बन सकता है? क्योंकि आपके हिसाब से तो माधुर्य-आदि गुण हैं ही नहीं। उसका समाधान यह है कि—द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता (उन्हें पैदा करनेवाला होना), जो रसों में रहती है, उसे ही माधुर्य-आदि समझिए; और उसी के रहने से रसों को मधुर-आदि कहा जाता है। अथवा, यों कहिए कि—द्रुति-आदि चित्तवृत्तियाँ ही जब (किसी रस-आदि के साथ) उभारने का (प्रयोजकता) संबंध रखती हैं,

तो उन्हें माधुर्य-आदि कहा जाता है। तब आप कह सकते हैं कि—यदि प्रयोजकता संबंध से रहनेवाली द्रुति-आदि चित्त-वृत्तियों का नाम ही माधुर्य है, तो 'शृङ्गाररस मधुर (माधुर्य-गुण से युक्त) होता है' यह व्यवहार न बन सकेगा; क्योंकि द्रुति-आदि चित्तवृत्तियाँ रसों में रहती तो हैं नहीं, उनसे उभार दी जाती हैं, फिर रसों को माधुर्य से युक्त कैसे कहा जा सकता है? हम कहते हैं कि जिस तरह असगंध (एक औषध) उष्णता को उत्पन्न करती है—उसके खाने से शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है, इस कारण लोग कहते हैं कि 'असगंध गरम होती है'; इसी प्रकार शृंगार-आदि माधुर्य-आदि के प्रयोजक (उत्पादक) होते हैं, अतः उनको मधुर कहा जाता है।

पर, संसार के जितने काम हैं, उन सबकी प्रयोजकता अदृष्ट (धर्म, अधर्म) आदि में भी रहा करती है, बिना अदृष्ट आदि के प्रयोजक हुए कोई काम होता ही नहीं, अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह प्रयोजकता उससे भिन्न है, जो कि शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहती है। बस, यहाँ उसी का ग्रहण करना चाहिए जिससे कि पूर्वोक्त व्यवहार की अदृष्ट आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो सके। तात्पर्य यह है कि अदृष्ट आदि में जो प्रयोजकता है, वह दूसरे ढंग की है और शब्द-अर्थ-आदि में जो प्रयोजकता है, वह दूसरे ढंग की; अतः द्रुति आदि की प्रयोजकता के रहने पर भी अदृष्ट आदि को मधुर नहीं कहा जाता। तब यह सिद्ध हुआ कि इस ढंग का माधुर्य

शब्द और अर्थ में भी रहता है, केवल रस में ही नहीं, अतः शब्द और अर्थ के माधुर्य-आदि को कल्पित नहीं कहना चाहिए (जैसा कि प्राचीन विद्वान् कहते हैं)। ये हैं हमारे (पण्डितराज)-जैसे लोगों के विचार।

अत्यन्त प्राचीन आचार्यों का मत

अत्यन्त प्राचीन आचार्यों का तो मत है कि—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि ये दश शब्दों के गुण और दश ही अर्थों के गुण हैं। नाम दोनों के वे ही हैं, पर लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। अच्छा, क्रमशः सुनिए—

शब्द-गुण

श्लेष

इसलिये कि भिन्न-भिन्न शब्द भी एक ही शब्द से प्रतीत हों, अत्यंत समीप-समीप में एक जाति के वर्णों की विशेष प्रकार की रचना, जिसे गाढत्व भी कहते हैं, 'श्लेषगुण' कहलाता है। यही लिखा भी है—'श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्'; अर्थात् उस रचना को श्लेषगुण से युक्त कहा जाता है, जिसमें शिथिलता दिखाई न दे। जैसे—

***अनवरतविद्वद्-द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननः** (अथवा, जैसे हिंदी की अमृतध्वनियाँ)

प्रसाद

रचना में गाढता और शिथिलता का विपरीत मिश्रण--अर्थात् पहले शिथिल और फिर गाढ (चुस्त) रचना का होना—'प्रसाद-गुण' कहलाता है; जैसे कि—

†किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी, यस्मिन्, धराखण्डल !
क्रीडाकुण्डलितभ्रु, शोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति ।

---

* किसी राजा का वर्णन है। कवि कहता है कि—(वह राजा) 'विद्वान्‌रूपी वृक्षों से सर्वदा द्रोह करनेवाले दारिद्र्यरूपी मस्त हाथी के मर्यादा रहित गर्व-समूह के नष्ट करने के लिये बड़ा भारी सिंह है'—अर्थात् जिसके समीप जाते ही विद्वानों का बैरी दारिद्र्य खड़ा ही नहीं रह सकता।

† वर्णन पूर्ववत् ही है। हे राजन्! आपकी वीरता को ये (बेचारे) हम क्या कहें। जिनके खेल में भौंहों को गोल और नेत्रों को लाल करके भुज-मंडल को देखने पर, तत्काल ही, माणिक्यावलि की कांतियों से अत्यंत नतोन्नत सहस्रों आभूषणों के समूहों से विंध्याचल के वनों के गुफारूपी घरों में जो वृक्ष हैं, वे चमकने लग गए अर्थात् खेल में की हुई आपकी पूर्वोक्त चेष्टा को सुनकर बेचारे शत्रु लोग ठहर ही न सके, उन्हें भगकर विंध्य-वन के शरण में पहुँच जाना पड़ा।

माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै-
र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः ॥

इस पद्य में 'यस्मिन्' शब्द तक शिथिलता है, फिर 'भ्रु' शब्द तक गाढ़ता है और फिर 'नयने' शब्द तक शिथिलता है—इत्यादि समझ लेना चाहिए।

समता

आरंभ से अंत तक एक ही प्रकार की रीति* (रचना) में होने को 'समता' कहते हैं। जैसे कि आगे—'माधुर्य' के उदाहरण में—है। वहाँ उपनागरिका वृत्ति से ही प्रारंभ और उसी से समाप्ति की गई है।

माधुर्य

जिनके आगे संयुक्त अक्षर हों ऐसे ह्रस्वों के अतिरिक्त अन्य अक्षरों से रचना की गई हो और अलग-अलग पद हों—अर्थात् समास तथा संधियाँ अधिक न हों, तो 'माधुर्य' गुण कहलाता है। जैसे

---

* रीतियाँ तीन हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। इन्हीं को वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली भी कहते हैं। पहली रीति माधुर्य को प्रकट करनेवाले वर्णों से युक्त, दूसरी ओज को प्रकट करनेवाले वर्णों से युक्त और तीसरी माधुर्य और ओज दोनों गुणों को प्रकट करनेवाले वर्णों से अतिरिक्त प्रसाद गुणवाले अक्षरों से ही युक्त होती है।

*नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथापि पल्लवानाम् ॥

सुकुमारता

कठोर वर्णों के अतिरिक्त वर्णों से रचित होने का नाम 'सुकुमारता' है। जैसे—

†स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
दोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया ।
आनन्दमंकुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥

इसके पूर्वार्ध में सुकुमारता है। उत्तरार्ध में तो माधुर्य और सुकुमारता दोनों हैं।

अर्थव्यक्ति

जहाँ अर्थ और अन्वय तत्काल विदित हो जायँ, वहाँ 'अर्थव्यक्ति' गुण होता है। जैसे

---

* नायक नायिका से कहता है कि—यदि तेरे अंग कोमल हैं, तो (कहना पड़ेगा कि) कमलों की माला अत्यंत कठोर है, और मृणाल तो इस विचार में आने की शक्ति भी नहीं रखते कि—वे तेरे अंगों के समान हैं अथवा नहीं; रहे पल्लव सो उन बेचारों की तो बात ही क्या करना है—उनका तो तेरे अंगों की तुलना के लिये नाम लेना भी दोष है।

† नायक अपने मित्र से कहता है कि—पसीने के जल की सघन बूँदों से शोभित कपोल-स्थल पर झूलते हुए कानों के कुण्डलों के कारण प्रशंसनीय और अनिर्वचनीय, मदमाते नेत्रवाली नायिका की रमणीय अवस्था, याद आते ही, हृदय में आनंद को अंकुरित कर देती है।

'नितरां परुषा सरोजमाला......' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य आदि में।

उदारता

कठिन अक्षरों की रचना, जिसे विकटता माना जाता है, 'उदारता' कहलाती है। जैसे—

*प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली-
विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि।
ललाटतटविस्फुटन्नवकृपीटयोनिच्छटो
हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति॥

अच्छा, यहाँ एक विचार और भी सुनिए। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार व्याख्या करते हैं कि 'पदों के नाचते-से प्रतीत होने का नाम विकटता है' और उदाहरण देते हैं '**स्वचरण-विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त्तकीनाम्**' इत्यादि। इस विषय में हमें यह कहना है कि—उनकी इस तरह की विकटतारूपी उदारता का ओज-गुण में समावेश करनेवाले काव्य-प्रकाशकार उनके अनुकूल कैसे हुए—इनकी और उनकी कैसे एक राय हो गई—इसे वे ही जानें; क्योंकि यहाँ ओज-गुण अधिकता से

---

* अत्यंत आनंद में फूले हुए प्रमथ लोगों की दी हुई तालियों से विनोदयुक्त विनायक-देव का डमरु डम्-डमा-डम् बज रहा है, और जिनके ललाट-स्थल से अग्नि की नवीन छटा फूटकर निकल रही है, वह बलात उछाली हुई जटा के कारण विकट नंगे नट—शिव—नाच रहे हैं।

प्रतीत नहीं होता। हाँ, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त' इस भाग में ओज का अंश है भी, पर चमत्कारी नहीं; और न सहृदयों को उसमें नाचते-से पदों का ही अनुभव होता है। रहा अन्य अंश, सो उसमें तो माधुर्य ही है।

ओज

जिनके आगे संयोग हो ऐसे ह्रस्वों की अधिकता के रूप में जो गाढता होती है, उसे 'ओज' कहते हैं। जैसे निम्नलिखित पद्य में—

*साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दिर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्त्तयः॥

अथवा, जैसे "अयं पततु निर्दयम्......" इत्यादि पहले (रौद्र-रस में) उदाहरण दिए हुए पद्य में।

---

* कवि कहता है कि—हे पृथिवी के अलंकार! अहंकार-सहित देवों और असुरों की पंक्तियों के हाथों से खींचे हुए, अतएव फिरते हुए, मंदराचल से क्षुब्ध हुए क्षीर-समुद्र की मनोहर तरंगों के मंडल की शोभा के गर्व को सर्वथा नष्ट कर देनेवाली और प्यास के मारे घबराए हुए तपस्वियों के समूहों से (तृषा-शांति का साधन समझकर) आनंद-सहित अवलोकन की हुई आपकी कीर्त्तियाँ समग्र-संसार को शोभित कर रही हैं।

कांति

जिनको चतुर नहीं माना जाता, उन वैदिक आदि लोगों के प्रयोग के योग्य पदों के अतिरिक्त प्रयोग किए जानेवाले पदों में जो अलौकिक शोभा-रूपी उज्ज्वलता रहती है, उसे 'कांति' कहते हैं। जैसे—"**नितरां परुषा सरोजमाला** " इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में।

समाधि

रचना की गाढता और शिथिलता को क्रम से रखना—अर्थात् पहले गाढ रचना का और पीछे शिथिल रचना का होना—'समाधिगुण' कहलाता है। इन्हीं—गाढता और शिथिलता—को प्राचीन आचार्य आरोह और अवरोह कहते हैं। प्रसाद-गुण में और इस गुण में गाढ और शिथिल रचना के क्रम का ही भेद है; क्योंकि प्रसाद-गुण में वे व्युत्क्रम—विपरीत ढंग—से रहती हैं और इसमें क्रम से। तात्पर्य यह कि प्रसाद-गुण में पहले शिथिलता और पीछे गाढता रहती है और समाधिगुण में पहले गाढता और फिर शिथिलता। समाधि का उदाहरण लीजिए—

*स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गातुङ्गभङ्गरतरङ्गसखानाम्।
केवलामृतमुचां वचनानां यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम्॥

---

* कवि कहता है कि—जिस (राजा) का मुख-कमल, स्वर्ग से निकली हुई अतएव बेरोक-टोक चलनेवाली गंगा की ऊँची और

यहाँ पूर्वार्ध में आरोह है और तीसरे चरण में अवरोह। यद्यपि गंगा आदि शब्दों में माधुर्य को अभिव्यक्त करनेवाले वर्ण भी हैं, तथापि वे लंबे समास के बीच में आ गए हैं, अतः माधुर्य ऊँचा नहीं हो सकता, वह समास के चक्कर में आकर दब गया है। हाँ, उत्तरार्ध में तो वह भी है। ये हैं दस शब्दों के गुण।

अर्थगुण

श्लेष

इसी तरह—

चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको सिद्ध कर देनेवाली युक्ति, इनका एक के बाद दूसरी क्रिया द्वारा एक ही स्थल में इस प्रकार वर्णन करना कि परस्पर का संबंध बना रहे श्लेष कहलाता है। जैसा कि अमरुक कवि का निम्नलिखित पद्य है—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलका प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति॥

लचकती हुई लहरों के मित्र (अर्थात् उनके समान) एवं निरा अमृत बरसानेवाले वचनों की नाट्यशाला है—अर्थात् जहाँ ऐसे वचन सर्वदा नाचते ही रहते हैं।

दोऊ प्यारिन देखि ढिँग-बैठी, इकके, आइ।
पीछे सों, मिस खेल के, मींचे नैन दुराइ॥
मींचे नैन दुराइ नैंक करि ग्रीवा नीची।
पुलकित ह्वै, चितमाँहि प्रेम-रस सों अति सींची॥
हँसत कपोलन माँहि, आन कइँ, धूत सिसक बिन।
चूमत, इहिं विध करत मुदित सो दोऊ प्यारिन॥

धूर्त्त नायक ने देखा कि दोनों प्रियतमाएँ (जिसे चूमना चाहता है वह, और दूसरी) एक ही आसन पर बैठी हुई हैं। दबे पाँव उसने, पीछे से, उनके समीप में आकर, एक (नायिका) के नेत्रों को, खेल करने के मिस से, बन्द कर दिया; अपनी गरदन को थोड़ी-सी टेढ़ी करके, प्रेम के कारण चित्त में प्रसन्न होती हुई और (दूसरी नायिका न जान जाय, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से जिसके कपोल शोभित हो रहे हैं— ऐसी दूसरी नायिका को, रोमाञ्चित होकर, चूम रहा है।

यहाँ एक नायिका को छोड़कर दूसरी नायिका का चूमना चतुरता से काम करना है; वह प्रकट भी न हुआ; क्योंकि दूसरी नायिका उसे न जान सकी; और उसको सिद्ध कर देने की युक्ति है आँख-मिचोनी का खेल। इन सब बातों का, पीछे से आना, आँख मींचना और खेल करना—आदि क्रियाओं के साथ-साथ, होते रहना वर्णन किया गया है।

प्रसाद

जितना प्रयोजन हो, उतने ही पदों का होना

यह जो अर्थ की निर्मलता है, इसका नाम है 'प्रसाद-गुण'। जैसे—

कमलानुकारि वदनं किल तस्याः

× × × ×

कमल अनुहरत तासु मुख

उसका मुख कमल की नकल करनेवाला है। और यदि इसी को यों कहा जाय कि—

कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्

× × × ×

कमल-कान्ति अनुहरत मुख

(उसका) मुख कमल की कान्ति की नकल करनेवाला है तो यह इसका प्रत्युदाहरण हो जायगा।

समता

जो प्रारम्भ किया गया है, वह टूटने न पावे—ज्यों का त्यों निभ जावे—यह जो विषमता का न होना है, इसी को 'समता-गुण' कहते हैं। जैसे—

हरिः पिता हरिर्माता हरिर्भ्राता हरिः सुहृत्।
हरिं सर्वत्र पश्यामि हरेरन्यन्न भाति मे॥

× × × ×

हरि माता हरि ही पिता हरि भ्राता हरि मित्र।
हरि ते आन न लखहुँ मैं हरि देखौं सर्वत्र॥

एक अनन्य भक्त कह रहा है—(मेरे) हरि ही पिता हैं, हरि ही माता हैं, हरि ही भाई हैं और हरि ही मित्र हैं। मैं सब जगह हरि को ही देखता हूँ, सिवाय हरि के मुझे अन्य किसी का भान नहीं है।

यहाँ यदि (संस्कृत में) 'विष्णुर्भ्राता' और (हिंदी में) 'प्रभु भ्राता' बना दिया जाय, तो जो (हरि शब्द के द्वारा संबंध दिखाना) प्रारंभ किया गया है, वह टूट जायगा और विषमता आ जायगी।

माधुर्य

एक ही बात को भिन्न भिन्न प्रकार से बार बार कहना—यह जो उक्ति की विचित्रता है, इसे 'माधुर्य-गुण' कहते हैं। जैसे—

विधत्तां निश्शङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो !
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्त्ति भवती ॥

× × × ×

रहैं सदैव समाधि-मग्न विधि चिन्ता तजि के।
हरि हू सोवैं सुखित, शेष-सेजहिं सुठि सजि के॥
शिव हू सँग लै भूत-प्रेत नित निरतत रहहू।
अथवा नाना कथा शैलतनया ते कहहू॥

प्रायश्चित्त हु पूर्ण भे वृथा दान, तप, यजन सब।
सकल-मनोरथ-दैनि, तू जग में जागति जननि जब॥

भक्त गङ्गाजी से कहता है—ब्रह्मा निश्चिंत होकर, अनंत काल तक, समाधि लगाते रहें, भगवान् विष्णु शेष-शय्या पर सुख से सोते रहें और शिवजी भी सतत नृत्य करते रहें; हमें किसी की कुछ परवा नहीं। हमारे (सब पापों के) प्राय-श्चित्त हो चुके और हमें तप, दान तथा यजन किसी की कुछ आवश्यकता नहीं, जब कि हे जगदंबे! सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाली तू जगत् में जग रही है। बता, फिर कोई हमारा क्या कर सकता है।

यहाँ 'ब्रह्मा-आदि से हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं है' इस बात को 'समाधि लगाते रहें' इत्यादि प्रेरणाओं के रूप में, उक्ति की विचित्रता से, (अनेक प्रकार से) वर्णन किया गया है, अन्यथा 'अनवीकृतता'-नामक दोष आ जाता।

सुकुमारता

विना अवसर के शोकदायी-पन का न होना—यह जो कठोरता का अभाव है, इसे 'सुकुमारता' कहते हैं। जैसे—

त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः।

× × × ×

प्रिया-विरह ते डरत यह पथिक तुरत घर जात।

एक स्त्री दूसरी स्त्री से कह रही है—यह पथिक प्रियतमा के विरह से डरता हुआ जल्दी से जा रहा है।

यही यदि 'प्रियामरणकातरः' अथवा 'प्रिया-मरन ते डरत यह' कर दिया जाय, तो 'मरण' शब्द के शोक-दायक होने से कठोरता आ जायगी। यह कठोरता (नवीन विद्वानों के मत से) 'अश्लीलता'-नामक दोष के अंतर्गत है।

अर्थव्यक्ति

जिस वस्तु का वर्णन करना हो, उसके असाधारण कार्य और रूप का वर्णन करना 'अर्थव्यक्ति' गुण कहलाता है। जैसे—

गुरुमध्ये कमलाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्त्तुकामं माम्।
रदयन्त्रितरसनाग्रं तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे॥

× × × ×

कमल-बीज-सन हनत म्वहिँ कमल-नैनि गुरु-माँहि।
दाँतन जीभ दबाइ, करि तरल नैन, किय नाँहि॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—सास-ननद आदि गुरुजनों के बीच में बैठी कमलनयनी (नायिका) ने जब देखा कि मैं कमल के मनका (बीज) से उसके ऊपर प्रहार करना चाहता हूँ, तो उसने दाँतों से जीभ के अग्र-भाग को दबाकर एवं नेत्रों को चंचल बनाकर मना कर दिया—कह दिया कि ऐसा न करिएगा, अन्यथा अनर्थ हो जायगा।

इसी को आधुनिक विद्वान् 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहते हैं।

उदारता

"चुम्बनं देहि मे भार्ये ! कामचण्डालतृप्तये ।"

× × × ×

चूमन दै म्वहिं मेहरिया ! करु तिरपत स्मर-डोम ।

"अरी मेहरिया ! तू काम रूपी चंडाल को तृप्त करने के लिये मुझे चूम लेने दे" इत्यादि **ग्रामीण बातों का हटा देना 'उदारता' कहलाता है।**

ओज

'ओज गुण' पाँच प्रकार का है—

१—एक पद के अर्थ का अनेक पदों में वर्णन क ना,

२—अनेक पदों का अर्थ एक ही पद में वर्णन कर देना,

३—एक वाक्य के अर्थ का अनेक वाक्यों में वर्णन करना,

४—अनेक वाक्यों के अर्थ का एक वाक्य में वर्णन और

५—विशेषणों का किसी प्रयोजन से युक्त होना; निरर्थक न होना।

जैसा कि लिखा है—

पदार्थे वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

अर्थात् एक पद के अर्थ में वाक्य की रचना, वाक्य के अर्थ में एक पद का वर्णन करना एवं किसी भी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार की प्रौढ़ि—अर्थात् वर्णन करने की विचित्रता और विशेषणों का किसी अभिप्राय से युक्त होना—इस तरह ओज-गुण पाँच प्रकार का होता है। जैसे—

सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले
रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्रादुद्गतानां नराणां
मधु-मधुरगिरां च प्रादुरासीद्विनोदः॥

× × × ×

जलज-विपिन के सुजन केरि छवि-जनम-समय में।
रजनि-रमन के रम्य राज्य के होत विलय में॥
जनमे हैं जे परम-पुरुष के वदन-कमल-सन।
करत वहै सुविनोद मनुज अरु मधुर-वचन-गन॥

जिस समय कमल-वन के बांधव भगवान् भुवन-भास्कर की शोभा का आरंभ हो रहा था और निशा-नाथ चंद्रदेव का राज्य शीघ्रता से नष्ट हो रहा था, उस समय परम पुरुष

(जगदीश्वर) के मुख से उत्पन्न हुए मनुष्यों (अर्थात् ब्राह्मणों) का और मधु के सदृश मधुर वचनों (अर्थात् श्रुतियों) का विनोद प्रकट हुआ। इसका सारांश केवल इतना है कि प्रातः-काल में ब्राह्मणों ने वेद-पाठ करना प्रारंभ किया।

यहाँ 'प्रातःकाल में' इस एक पद का अर्थ वर्णन करने के लिये पूर्वार्ध के दो चरण बनाए गए हैं और 'ब्राह्मणों' तथा 'वेदों' इन एक एक पदों के लिये आगे का डेढ़ चरण। अतः यह एक पद के अर्थ में अनेक पदों के वर्णन का उदाहरण हुआ।

अब अनेक पदों के अर्थ का वर्णन करने के लिये एक पद के वर्णन का उदाहरण सुनिए—

खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताश्चण्डांशोर्भान्ति भानवः॥

× × × ×

खण्डित वनिता नैन-नलिन रँगिवे में पंडित।
चंड-किरन के किरन करत दिग-भागन मंडित॥

खंडिता स्त्रियों के नेत्र-कमलों की पंक्तियों को सुंदरतया रँगने में चतुर सूर्यदेव की किरणें संपूर्ण दिग्भागों को भूषित करती हुई शोभित हो रही हैं।

यहाँ '**यस्याः पराङ्गनागेहात् पतिः प्रातर्गृहेऽऽष्यति।** अर्थात् जिसका पति दूसरी स्त्री के घर से प्रातः-काल अपने घर आवे' इस वाक्यार्थ के स्थान में केवल 'खंडिता' पद वर्णन किया गया है।

अच्छा, अब एक वाक्य के अर्थ के लिये अनेक वाक्यों का वर्णन भी सुनिए—

अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति ।
सर्वस्वं चाऽपि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥

× × × ×

बिन माँगे सुख देत अरु माँगे कछु हु न देत ।
उच्छृंखल विधि नरन को सरबस हू हरि लेत ॥

कोई बेचारा भाग्य का मारा उसे कोसता है। कहता है--उच्छृंखल विधाता विना माँगे सुख देता है और माँगने पर नहीं देता, प्रत्युत उनका सर्वस्व भी लूट लेता है।

यहाँ 'सब कुछ भाग्य के अधीन है' इस एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्यों की रचना की गई है, अतः यह विस्तार है, जिसे कि प्राचीन आचार्य 'व्यास' नाम से पुकारते हैं।

तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्वेदार्थमधिगत्य सः ।
वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परमं पदम् ॥

× × × ×

तप करते मुनि-वदन ते वेद-अरथ वह पाइ ।
वासुदेव में मेलि मन गह्यो परम पद जाइ ॥

कोई मनुष्य किसी भक्त के विषय में कहता है कि—वह तपस्या करते हुए मुनि के मुख से वेद का अर्थ प्राप्त करके वासुदेव में चित्त लगाकर मोक्ष को प्राप्त हो गया।

यहाँ (१) मुनि तप कर रहे हैं, (२) उनके मुँह से उसने वेद का अर्थ प्राप्त किया, (३) उसके बाद परब्रह्म वासुदेव में चित्त प्रविष्ट किया और (४) तदनंतर मोक्ष को प्राप्त हो गया, इतने वाक्यों के अर्थों का समूह शतृ-प्रत्यय (तपस्यतः), क्त्वा प्रत्यय (अधिगत्य) और बहुव्रीहि समास (वासुदेवनिविष्टात्मा) के द्वारा अनुवाद्य रूप से और तिङन्त (क्रिया) (विवेश) के द्वारा विधेय रूप से लिखकर एक वाक्यार्थ के रूप में कर दिया गया है।

'साभिप्रायता' का अर्थ यह है कि जो वर्णन चल रहा है, उसको पुष्ट करना अर्थात् सहायता पहुँचाना। जैसे—

गणिकाजामिलमुख्यानवता भवता बताऽहमपि।
सीदन् भवमरुगर्त्ते करुणामूर्त्ते! न सर्वथोपेक्ष्यः॥

× × × ×

गनिका-अजामेल-आदिक की रक्षा कीन्हीं तुमने नाथ।
भव-मरु-खाड़े में सीदत मम करुना-मूरति! तजो न हाथ॥

हे करुणामूर्त्ते! गणिका (पिङ्गला) और अजामिल आदि जिनमें मुख्य हैं, उन (बड़े बड़े पापियों) की रक्षा करनेवाले आप संसाररूपी मरुस्थल के (निर्जल) गड्ढे में दुःख पाता हुआ जो मैं हूँ, उसकी सर्वथा उपेक्षा न करिएगा—मुझे बिलकुल ही न भूल जाइएगा।

यहाँ 'उपेक्षा न करिएगा' इस बात को पुष्ट करने के लिये भगवान् को 'करुणामूर्त्ति' विशेषण दिया गया है, जिससे सिद्ध

होता है कि—आप परम दयालु हैं, आप मेरी उपेक्षा करें यह हो ही नहीं सकता। 'पर, यदि पापी समझकर करुणा न करें, तो यह भी आपके स्वभाव के विरुद्ध है' इस बात को सिद्ध करने के लिये गणिका आदि का दृष्टांत दिया गया है और अपना विशेषण 'दुःख पाता हुआ' लिखा है। सो यहाँ एक भी पद निरर्थक नहीं है, सबमें कुछ न कुछ अभिप्राय है।

कांति

रस के स्पष्टतया प्रतीत होने को 'कांति' कहते हैं। इसके उदाहरण रस प्रकरण में वर्णन कर चुके हैं और आगे भी वर्णन किए जायँगे।

समाधि

"जिस बात का मैं वर्णन कर रहा हूँ, वह पहले (किसी के द्वारा) वर्णन नहीं की गई है, अथवा पूर्वोक्त की छाया ही है यह" जो कवि का सोचना है, इसे 'समाधि' कहते हैं। आप कहेंगे कि 'सोचना' एक प्रकार का ज्ञान है, और ज्ञान आत्मा का गुण है, अर्थ का गुण तो है नहीं; फिर इसे आपने अर्थ-गुणों में कैसे गिन लिया? इसका समाधान यह है कि ज्ञान भी तो किसी न किसी अर्थ के विषय में ही होता है, अतः जिस तरह वह समवाय-संबंध से आत्मा में रहता है, वैसे ही विषयता-संबंध से अर्थ में भी रहता है, सो उसे अर्थ-गुण मानने में कोई बाधा

नहीं। उनमें से पहला—अर्थात् पहले वर्णन न की गई बात का वर्णन करना, जैसे—

* **तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी।**

इत्यादि में है, और दूसरा—पहले वर्णन की गई बातों की छाया तो प्रायः सर्वत्र ही है। यह है अत्यंत प्राचीन आचार्यों का सिद्धांत।

अन्य आचार्यों का मत

गुण २० न मानकर ३ ही मानने चाहिएँ।

अन्य विद्वान् तो उपर्युक्त गुणों में से कुछ को पूर्वोक्त—माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक—तीन गुणों से एवं आगे वर्णन किए जानेवाले दोषों के अभावों और अलंकारों से निरर्थक सिद्ध करते हैं, तथा कुछ को विचित्रतामात्र और कहीं कहीं दोषरूप मानते हैं, अतः उतने स्वीकार नहीं करते। अर्थात् वे २० न मानकर, ३ ही गुण मानते हैं। अच्छा, उनके विचार भी सुनिए। वे कहते हैं—

शब्द-गुणों में से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन गुणों का ओज को ध्वनित करनेवाली रचना में अंतर्भाव हो जाता है। यदि आप कहें कि—श्लेष और उदारता, जो कि सब अंशों में गाढ़ रचनारूप होते हैं, का अंतर्भाव ओज की

---

* इसका अर्थ पृ० ४८ में देखो।

ध्वनित करनेवाली रचना में कर लीजिए; पर प्रसाद और समाधि तो गाढ़ और शिथिल दोनों प्रकार की रचनाओं के मिश्रणरूप होते हैं, अतः एक (गाढ़) अंश को ओज का व्यंजक मान लेने पर भी दूसरे (शिथिल) अंश का अंतर्भाव किसमें होगा ? तो हम अनायास कह सकते हैं कि—माधुर्य अथवा प्रसाद की अभिव्यंजक रचना में। अच्छा, चार की गति तो हुई; अब आपके माधुर्य को लीजिए, वह तो हमारे माधुर्य की अभिव्यंजक रचना हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीनों के मत में व्यंजकों (रचना-आदि) में व्यंग्यों (माधुर्य आदि) का प्रयोग लाक्षणिक है। अतएव ओज गुण का भी ओजोव्यंजक रचना में अंतर्भाव समझ लेना चाहिए।

अब 'समता' की चर्चा करिए। सो उसका सर्वत्र होना तो अनुचित ही है; क्योंकि सभी विद्वान्, जिस विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है, उसकी उद्भटता और अनुद्भटता के अनुसार, एक ही पद्य में, भिन्न भिन्न रीतियों के प्रयोग को स्वीकार करते हैं; जैसे—

> निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-
> न्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
> काव्यं तर्हि सखे! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां
> नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः॥

× × × ×

अति पकिबे ते द्रवत दाख अरु मधु को, पूरो।
परम-माधुरी-गरब करत जे बढ़ि बढ़ि दूरो॥
तिन बानिन निरमान माँहि जो निपुन अहै तू।
तो कविता कहु, परम मुदित ह्वै, मो-समुहै तू॥
नतरु कर्ण-कटु काव्य की कथा व्यर्थ, मदमत्त बनि।
निज दुष्ट कर्म लौं हृदय ते बाहिर हू करु मूढ़! जनि॥

यदि तू अत्यंत पकने के कारण झरती हुई दाख और शहद की मधुरता के मद को हटा देने में तत्पर वचनों की रचना का पूर्ण मर्मज्ञ है, तो हे सखे! तू अपनी कविता को मेरे जैसे लोगों के सामने आनंद से कह। पर यदि ऐसा न कर सकता हो, तो जिस तरह अपने किए हुए पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं किया जाता, इसी तरह उसे अपने हृदय के बाहर न कर—मन की मन ही में रख ले, जबान पर मत आने दे।

यहाँ अलौकिक काव्य के निर्माण का वर्णन करने के लिये बनाए हुए तीन चरणों में जिस मार्ग का अवलंबन किया गया है, उसका हीन-काव्य के प्रतिपादन करने के लिये बनाए हुए चौथे चरण में नहीं किया गया। सो यहाँ विषमता ही गुण है, और यदि समता—अर्थात् एक ही रीति—कर दी जाय, तो उलटा दोष हो जायगी।

अच्छा, अब रही कांति और सुकुमारता; सो वे ग्राम्यत्व और कष्टत्व नामक जो दोष हैं, उनका त्याग देना मात्र है;

अतः वे भी गतार्थ हैं। फिर केवल 'अर्थ-व्यक्ति' रह जाती है, सो प्रसाद-गुण के मान लेने पर उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

यह तो हुई शब्द-गुणों की बात, अब अर्थ-गुणों को लीजिए। उनमें से श्लेष और ओज-गुण के पहले चार भेद तो केवल विचित्रता मात्र हैं, उन्हें गुणों में गिनना उचित नहीं; अन्यथा प्रत्येक श्लोक में जो अर्थों की विलक्षण विलक्षण विचित्रताएँ रहती हैं, वे सब भी गुणों के अंतर्गत होने लगेंगी, और आप उन्हें गिनते गिनते पागल हो जायँगे। अच्छा, अब आगे चलिए; अधिक पद न होने का नाम 'प्रसाद' है, उक्ति की विचित्रता का नाम 'माधुर्य', कठोरता न होने का नाम 'सुकुमारता', ग्राम्यता न होने का नाम 'उदारता' और विषमता न होने का नाम 'समता' है, एवं पदों का साभिप्राय होना ओज-गुण का पाँचवाँ भेद है। ये सब क्रमशः अधिक-पदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लीलता, ग्राम्यता, भग्न-प्रक्रमता और अपुष्टार्थतारूपी दोषों के हटा देने से गतार्थ हो जाते हैं। अर्थात् ये दोषों के अभावमात्र हैं, गुण नहीं। अब जो स्वभाव के स्पष्ट वर्णन करने का नाम अर्थव्यक्ति उसकी स्वभावोक्ति अलंकार और रस के स्पष्टतया प्रतीत होने का नाम कांति है, उसकी रसध्वनि तथा रसवान् अलंकारों के स्वीकार कर लेने से, कोई आवश्यकता नहीं रहती। अब केवल समाधि-गुण बच रहता है, वह कवि के अंतःकरण में रहनेवाली

ज्ञानरूप वस्तु है, सो वह कविता का कारण है, गुण नहीं। और यदि ऐसा न मानो तो हम आप से कहेंगे कि प्रतिभा को भी काव्य का गुण क्यों नहीं मानते; क्योंकि आलोचना और प्रतिभा दोनों ही एक प्रकार के ज्ञान हैं, फिर जब प्रतिभा को काव्य का कारण माना जाता है, तो आलोचना को गुण मानने में क्या प्रमाण है ? अतः अंततो गत्वा तीन ही गुण सिद्ध होते हैं, बीस नहीं। यह है 'मम्मट-भट्ट'-आदि का कथन।

माधुर्य-व्यञ्जक रचना

उनमें से माधुर्य-गुण को ध्वनित करनेवाली रचना निम्न-लिखित प्रकार की होती है। वह, टवर्ग के अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्रथम और तृतीय अक्षरों, तथा श-ष-स एवं य-र-ल-व से बनी हुई; समीप समीप में प्रयोग किए हुए अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनासिकों से शोभित; जिनका आगे वर्णन किया जायगा, उन—साधारणतया और विशेषतया—निषेध किए हुए संयोगादिकों के स्पर्श से शून्य और समास के प्रयोगों से रहित अथवा उसके कोमल प्रयोगों से युक्त होनी चाहिए। वर्गों के दूसरे और चौथे अक्षर—ख-घ आदि—यदि दूर दूर आए हों, तो वे इस गुण के न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल। हाँ, यदि उनका समीप समीप में प्रयोग हो और उनसे अनुप्रास बन जाते हों, तो प्रतिकूल भी हो जाते हैं। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि टवर्ग से भिन्न वर्गों के पाँचों अक्षर समान रूप से ही माधुर्य को

ध्वनित करनेवाले होते हैं*। अच्छा, अब माधुर्य का उदाहरण सुनिए—

तान्तमाल-तरु-कान्तिलङ्घिनीं किङ्करीकृतनवाम्बुदत्विषम् ।
स्वान्त! मे कलय शान्तये चिरं नैचिकी-नयन-चुम्बितां श्रियम्॥

× × × ×

जो किङ्कर किय नव-अम्बुद-दुति, उलँघिय जो तमाल-तरु-कान्ति ।
धेनु-नैन-चुम्बित तेहि शोभहिं मम मन, सुमिर चहसि जो शान्ति ॥

एक भक्त अपने हृदय से कहता है—हे मेरे हृदय, तू, शान्ति प्राप्त करने के लिये, जिसने तमाल-वृक्ष की कांति का उल्लंघन किया है—उस बेचारी को पैरों के नीचे होकर निकाल दिया है, और जिसने नवीन मेघों की कांति को अपना आज्ञाकारी चाकर बना लिया है, उस, उत्तमोत्तम गायों के नेत्रों से चुंबन की हुई—उनके द्वारा इकटक देखी गई (भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की) शोभा को स्वीकार कर—सदा उसे ही स्मरण करता रह ।

अथवा; जैसे—

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
रन्तःस्मितालसविलोकनवन्दनीया ।
आनन्दमंकुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥

× × × ×

* पर उन लोगों का ध्यान द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के अनुप्रासों की तरफ नहीं गया, ऐसा प्रतीत होता है।—अनुवादक ।

सेद-सलिल के सघन कनन शोभित कपोल-वर ।
अन्तरगत मृदु हँसन, अलस चितवन ते मनहर ॥
अरुन-नयनि की वहै अकथ थिति, अतिसै सुन्दर ।
सुमिरत होत अनंद केर अंकुर उर-अंतर ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—जिसका कपोलस्थल पसीने के जल की सघन बूँदों से सुशोभित है और जो भीतरी मंद हास तथा आलस्ययुक्त चितवन से प्रशंसनीय है; वह मद-माते नेत्रवाली नायिका की रमणीय और अनिर्वचनीय अवस्था स्मरण करते ही हृदय में आनंद को अंकुरित कर देती है ।

यहाँ पहले पद्य में, अतिशयोक्ति से अलंकृत, जो भगवान् के ध्यान की उत्सुकता है, उसका; अथवा भगवान् के विषय में जो प्रेम है, उसका; अंततो गत्वा शांत-रस में ही पर्यवसान होता है; अतः यह रचना शांत-रस के माधुर्य को अभिव्यक्त करती है और दूसरे पद्य में स्मरण के सहारे उपस्थित हुए (स्मृत) शृंगार-रस के माधुर्य को अभिव्यक्त करती है ।

ओजो-व्यंजक रचना

ओज-गुण का बंध, समीप समीप में प्रयोग किए हुए वर्गों के दूसरे और चौथे अर्थात् ख-घ-आदि-अक्षरों, टवर्ग के अक्षरों और जिनमें जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग और सकार आदि अधिक हों—ऐसे अक्षरों से बना हुआ, वर्गों के आदि के चार अक्षरों अथवा रेफ के द्वारा बने हुए संयोग जिनके आगे हों—ऐसे और समीप समीप में प्रयोग किए हुए ह्रस्व स्वरों से युक्त

और बड़े बड़े समासवाला होता है। इस बंध के अंदर आए हुए वर्गों के पहले और तीसरे—अर्थात् क-ग आदि अक्षर यदि संयुक्त न हों, तो न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल; और यदि संयुक्त हों, तो अनुकूल ही हो जाते हैं। इसी तरह अनुस्वार और परसवर्णों को भी समझिए—वे भी न अनुकूल हैं, न प्रतिकूल।

इसके उदाहरण हैं 'अयं पततु निर्दयम्...'आदि; जो कि पहले रौद्र-रस आदि के उदाहरणों में लिखे जा चुके हैं। (हिंदी में महाकवि भूषण की रचना प्रायः इसी गुण का उदाहरण है)

प्रसादव्यञ्जक रचना

जिसके सुनते ही वाक्य का अर्थ हाथ के बेर की तरह दीखने लगे—उसके समझने के लिए किंचित् भी प्रयास न करना पड़े—वह रचना प्रसाद-गुण को अभिव्यक्त करनेवाली होती है। यह गुण सब—रस, भाव आदि—में रहता है, किसी विशेष प्रकार के रस अथवा भाव में ही रहता हो, सो नहीं। प्रायः मेरे (पंडितराज के) सभी पद्य इस गुण के उदाहरण हो सकते हैं; तथापि जैसे—

चिन्तामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीनप्रभाः
प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां समस्ता कथा।
एतत् त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे
मुग्धे! मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति॥

× × × ×

मुकुलित किय मन मदन सतत चिन्ता उपजाके।
सखियाँ निष्प्रभ भईं, प्रानपति विनवत थाके॥
रहै यहै सब, करौं निवेदन इतनें तोसें।
राखत तू जो सखी! हितू को नातो मोसें॥
भोरी! मान न करु, न तरु मान-मलिन यह मुख-नलिन।
हारि जाइगो सरद के राकापति सों जोति बिन॥

मानिनी नायिका से सखी कहती है कि—कामदेव का चित्त चिन्ता से बिलकुल घिर गया है—उसमें सोचने की शक्ति ही नहीं रही है, सखियाँ (सोच के मारे) कांति-हीन हो गई हैं और प्राणनाथ प्रेम के कारण अधीर हो उठे हैं—अब तो हठ छोड़ दे। अच्छा, यह भी रहने दे; पर यदि तू मेरे कथन को भला समझती है—जैसा कि सदा से समझती आई है—तो तुझसे इतना निवेदन कर देती हूँ कि मुग्धे! तू मान न कर; अन्यथा इस सुंदर मुखड़े को पूर्ण चंद्रमा जीत जावेगा—रोष से मुख में मलिनता आ जाने के कारण उस कलङ्की की इससे तुलना हो जायगी जो पहले कभी न थी। हाय रे! भोलापन!! क्या अब भी प्रसन्न होना नहीं चाहती!

यह पूरा पद्य प्रसाद-गुण को अभिव्यक्त करता है, और किसी किसी अंश में माधुर्य तथा ओज को भी; क्योंकि '**चिन्तामीलितमानसो मनसिजः**' और '**मा कुरु मानमाननमिदम्**' इन भागों से माधुर्य की, और '**सख्यो विहीनप्रभाः**......' आदि भागों से ओज की भी अभिव्यक्ति होती है।

आप शंका कर सकते हैं कि यहाँ शृंगाररस में रहने-...ते माधुर्य को अभिव्यक्त करने के लिये उसके अनुकूल रचना भले ही रहे; पर ओज का यहाँ प्रसंग ही क्या है कि उसके अनुकूल अक्षरों का विन्यास किया गया। इसका समाधान यह है कि--सखी ने नायिका का मान शांत करने के लिये अनेक यत्न किए और उसके भले की बात कह रही है, तथापि वह प्रसन्न न हुई; अतः उसे क्रोध आ गया। सो उसकी क्रोधयुक्तता को अभिव्यक्त करने के लिये वह विन्यास भी सफल है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, (यह सिद्धांत है कि) जहाँ ओजस्वी रस और अमर्षादि भावों के वर्णन की इच्छा न हो, वहाँ भी यदि बोलनेवाले का क्रोधीपन प्रसिद्ध हो, अथवा जिस अर्थ का वर्णन किया जाता हो, वह अत्यंत क्रूर हो, यद्वा जो निबंध लिखा जा रहा हो, वह आख्यायिका आदि हो, तो कठिन वर्णों की रचना होनी चाहिए।

अच्छा, छोड़िए इस सब पंचायती को, आप केवल प्रसाद गुण का ही उदाहरण सुनिए—

वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ! शिक्षामदा-
  स्तां स्वप्नेऽपि न संस्पृशाम्यहमहंभावावृतो निस्त्रपः।
इत्यागःशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रत-
  स्त्वत्तो नाऽस्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तः परः॥

सुधा-मधुर निरमल बानी ते जो तुम शिक्षा दीन्हीं नाथ !
तेहिँ सपनेहू छुवत न निरलज हौं, परि अहङ्कार के हाथ ॥
इहिं विधि शत-शत दोष-युक्त म्वहिँ पुनि पुनि देत निजन में स्थान ।
तुम-सम करुनानिधि ना यदुपति, मो-सम मदमातो ना आन ॥

हे नाथ ! आपने अमृत के समान मधुर और निर्मल वाणी से, जो शिक्षा दी, उसे अहङ्कार से आच्छादित निर्लज्ज मैं, सपने में भी, नहीं छूता । हे यदुपते ! इस तरह सैकड़ों अपराधों से युक्त मुझे, फिर भी आत्मीयों में भरती करने-वाले आपसे अधिक कोई दयानिधि नहीं है, और मुझसे अधिक मदमत्त नहीं ।

यहाँ केवल प्रसाद-गुण है, उसके साथ अन्य किसी गुण का मिश्रण नहीं ।

रचना के दोष

अब जिस रचना में पूर्वोक्त गुणों को ध्वनित करने की शक्ति रहती है, उसके परिचय के लिये, साधारणतया—अर्थात् जिनको सब काव्यों में छोड़ना चाहिए और विशेषतया अर्थात् जिनको किसी रस में छोड़ना चाहिए और किसी में नहीं, वर्जनीयों का कुछ वर्णन किया जाता है—

साधारण दोष

एक अक्षर का साथ ही साथ फिर से प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार हो, तो सुनने में कुछ अनुचित प्रतीत

होता है; जैसे—'ककुभसुरभिः', 'विततगात्रः' और 'पललमिवाभाति' इत्यादि में बड़े अक्षरों का। यदि वही बार बार हो, तो अधिक अनुचित प्रतीत होता है; जैसे—'विततततरस्तरुरेष भाति भूमौ'। इसी तरह भिन्न भिन्न पदों में आने पर भी अधिक अनुचित प्रतीत होता है; जैसे—'शुक करोषि कथं विजने रुचिम्' इत्यादि में। और यदि भिन्न भिन्न पदों में हो और बार-बार हो, तो और भी अधिक अनुचित होता है; जैसे 'पिक ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्'।

इसी तरह पहले जिस वर्ग का अक्षर आया है, उसके साथ ही साथ उसी वर्ग के अन्य अक्षर का प्रयोग, यदि एक-पद में और एक बार हो, तो कानों को कुछ अनुचित लगता है; जैसे—'वितथस्ते मनोरथः' यहाँ त और थ का। पर यदि बार-बार हो, तो अधिक अश्रव्य होता है; जैसे—'वितथतरं वचनं तव प्रतीमः' यहाँ 'त-थ-त' का प्रयोग। इसी तरह यदि भिन्न-भिन्न पदों में हो, तब भी अधिक अश्रव्य होता है; जैसे—'अथ तस्य वचः श्रुत्वा' इत्यादि में। और यदि भिन्न भिन्न पदों में और बार बार हो, तो और भी अधिक अश्रव्य होता है; जैसे—'अथ तथा कुरु येन सुखं लभे' यहाँ 'थ-त-थ' का प्रयोग। यह एक वर्ग के अक्षरों का सह-प्रयोग पहले के बाद दूसरे का और तीसरे के बाद चौथे का हो, तभी अनुचित होता है। पहले और तीसरे एवं दूसरे और तीसरे का सह-प्रयोग तो उतना अश्रव्य नहीं होता, किंतु बहुत कम होता है, जिसे कि रचना

के मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। यह अर्थात् पहले के बाद तीसरे का और दूसरे के बाद तीसरे का प्रयोग भी यदि बार बार हुआ, ते उसे साधारण मनुष्य भी समझ सकते हैं; जैसे—'**खगक**लानिधिरेष विजृम्भते' और 'इति व**दति दि**वानिशं धन्यः' इत्यादि में। पंचम वर्ण अर्थात् ङकारादिकों का तो मधुर होने के कारण अपने वर्ग के अक्षरों के पहले अथवा पीछे आना बुरा नहीं प्रतीत होता; जैसे—'**तनुते तनुतां लनौ**' इत्यादि में। परंतु एक ही अक्षर का साथ ही साथ बार बार प्रयोग तो उनका भी अश्रव्य होता है; जैसे—'**मम म**हती **म**नसि व्यथाऽऽविरासीत्' यहाँ।

ये अश्रव्यताएँ गुरु अक्षर के बीच में आ जाने से हट जाती हैं; जैसे—'संजायतां कथङ्कारं **काके केका**कलस्वनः'। इत्यादि में। अथवा, जैसे—

*यथा यथा तामरसायतेक्षणा
मया सरागं नितरां निषेविता।
तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो
विकृष्य मामेकरसञ्चकार सा॥ यहाँ।

---

* नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैंने कमल से विशाल नेत्र-वाली (उस नायिका) को ज्यों ज्यों प्रेमसहित पूर्णतया सेवन किया त्यों त्यों उसने मुझे, तत्त्व-कथा (ब्रह्मविचार) की तरह, सब तरफ से खींचकर, एक-रस कर लिया—अर्थात् जैसे ब्रह्मज्ञानी को सिवाय ब्रह्म के और कुछ भी नहीं सूझता, वैसे मुझे सिवाय उसके और कुछ भी नहीं सूझने लगा।

गुरु-अक्षर दो प्रकार के होते हैं—एक दीर्घ, और दूसरे वे जिनके आगे संयोग होता है। उनमें से, पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घों के बीच में आने के कारण अश्रव्यता मिट गई—यह दिखाया गया है। अब जिन अक्षरों के आगे संयोग होता है, उनके बीच में आने से अश्रव्यता की निवृत्ति का उदाहरण सुनिए—

*सदा जयानुषङ्गाणामङ्गानां सङ्गरस्थलम् ।
रङ्गाङ्गणमिवाभाति तत्तत्तुरगताण्डवैः ॥

यहाँ 'तत्तत्तु' में संयुक्त तकारों के द्वारा अश्रव्यता निवृत्त हो गई। यहाँ एक बात और समझ लेने की है। वह यह कि गुरु-स्वर जिन दो अक्षरों के बीच में आता है, उन दो में. एक के बाद दूसरे के आने के कारण, जो अश्रव्यता उत्पन्न हो जाती है, उसे ही दूर करता है; इस कारण, पूर्वोक्त 'यथा यथा तामरसायतेक्षणा...' इस पद्य में 'यथा ता' इस भाग में और 'तथा तथा त' इस भाग में थकार के अनंतर जो तकार आए हैं, उनका दोष दूर हो जाने पर भी तकार के बाद थकार आने के कारण जो अश्रव्यता आ गई है, वह ज्यों की त्यों है; क्योंकि उनके बीच में कोई गुरु नहीं, किंतु ह्रस्व अकार है।

---

* कवि अङ्ग देश के राजाओं का वर्णन करता है कि—जिनके पीछे सदा विजय फिरा करती है—जो अब तक कभी परास्त नहीं हुए, उन अंग देश के राजाओं का वह युद्ध-स्थल उन खेत के घोड़ों के नृत्यों से नाटकघर के आँगन सा प्रतीत होता है।

इसी प्रकार तीन अथवा तीन से अधिक अक्षरों का संयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है; जैसे—'राष्ट्रे तवोष्ट्रः परितश्चरन्ति' यहाँ 'ष्ट्र'। इस तरह, अनुभव के अनुसार, ऐसे ऐसे कर्णकटुता के अन्य भेद भी समझ लेने चाहिएँ।

पूर्वपद के अन्त में दीर्घ स्वर हो, और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो, तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य* होता है; और यदि बार-बार हो, तो बहुत ही अधिक। जैसे—

†हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते।
सेवितं सर्वसंपद्भिरपि तद्भवनं वनम्॥

यहाँ पूर्व-पद 'हरिणी' शब्द के आगे पकार और रेफ का संयोग है। पर, यदि दीर्घ स्वर और उसके आगे का संयोग दोनों एक ही पद में हों, तो वैसी अश्रव्यता नहीं होती; जैसे—'जाग्रता विचितः पन्थाः शास्त्राणां वृथोद्यमः' इत्यादि में।

पर-सवर्ण‡ के कारण जो संयोग होता है, उसका दीर्घ के अनंतर विद्यमान होना, नाममात्र भी अश्रव्य नहीं होता क्योंकि वह सर्वथा भिन्न-पद में होता नहीं, और मधुर भी होता है, जैसे—'तान्तमालतरुकान्तिलङ्घिनीम्...' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य

---

* यह दोष हिंदी में नहीं होता; क्योंकि वहां भिन्न-पद में संयोग होने पर पूर्व-पद के स्वर पर जोर देने की रीति ही नहीं है।

† जहाँ मृगनयनी गृहिणी दिखाई नहीं देती, वह घर सब संपत्तियों से युक्त होने पर भी वन है।

‡ यह सब शास्त्रार्थ भी केवल संस्कृतवालों के काम का है।

में। यहाँ 'तान्तमाल' और 'नीङ्किङ्करी' में जो पर-सवर्ण किया गया है, वह पूर्व पद से भी संबंध रखता है, इस कारण, इस संयोग को, भिन्न-पद में होनेवाला, नहीं कहा जा सकता। पर जिन लोगों का यह मत है कि—"संयुक्त वर्णों में प्रत्येक की संयोग संज्ञा माननी चाहिए" उनके विचारानुसार भी "तान्त-माल" में त और न दोनों संयोग हैं सही पर तमाल का पहला वर्ण 'त' संयोग भिन्न पद में रहने पर भी 'ता' के दीर्घ आ से अव्यवहित पर नहीं है, क्योंकि बीच में परसवर्ण 'न' का व्यवधान है। अतः समुदाय की संयोग संज्ञा मानने-वालों के मत से संयोग भिन्न पद-गत नहीं हुआ इससे, और प्रत्येक की संयोग संज्ञा माननेवालों के मत से, संयोग होने पर भी वह बीच में व्यवधान डालनेवाले परसवर्ण के आ जाने से अश्रव्य नहीं हुआ। इसी पद्य में 'नवाम्बुद' शब्द में 'नव' और 'अम्बुद' शब्द के व के अ और अम्बुद के अ के स्थान में जो आ दीर्घ हुआ है, वह व्याकरण की परिभाषा के अनुसार एकादेश है, अतः वह दोनों पदों से पृथक् पृथक् संबंध रख सकता है❀। सो वह जब पूर्व पद का भाग गिना जाय, तब 'म्बु' में जो संयोग है, वह यद्यपि भिन्न-पद-गत भी है और दीर्घ से आगे भी कि जिसके बीच में कोई व्यवधान न हो। तथापि यहाँ 'भिन्न-पद-गत' संयोग उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तर्गत न हो, अतः कुछ

❀ देखो—'अन्तादिवच्च' सूत्र की कौमुदी।

दोष नहीं। तात्पर्य यह है कि 'नव' और 'अम्बुद' पद यद्यपि भिन्न भिन्न हैं, तथापि वे समास में आ जाने के कारण 'नवाम्बुद' रूपी एक पद के अंतर्गत हो गए हैं, अतः यहाँ अश्रव्यता नहीं रही।

पूर्वोक्त भिन्न-पद-गत संयोग यदि बार बार आवे, तो अत्यंत कर्ण-कटु हो जाता है; जैसे—'एषा प्रिया मे क्व गता त्वपाकुला' इसमें।

उपर्युक्त अश्रव्यताओं के कारण काव्य लँगड़ा लँगड़ा कर चलता सा प्रतीत होता है, उसकी सरस धारा में रुकावट आ जाती है; अतः इनका परिहार आवश्यक है।

*अब संधियों के नियमों की बात सुनिए। संधि का, अपने इच्छानुसार, एक बार भी न करना अश्रव्य होता है; जैसे—'रम्याणि इन्दुमुखि! ते किलकिञ्चितानि' यहाँ 'णि' और 'इ' में संधि न करना। पर, प्रगृह्य संज्ञा के कारण जो संधि नहीं की जाती, वह बार बार आवे तभी अश्रव्य होती है, केवल एक बार आने से नहीं; जैसे—'अहो अमी इन्दुमुखी-विलासाः' यहाँ ओ+अ और ई+इ में। इसी तरह 'य' और 'व' के लोप के कारण जो संधि नहीं की जाती, वह भी यदि बार बार आवे तो खटकती है; जैसे—'अपर इषव एते कामिनीनां दृगन्ताः' यहाँ अ+इ और अ+ए में। पर, यदि आप पूछ उठें कि तब आपने—

* यह सब भी केवल संस्कृत काव्यों के लिये ही उपयोगी है।

*भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवाऽवनीरमण !
तारा इव तुरगा इव सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ॥

यह कविता कैसे कर डाली—यहाँ तो इनकी भरमार है; तो हम उत्तर देते हैं कि—(कृपया) यकार का लोप न करके पढ़िए; अर्थात् 'मन्त्रायिवा' 'तारायिव' 'तुरगायिव' यों पढ़िए। इसी तरह 'रु' के 'उ', हल् पर रहते 'य' के लोप, यण्, गुण, वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ और पूर्व-रूपादिकों का समीप समीप में अधिक प्रयोग भी अश्रव्यता का कारण होता है।

ये उपर्युक्त सभी अश्रव्यों के भेद सभी काव्यों में वर्जनीय हैं; चाहे किसी रस का वर्णन हो, इन अश्रव्यताओं का न आने देना ही उचित है।

विशेष दोष

अब विशेषतया वर्जनीयों (अर्थात् जिन्हें किसी रस में छोड़ना चाहिए,) का वर्णन किया जाता है। उनमें से, जो दोष मधुर-रसों में निषिद्ध हैं और जिनका अभी वर्णन किया जावेगा, वे ओजस्वी रसों के अनुकूल होते हैं—वहाँ

* कवि कहता है—हे राजन्, आपके मंत्री, गारुड़ मंत्रों की तरह, जिनका स्वभाव भुजगों (जारों + सर्पों) के लिये अहित है, ऐसे हैं—अर्थात् जैसे गारुड़ मंत्र स्वभावतः सर्पों के विरुद्ध हैं, उसी प्रकार आपके मंत्री स्वभावतः गुंडों के विरुद्ध हैं, और, तारों की तरह तथा घोड़ों की तरह, सुखलीन (अच्छे आकाश में स्थित + अच्छी लगाम-वाले + आनन्दमग्न) हैं।

उनको अवश्य लाना चाहिए; और जो मधुर-रसों के अनुकूल वर्णन किए गए हैं, वे ओजस्वी रसों के प्रतिकूल होते हैं, अतः उनसे उन रसों को बचाना चाहिए। यह एक साधारण निर्णय है, इसे अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए।

अच्छा, तो अब मधुर-रसों में निषिद्धों को सुनिए। मधुर-रसों में लंबे समासों, जिनके आगे वर्गों के पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरों के संयोग हों—ऐसे ह्रस्वों, विसर्गों, विसर्गों के आदेश सकारों, जिह्वामूलियों, उपध्मानीयों, टवर्ग के अक्षरों, और प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षरों, रेफ अथवा हकार द्वारा बने हुए संयोगों, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों के उन्हीं के साथ संयोगों—अर्थात् उनके द्वित्वों और वर्गों के प्रथम से चतुर्थ पर्यंत के वर्णों में से किन्हीं दो के संयोगों के समीप समीप में बार बार प्रयोगों को छोड़ना चाहिए। और जिनके स्थान एवं प्रयत्न एक से हों—ऐसे वर्गों के प्रथम से चतुर्थ तक के बने हुए संयोग और श-ष-स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर के द्वारा बने हुए संयोग का एक बार भी प्रयोग न आने देना चाहिए। अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिए। **लंबा समास**; जैसे—

*लोलालकावलिवलन्नयनारविन्द-
लीलावशंवदितलोकविलोचनायाः।

---

* चंचल अलकावलि और चलते हुए नेत्र-कमलों की लीला से जिसने सब मनुष्यों के नेत्रों को वशंवद कर लिया है—ऐसी, सायंकाल

सायाह्नि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-

श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः ॥

यहाँ पूर्वार्ध में—

जिनके आगे वर्गों के पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे वर्णों के संयोग हों—ऐसे ह्रस्वों की अधिकता; जैसे—

* हीरस्फुरद्रदनशुभ्रिमशोभि किञ्च

सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः ।

वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बं

दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः ॥

इस पद्य में 'भ्रि' शब्द पर्यन्त जो रचना है, वह शृंगार-रस के प्रतिकूल है, शेष सुंदर है। यद्यपि उत्तरार्ध में, 'पुनरुक्त' शब्द में, ककार और तकार का संयोग है, तथापि ऐसे संयोगों की प्रचुरता न होने के कारण दोष नहीं गिना जा सकता। और यदि इसी पद्य के आदि में 'दन्तांशुकान्तमरविन्दरमापहारि...' बना दिया जाय, तो सभी पद्य सुन्दर हो सकता है।

के समय, अपने प्रेमी के घर जाती हुई अंगना की चाल किसका चित्त नहीं चुराती ?

* हीरों के समान चमकते हुए दाँतों की धवलता से शोभित और सघन अमृत से युक्त मृग-नयनी के मुख को बनाकर, विद्वानों में श्रेष्ठ विधाता पुनरुक्त के समान (नीरस) चंद्र-बिंब को क्यों नहीं हटा देता है—अब भी इसे आकाश में क्यों टाँग रक्खा है !

विसर्गों की प्रचुरता; जैसे—

*सानुरागाः सानुकम्पाश्चतुराश्शीलशीतलाः।
हरन्ति हृदयं हन्त कान्तायाः स्वान्तवृत्तयः॥

यहाँ दो शकारों के संयोग पर्यन्त पूर्वार्ध का भाग मधुरता के अनुकूल नहीं है।

जिह्वामूलीयों की प्रचुरता; जैसे—

†कलितकुलिशघाता ᳵ केऽपि खेलन्ति वाता ᳵ
कुशलमिह कथं वा जायतां जीविते मे।
अयमपि बत! गुञ्जन्नालि! माकन्दमौलौ
चुलुकयति मदीयां चेतनां चञ्चरीकः॥

यहाँ दूसरे जिह्वामूलीय पर्यंत का भाग मधुरता के अनुकूल नहीं है। पर यदि "कथय‡ कथमिवाशा जायतां जीविते

---

* प्रियतमा की प्रेम और दया से युक्त, चतुर और शीतल चित्त-वृत्तियां, हाय! हृदय को हरण किए लेती हैं।

† विरहिणी कहती है कि—वज्र के से आघात करनेवाले न जाने कौन से वायु खेल रहे हैं, फिर, भला! मेरे जीवन की कुशलता कैसे उत्पन्न हो सकती है। और हे सखी! बड़े खेद की बात तो यह है कि आम की चोटी पर गूँजता हुआ यह भौंरा भी मेरे जीवन को चुल्लू किए जा रहा है।

‡ कह, मेरे जीवन की आशा कैसे हो सकती है, जब कि मलयाचल के चंदनों से लिपटे हुए सर्पों के उगले हुए ये कालरूप वायु चल रहे हैं।

मे मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः" यों बना दिया जाय तो यह दोष नहीं रहता।

उपध्मानीयों की प्रचुरता; जैसे—

*अलकाः फणिशावतुल्यशीला नयनान्ताः परिपुङ्खितेषुलीलाः।
चपलोपमिता खलु स्वयं या वद लोके सुखसाधनं कथं सा॥

यहाँ दोनों उपध्मानीय शान्त-रस के अनुकूल नहीं हैं।

टवर्ग और वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों की प्रचुरता; जैसे—

†वचने तव यत्र माधुरी सा हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत्।
अधुना हरिणाक्षि! हा! कथं वा कटुता तत्र कठोरताऽऽविरासीत्॥

यदि इसी का उत्तरार्ध '‡अधुना सखि तत्र हा! कथं वा गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम्' यों बना दिया जाय तो माधुर्य के अनुकूल हो जायगा।

---

* एक विरही कहता है—जिसके केश सर्प के बच्चों के समान स्वभाववाले हैं, जिसके नयनप्रांत पंखवाले बाणों की सी लीला करनेवाले हैं और जो स्वयं बिजली के समान है, आश्चर्य्य है कि वह (स्त्री) संसार में सुख का साधन कैसे मानी जाती है!

† नायक कहता है कि—हे मृगनयने! जिस तेरे वचन में वह अनुपम मधुरता थी और जिस कोमल हृदय में पूरी दया थी, हाय! आज उन्हीं दोनों वस्तुओं में कटुता और कठोरता कैसे उत्पन्न हो गई!

‡ हे सखि! अब उन्हीं दोनों में गुणों की गति दूसरी ही कैसे दिखाई देती है!

रेफों के द्वारा बने हुए संयोग का बार-बार प्रयोग; जैसे—

*तुलामनालोक्य निजामखर्वं गौराङ्गि! गर्वं न कदापि यायाः।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो लताः कियत्यो गहनान्तरेषु ॥

पर, यदि '†तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्' बना दिया जाय, तो ठीक हो जाय।

ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों का उन्हीं के साथ संयोग का बार बार प्रयोग; जैसे—

‡विगणय्य मे निकाय्यं तामनुयातोऽसि नैव तन्न्याय्यम्।

पर, ल, म और न का जो अपने आपके साथ संयोग होता है, वह तो उतना कठोर नहीं होता; जैसे—

§इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वयं ते।
जलदालिमयं जगद्वितन्वन् कलितः क्वापि किमालि! नीलमेघः॥

---

* नायक कहता है—हे गौरांगि! अपनी समानता न देखकर तुझे अधिक अभिमान न करना चाहिए। जंगलों में अनेक फलों के भार से झुकी हुई कितनी लताएँ शोभित हो रही हैं।

† इस पृथिवीतल पर समानता न देखकर·····।

‡ नायिका नायक से कहती है—मेरे घर का निरादर करके (तू) उस (सपत्नी) के पीछे लगा हुआ है, यह न्यायोचित नहीं है।

§ सखी संभोगचिह्निता गोपी से कह रही है—हे सखी! तेरे मुख की यह शोभा उल्लास युक्त हो रही है, और तेरे दोनों नयन-कमल पूरे

वर्गों के प्रथम से लेकर चतुर्थ पर्यंत वर्णों में से किन्हीं दो के संयोग का बार-बार प्रयोग; जैसे—

*आ-सायं सलिलभरे सवितारमुपास्य सादरं तपसा।
अधुनाऽब्जेन मनाक्तव मानिनि! तुलना मुखस्याऽऽप्ता॥

यहाँ उत्तरार्ध सुंदर नहीं है। पर, यदि† 'सरसिजकुलेन संप्रति भामिनि! ते मुखतुलाऽधिगता' यों बना दिया जाय, तो उत्तम हो जाय।

झयों अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों में से किन्हीं दो सवर्णों के संयोग का एक बार प्रयोग; जैसे—

‡अयि! मन्दस्मितमधुरं वदनं तन्वङ्गि! यदि मनाक्कुरुषे।
अधुनैव कलय शमितं राकारमणस्य हन्त! साम्राज्यम्॥

खिल रहे हैं; सो, कहीं, सब जगत् को मेघमालामय बनानेवाला नील-मेघ (भगवान् श्रीकृष्ण) मिल गया है क्या?

* दूती अथवा सखी मानिनी नायिका से कहती है कि हे मानिनि! सांझ तक गहरे जल में रह कर, भगवान् सूर्य्य की उपासना करने के अनंतर, अब—दूसरे दिन में—कमल ने तेरे मुख की किञ्चिन्मात्र समानता प्राप्त की है।

† हे कोपकारिणी! अब जाकर कमलों के समूह ने तेरे मुख की समानता प्राप्त की है।

‡ हे कृशांगि! यदि तू अपने मुख को, थोड़ा भी, मंदहास से मधुर कर ले, तो हर्ष है कि निशानाथ चंद्र-देव का साम्राज्य शांत हुआ ही समझ; फिर उसकी तिथि कोई न पूछेगा।

यदि आप शंका करें कि यहाँ जो दो ककारों का संयोग है, उसका तो व्यंजनों का, जो अपने आपके साथ, संयोग निषिद्ध माना गया है, उसी से निषेध हो जाता है; और क ख का संयोग हो, तो, वह महा-प्राणों के संयोग का जो निषेध किया गया है, उससे गतार्थ हो जाता है। रहा तीसरा संयोग, सो वह हो ही नहीं सकता; अतः दो सवर्ण झयों का निषेध जो आपने पृथक् लिखा है, उसके लिये कोई अवकाश ही नहीं रहता; फिर उसके लिखने से क्या फल सिद्ध हुआ? इसका समाधान यह है कि दो सवर्ण झयों का संयोग यदि एक बार हो, तथापि दूषित होता है, सो यह उससे भिन्न है; अन्यथा 'मनाक्कुरुषे' यह निर्दोष हो जायगा; क्योंकि यहाँ व्यंजन का अपने आपके साथ संयोग तो है, पर बार बार नहीं।

महा प्राणों के द्वारा बने हुए संयोग का प्रयोग; जैसे (पूर्वोक्त श्लोक का पूर्वार्ध यों बना दीजिए)—

* अयि मृगमदबिन्दुं चेद्भाले बाले ! समातनुषे।

और शेष उत्तरार्ध वही रखिए।

इसी तरह, 'त्व' प्रत्यय, यङंत, यङ्लुगन्त तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोग, यद्यपि वैयाकरण लोगों को प्रिय लगते हैं, तथापि मधुर-रस में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार कवि को उचित है कि वह, व्यंग्यों के आस्वादन से

---

* हे बाले ! यदि ललाट पर कस्तूरी की बिन्दी लगा लेगी; तो···।

पृथक्, विशेष प्रकार के जोड़-तोड़ की अपेक्षा रखनेवाले एवं ऊपरी तौर से अधिक चमत्कारी अनुप्रासों के समूहों तथा यमकादिकों का, यद्यपि वे बन सकते हों, तथापि बनाने का प्रयत्न न करे; क्योंकि यदि वे अधिकता और प्रधानता से हुए, तो उनका समावेश रस की चर्वणा में न हो सकेगा, और वे सहृदय पुरुष के हृदय को अपनी तरफ आवर्जित कर लेंगे; इस कारण रस से विमुख कर देंगे—अर्थात् सहृदय पुरुष उनके चमत्कार के चक्कर में पड़कर रस के आस्वादन से वंचित हो जायगा। विशेषत: विप्रलंभ-शृंगार में तो इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए; क्योंकि वह रस सबसे अधिक मधुर होता है, और इसी कारण, उसे शुद्ध मिश्री के बनाए हुए शरबत की उपमा दी जाती है; उसमें यदि बहुत थोड़ी सी भी कोई वस्तु ऐसी हुई कि जो अपना अड़ंगा अलग जमाने लगे, तो वह सहृदय पुरुषों के हृदय में खटक जाती है, इस कारण ऐसी वस्तु का उसके साथ रहना सर्वथा अनुचित है। जैसा कि कहा भी गया है—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत:॥

अर्थात् जिस ध्वनि काव्य का आत्मा लोकोत्तरचमत्कारकारी शृंगार रस है उसमें यमक-आदि की रचना करना, यदि कवि में उनकी रचना करने की शक्ति हो—वे स्वभावत:

आ जाते हों, तो भी कहना चाहिए कि उसकी असावधानता है, जो उसने उन्हें आ जाने दिया। और यदि विप्रलंभ-शृंगार के काव्य में आ गए, तब तो विशेष-रूप से असावधानता समझी जायगी।

परंतु जो अनुप्रासादिक क्लिष्ट तथा विस्तृत न होने के कारण पृथक् अनुसंधान की आवश्यकता नहीं रखते, किंतु रसों के आस्वादन में ही अत्यंत सुखपूर्वक आस्वादन कर लिए जा सकते हैं, उन्हें छोड़ देना भी उचित नहीं। जैसे कि—

कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयंतु परितो हरितो मुखानि॥

❀ ❀ ❀ ❀

करि कस्तूरी-तिलक सखी री ! साँझ-समै तू।
मंद मंद मुसकात महल की छात रमै तू॥
तो यह निहचै जानु कुमुद मुद महा लहेंगे।
सुखमा सुखद समग्र दिशा-मुख हुलसि गहेंगे॥

सखी नायिका से कहती है—हे सखी ! तू साँझ के समय कस्तूरी का तिलक लगाकर, तत्काल, महल की छत का

परिशीलन कर; जिससे कि कुमुद आनंद की अत्यंत अधिकता को प्राप्त हो जायँ—अर्थात् पूरी तरह खिल उठें और दिशाएँ अपने मुखों को पूर्णतया उल्लासयुक्त बना लें—उनके प्रारंभिक भाग अच्छी तरह प्रकाशित हो जायँ। इत्यादि में। अथवा, विहारी के इस दोहे में—

नभ लाली, चाली निशा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली! अनत आए वनमाली न॥

इस तरह, प्रसंग आ जाने के कारण, मधुर-रसों को अभिव्यक्त करनेवाली रचना के इन दोषों का थोड़ा सा निरूपण कर दिया गया है।

संग्रह

एभिर्विशेषविषयैः सामान्यैरपि च दूषणै रहिता।
माधुर्य-भार-भंगुर-सुन्दर-पद-वर्ण-विन्यासा॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरंती निर्मातुर्या प्रसादयुता।
तां विबुधा वैदर्भीं वदंति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम्॥

जो इन विशेष और साधारण—दोनों प्रकार के—दोषों से रहित हो, जिसके पदों और वर्णों की रचना माधुर्य-गुण के भार से फटी पड़ती हो, जिससे बनानेवाले कवि की व्युत्पत्ति प्रकाशित होती हो, जो प्रसाद-गुण से युक्त हो, और पूर्ण परिपक्व—अर्थात् रस की धार बाँध देनेवाली हो, उस रचना

को विद्वान् लोग 'वैदर्भी वृत्ति' कहते हैं। इस रचना के कितने ही पद्य उदाहरणों में आ ही चुके हैं; अथवा, जैसे—

आयातैव निशा, निशापतिकरैः कीर्णं दिशामंतरम्
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरुल्लासयन्ति श्रियम्।
वामे! मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा! हा!! बालमृणालतोऽप्यतितमां तन्वी तनुस्ताम्यति॥

❀ ❀ ❀ ❀

आ ही गई रजनी, रजनी-पति केरि मरीचि भरीं दिग-अंतर।
भौनन-भौनन भामिनियाँ बहु भूषन साजि रहैं छवि सुंदर॥
रंचहु मान भई न कमी अजहू तुव, वाम! गयो सब वासर।
बाल-मृणालहु ते दुबरो तन ये रिस ते कुम्हिलात निरंतर॥

नायक नायिका से कहता है—प्रिये, अब रात आ ही गई है—आने में थोड़ी भी देरी नहीं है; देख, निशानाथ—चंद्रदेव—की किरणों से दिशाओं के मध्यभाग व्याप्त हो चुके हैं। जो स्त्रियाँ प्रणय कोप से भी युक्त थीं, वे भी अनेक आभूषण पहिन-पहिनकर भवनों में शोभा के डंबर बाँध रही हैं। हे वामे! हे संसार-भर से उलटे रास्ते पर चलनेवाली! तू अब भी मान को किंचित् भी कम नहीं कर रही है। हाय! हाय!! देख तो सही! यह नए मृणाल से भी अत्यंत दुर्बल तेरा शरीर रोष के मारे घबरा रहा है। जाने दे, यदि हमारे ऊपर दया नहीं करती तो मत कर; पर इस सुकुमार शरीर पर तो दया कर।

इस रीति के निर्माण करते समय कवि का अत्यंत साव-धान रहना चाहिए, अन्यथा परिपाक का भंग हो जायगा—रस जितना मधुर बनना चाहिए उतना न बन सकेगा। जैसा कि अमरुक कवि के पद्य में हुआ है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात-पुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी, प्रियेण हसता, बाला चिरं चुम्बिता॥

बालिका ने जब देखा कि अब निवास-गृह बिलकुल शून्य हो गया है—कहीं किसी की भनक भी नहीं सुनाई देती, तो शय्या से धीरे-धीरे कुछ उठी और झूठ-मूठ निद्रा लेते हुए पति के मुख को बहुत समय तक देखती रही। जब उसे विश्वास हो गया कि पति महाशय गहरी नींद में हैं, तो उसने उसके मुख को अच्छी तरह चूमा; पर चूम चुकने के बाद जब उसने देखा कि पति के कपोल प्रदेश रोमांचित हो उठे हैं, तो लज्जा के मारे मुँह नीचा हो गया—सामने न देख सकी। फिर क्या था? प्यारेजी की बन पड़ी, उन्होंने हँस-हँसकर बड़ी देर तक चूमा।

इस पद्य में 'उत्थाय' और 'किंचिच्छनैः' इन दो स्थानों पर दो-दो सवर्ण झयों का संयोग है, और वह भी समीप-समीप में; अतः अत्यंत अश्रव्य है। इसी तरह इसी स्थान

पर झयों के द्वारा बने हुए संयोग जिनके आगे हैं, उन ह्रस्वों का भी प्रयोग है। तथा 'शनैर्निद्रा' इस जगह और 'निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्' इस जगह रेफ के द्वारा बने हुए संयोग की, और झयों के द्वारा बने हुए संयोग जिनके आगे हैं, उन ह्रस्वों की प्रचुरता है। एवम् 'विस्रब्धम्' इस जगह महाप्राणों के द्वारा बना हुआ संयोग, 'लज्जा' इस जगह दो सवर्ण झयों का अपने ही साथ संयोग और 'मुखी प्रियेण' इस जगह भिन्न-पद-गामी दीर्घ के पहले संयोग है। इसी प्रकार 'क्त्वा' प्रत्यय का पाँच बार और 'लोकृ' धातु का दो बार प्रयोग भी कवि के पास रचना की सामग्री की कमी को प्रकाशित करता है। पर, जाने दीजिए, दूसरों के काव्यों पर विचार करने की हमें क्या आवश्यकता है।

अच्छा, तो इस तरह रसों का संक्षेप से निरूपण हो चुका।

भाव

भाव का लक्षण

अब 'भाव-ध्वनि' का निरूपण किया जाता है। यहाँ सबसे पहले यह विचार करना है कि 'भाव' कहते किनको हैं? उनका क्या लक्षण है? आप कहेंगे कि—इसमें कौन कठिन बात है, सीधा तो है कि "विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यंजक हों—जिनसे रस अभिव्यक्त हों, उनका नाम 'भाव' है"। पर, यह ठीक नहीं; इस लक्षण की

रसों के प्रतिपादन करनेवाले काव्य की पदावलि में अतिव्याप्ति हो जाती है; क्योंकि अर्थ के द्वारा शब्द भी रसों को ध्वनित करते हैं। आप कह सकते हैं कि इस लक्षण में 'जो बिना किसी द्वार के रसों का व्यंजक हो' इस तरह व्यंजक का एक विशेषण और बढ़ा देंगे, तो पदावलि में अतिव्याप्ति न होगी। पर, यदि ऐसा किया जाय, तो लक्षण में असंभव दोष आ जायगा; अर्थात् यह भाव का लक्षण ही न होगा; क्योंकि भाव भी भावना—बार-बार अनुसंधान—के द्वारा ही रस को ध्वनित करते हैं। दूसरे, भावना में अतिव्याप्ति भी हो जायगी; क्योंकि बिना किसी द्वार के रसों को वही ध्वनित करती है। और, जिस तरह, लक्षण में, 'विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त' विशेषण दिया गया है, उसी तरह यदि शब्द के अतिरिक्त' यह व्यंजक का विशेषण और रख दें, तो भी छुटकारा नहीं; क्योंकि फिर भी भावना में तो अतिव्याप्ति रहे ही गी। एवम्, जो भाव प्रधानतया ध्वनित होता है, वह रसों का व्यंजक नहीं होता, अतः उसमें लक्षण की अव्याप्ति भी होगी—अर्थात् उस भाव का यह लक्षण नहीं बन सकेगा। आप कहेंगे कि जहाँ भाव की ध्वनि प्रधान होती है, वहाँ भी अन्ततो गत्वा तो रस की अभिव्यक्ति होती ही है; अतः उसमें भी रस-व्यंजकता है ही; तो हम कहेंगे कि फिर 'भाव-ध्वनि' का लोप ही हो जायगा। यदि फिर भी कहो कि—भाव के अधिक चमत्कारी होने के कारण उसे 'भावध्वनि' कहा जाता है यद्यपि वहाँ भी,

अन्ततो गत्वा, रस की अभिव्यक्ति होती है, तथापि उसके चम-त्कारी न होने के कारण उसे 'रस-ध्वनि' नहीं कहा जा सकता सो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि चमत्कार-रहित रस की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-रहित होता ही नहीं। हम पहले ही कह चुके हैं कि—जिस प्रमाण से रस-पदार्थ का अनुभव होता है, उसी के द्वारा यह भी सिद्ध है कि 'रस आनन्द के अंश से रहित होता ही नहीं'। अब यदि आप कहें कि—रस की अपेक्षा भाव के गौण होने पर भी वाच्य की अपेक्षा प्रधान होने के कारण, अथवा विवाह में दूलह बने हुए दीवान वगैरह के पीछे चलते हुए राजा की तरह (क्योंकि वहाँ राजा की अपेक्षा दूलह की प्रधानता रहती है) रस की अपेक्षा भाव की प्रधानता होने के कारण काव्य को 'भाव-ध्वनि' कहा जा सकता है तो हम प्रधानतया ध्वनित होनेवाले भाव को भी अंततो गत्वा रस का अभिव्यंजक मान लेते हैं; पर, तथापि देश, काल, अवस्था और स्थिति-आदि अनेक पदार्थों से बने हुए पद्य के वाक्यार्थ में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि वह विभाव और अनुभाव से भिन्न भी है और रस का व्यंजक भी है। सो यह लक्षण गड़बड़ ही है।

अब यदि आप यह लक्षण बनावें कि—'जो आस्वादन रस को अभिव्यक्त करता है, उस आस्वादन में आनेवाली (आस्वादविषय) चित्तवृत्ति का नाम 'भाव' है' और साथ में यह कहें कि—इस लक्षण की भावों के आस्वादन में अतिव्याप्ति न होने

के लिए 'आस्वादन में आनेवाली' यह चित्तवृत्ति का विशेषण रक्खा गया है। सो भी ठीक नहीं; क्योंकि—

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम्।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुते॥

*　　*　　*　　*

असित-अगर विष-सरिस वह समुझति मन में बाल।
नील-कमल-मालहिं मनो मानत व्याल कराल॥

एक सखी दूसरी सखी से एक वियोगिनी की कथा कह रही है कि—अगर को जहर के समान समझनेवाली वह बालिका नील-कमलों की माला को भी, मानो, सर्पों की पंक्ति मानती है।

इस स्थान पर, सहृदय भावक को, जो जहर की बराबरी का ज्ञान हो रहा है, उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। वह ज्ञान विप्रलंभ-शृंगार का अनुभाव है—उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है; अतः रस को ध्वनित करनेवाले आस्वादन में आनेवाला भी है; क्योंकि जैसे भावों का आस्वादन किया जाता है वैसे ही अनुभावों का भी किया जाता है; और वह ज्ञान है, अतः चित्तवृत्ति रूप भी है।

अब यदि यह कहो कि—भावों में जो भावत्व धर्म रहता है, वह अखण्ड-उपाधि है, अतः उसके लक्षण-वक्षण की कुछ

आवश्यकता ही नहीं; सो भी नहीं हो सकता; क्योंकि 'भावत्व' को अखण्ड मानने में कोई प्रमाण* नहीं।

ये तो हुई पूर्व-पक्ष की बातें; अब सिद्धान्त में भाव किसे कहते हैं, सो सुनिए—

विभावादिकों के द्वारा ध्वनित किए जानेवाले हर्ष आदिकों (जिनकी गणना आगे की जायगी) **में से कोई-एक हो, तो उसे 'भाव' कहा जाता है।**

जैसा कि कहा भी है—"**व्यभिचार्यञ्जितो भावः**—अर्थात् ध्वनित होनेवाले व्यभिचारी-भाव को 'भाव' कहा जाता है"।

भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ?

भावों के ध्वनित होने के विषय में यह सिद्धांत है कि—जो हर्षादिक सामाजिकों—अर्थात् नाटकादि देखनेवालों और काव्य पढ़ने सुननेवालों के अंदर (वासना रूप से) रहते हैं, उन्हीं की, स्थायी भावों की तरह, अभिव्यक्ति होती है। पर कुछ विद्वानों का मत है कि—वे भी रस की तरह ही अभिव्यक्त होते हैं। अन्य विद्वान् यह भी कहते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति, अन्य व्यंग्यों—अर्थात् वस्तु अलंकारादिकों (जिनका वर्णन दूसरे आनन के प्रारंभ में है) की तरह, होती है।

---

* नागेश का मत है कि—इस लक्षण में यदि 'अनुभाव के अतिरिक्त' इतना और निवेश कर दिया जाय, तो यह लक्षण भी ठीक हो सकता है।

भावों के व्यंजक कौन हैं ?

भावों के अभिव्यक्त करनेवाले केवल विभाव और अनुभाव ये दो ही हैं। एक व्यभिचारी के ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारी को व्यंजक मानना आवश्यक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा मानें तो वही (व्यंजक ही) प्रधान हो जायगा। कारण यह है कि जैसा यह व्यभिचारी भाव अभिव्यक्त होता है, वैसा ही वह भी अभिव्यक्त होता है उसमें अभिव्यंजकता अधिक है। अतः भावों के दो ही व्यंजक मानना उचित है। पर, वास्तव में देखा जाय, तो प्रकरणादि के अधीन होने के कारण यदि एक भाव प्रधान हो, और उसको ध्वनित करनेवाली सामग्री के द्वारा, अन्य भाव से रहित केवल प्रधान भाव ध्वनित ही न होता हो इस कारण, यदि कोई अन्य भाव भी अभिव्यक्त हो जाय, और वह भाव प्रकरण-प्राप्त भाव की अपेक्षा हीन होने के कारण, यदि उसका अंग बन जाय, तो भी कोई हानि नहीं। जैसे कि गर्व-आदि में अमर्ष और अमर्ष-आदि में गर्व। आप कहेंगे कि यदि ऐसा हुआ, तो उस काव्य को 'भावध्वनि' नहीं कह सकते, किंतु वह 'गुणी-भूत व्यंग्य' हो जायगा; क्योंकि उसमें एक भाव दूसरे भाव की अपेक्षा गौण हो गया है। सो नहीं हो सकता; क्योंकि जो भाव पृथक् विभावों और अनुभावों से अभिव्यक्त हुआ हो, और जिसका अनुभाव, विभाव के रहने से अभिव्यक्त होना आवश्यक हो, तो उसको गुणीभूतव्यंग्य कहा जा सकता है;

अन्यथा गर्वादिकों की ध्वनि का लोप ही हो जायगा, क्योंकि वे कभी अमर्षादि से रहित ध्वनित ही नहीं होते। विभाव-शब्द से भी यहाँ व्यभिचारी-भाव का साधारण निमित्त कारण लिया जाता है; रस की तरह सर्वथा आलंबन और उद्दीपन होना अपेक्षित नहीं। पर, यदि कहीं ऐसे विभाव हों कि जो भाव के आलम्बन और उद्दीपन हो सकें तो निषेध भी नहीं है।

भावों की गणना

हर्षादिक भाव ३४ हैं। उनमें से—हर्ष, स्मृति, व्रीडा, मोह, धृति, शंका, ग्लानि, दैन्य, चिंता, मद, श्रम, गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, त्रास, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, उन्माद, मरण, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, जड़ता, आलस्य, असूया, अपस्मार, चपलता और प्रतिपक्षी के द्वारा किए गए तिरस्कार-आदि से उत्पन्न हुआ निर्वेद ये ३३ व्यभिचारी हैं और चौतीसवाँ है गुरु, देवता, राजा और पुत्र-आदि के विषय में होनेवाला प्रेम।

'वात्सल्य' रस नहीं है

पूर्वोक्त गणना से यह सिद्ध होता है कि—जो कुछ विद्वानों का यह कथन है कि 'पुत्रादिक जिस रति के आलंबन होते हैं, वह 'वात्सल्य' नामक भी एक रस है', सो परास्त कर दिया गया; क्योंकि भरत-मुनि के वचन के आगे उनकी उच्छृंखलता—मनमानी—नहीं चल सकती। उसे भाव ही मानना उचित है।

१—हर्ष

उनमें से **वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति आदि से जो एक प्रकार का सुख उत्पन्न होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं।** यही कहा भी गया है—

देवभर्त्तृगुरुस्वामिप्रसादः, प्रियसङ्गमः।
मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोहरधनागमः॥
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत्॥

देवता, पति, गुरु और स्वामी की प्रसन्नता, प्रिय समागम, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, दुर्लभ और लोभनीय धन का लाभ तथा पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं, और नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता, प्रिय वचन, रोमांच, आँसू और प्रस्वेद आदि जिसके अनुभाव होते हैं, उसको 'हर्ष' कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव॥

× × × ×

अवधि-दिवस सँझा-समै दिए दीठि गृह-द्वारि।
भई प्रिया विकसितमुखी आयो मोहिँ निहारि॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—अवधि का दिन था, साँझ का समय था; प्रिया ने अपनी आँखें घर के द्वार पर

लगा रखीं थीं वह टकटकी लगाकर दरवाजा देख रही थी; उसी समय उसने देखा कि मैं आ गया हूँ, फिर क्या था, उसका मुँह खिल उठा।

यहाँ प्यारे का आगमन विभाव है और मुँह का खिल उठना अनुभाव।

२—स्मृति

पदार्थों के देखने सुनने-आदि से जो हृदय पर संस्कार हो जाता है, उस संस्कार के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'स्मृति' कहते हैं। जैसे—

तन्मञ्जुमन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलंकविधुरा मधुराननश्रीः।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त!
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः॥

× × × ×

वह मंजुल मृदु हँसन, साँस वे सुभग सुगंधित।
वह कलंक ते विधुर मधुर आनन-दुति विकसित॥
संझा-सरसिज-सरिस तासु लोचन अनियारे।
अजौं करत उनमत्त अमित हिय हाय! हमारे॥

नायक अपने मित्र से कहता है—साँझ के समय के कमलों के समान, अध-मुँदे, नेत्रोंवाली नायिका का वह सुंदर

मंद हास, वे श्वास, वह कलंकरहित और मधुर मुख की शोभा, हाय ! आज तक भी मेरे हृदय को उन्मत्त बना देते हैं।

यहाँ एक प्रकार की चिंता विभाव है; भौंहों का ऊँचा करना, शरीर का निश्चल होना—जो कि ऊपर से समझ लिए जा सकते हैं—अनुभाव हैं। यद्यपि यहाँ इस स्मृतिरूपी संचारी भाव, नायिकारूपी विभाव और 'हंत' अथवा 'हाय' पद के द्वारा व्यंग्य हृदय की विकलता रूपी अनुभाव—इन सब के संयोग से 'विप्रलंभ रस' की अभिव्यक्ति होती है, इस कारण यहाँ 'रस-ध्वनि' कही जा सकती है, तथापि प्रथम स्मृति की ही स्फूर्त्ति होती है—सबसे पहले वही हृदय में आती है और चमत्कारिणी भी है, इस कारण इसे 'स्मृति (भाव) ध्वनि' का उदाहरण माना गया है।

यहाँ एक शंका होती है। नैयायिकों की पदार्थ-विज्ञान-शैली के अनुसार 'तत् (वह)' पद के अर्थ के विषय में दो मत हैं। एक यह कि—जिस पदार्थ का 'तत्' पद से वर्णन किया जाता है, उसका तत् पद के द्वारा, असाधारण रूप में ही बोध होता है, पर उस दशा में वह पदार्थ 'बुद्धिस्थ' विशेषण से विशिष्ट समझा जाता है। अर्थात् ''तत् हसितम्'' यहाँ 'तत्' पद का अर्थ है बुद्धिस्थ लोकोत्तर सौन्दर्ययुक्त। यहाँ हसित का विशेषण (भेदक) लोकोत्तर सौन्दर्य है और उसका उपलक्षण है बुद्धिस्थत्व। ऐसे हसित को बोधन करने की तत्पद में शक्ति है अतः हसित तत्पद का शक्य (अर्थ) है। विशेषण शक्यतावच्छेदक (किसी शक्य

अर्थ में वर्तमान शक्यता को इतर शक्यताओं से पृथक् करने-वाला धर्म) कहलाता है अतएव हसित का विशेषण लोकोत्तर सौन्दर्य शक्यतावच्छेदक हुआ। शक्यतावच्छेदक के बोधन करने की शक्ति भी पद में मानी जाती है। तत्पद से भिन्न भिन्न विशेषणों से विशिष्ट जगत् के समस्त पदार्थ समझे जाते हैं। उन समस्त विशेषणों को भी व्यवस्थित करने के लिये उनका कोई वास्तव धर्म न होते हुए भी उनमें बुद्धिस्थत्व धर्म उपलक्षणरूप से एक माना जाता है। इसी की एकता से तत्पद में समस्त पदार्थों के बोधन करने की एक शक्ति सिद्ध होती है और तत्पद नानार्थ नहीं माना जाता। यही बुद्धिस्थत्व धर्म या बुद्धि सकल शक्यतावच्छेदकों का अनुगमक या व्यवस्थापक कहा जाता है। यह अनुगमक किसी पद का शक्य अर्थ नहीं माना जाता। यही इस मत का रहस्य है। दूसरा मत यह है कि—उस पदार्थ का असाधारण रूप में बोध नहीं होता, किंतु बुद्धिस्थ पदार्थ के रूप में ही होता है। अब सोचिए कि बुद्धि और ज्ञान दोनों एक ही पदार्थ के नाम हैं, और स्मृति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है; अतः दोनों ही मतों में 'तत्' शब्द से स्मृति का कुछ संबंध अवश्य हो जाता है। इस कारण—अर्थात् यहाँ 'तत्' शब्द का प्रयोग होने के कारण—यह काव्य 'स्मृति-भाव' की ध्वनि न हो सकेगा; क्योंकि 'ध्वनि' कहलाने की योग्यता तभी हो सकती है, जब कि व्यंग्य का वाच्य से कुछ संपर्क न हो। इसका समाधान यह है कि—पहले मत के अनुसार

'तत्' पद का वाच्य असाधारण रूपवाला (खास) पदार्थ ही है, बुद्धि ते शक्यतावच्छेदक का अनुगमन करानेवाली है, अतः वाच्यता बुद्धि का स्पर्श नहीं कर सकती अर्थात् बुद्धि वाच्य (शक्य) नहीं हो सकती। दूसरे मत में भी 'बुद्धिस्थ' पदार्थ तत्पद का वाच्य है; अतः बुद्धि-साधारण ज्ञान के तत्पद से प्रतिपादित हो जाने पर भी स्मृति के रूप में तो उसका बोध व्यंजना के द्वारा ही होता है। सो इस शंका को भी अवकाश नहीं।

यद्यपि यहाँ स्मृति पूरे वाक्य से ध्वनित होती है, तथापि 'तत्' यह एक पद ही उसका स्वरूप खड़ा करता है, इस कारण यहाँ यह भाव पद के ही द्वारा ध्वनित होता है—यह समझना चाहिए। इससे, लोगों का जो यह कथन है कि—भाव यदि 'पद' के द्वारा अभिव्यक्त हों, तो उनमें कुछ विचित्रता नहीं रहती, सो उड़ जाता है।

यहाँ आँखों को जो साँझ के कमलों की उपमा दी गई है, उससे यह ध्वनित होता है कि आँखें आगे-से-आगे अधिक मिचती जा रही हैं, जिससे नायिका की आनंद-मग्नता प्रकट होती है।

दरानमत्कन्धरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्।
अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्गं स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः॥

× × × ×

कछु नत ग्रीवा, अधमिंचे नेही नैन, सु-अंग।
अति साँसन ते शिथिल जहँ सो सुमिरौं तिय-संग॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैं, देरी तक, अंगना के उस संग का स्मरण करता रहता हूँ, जिसमें गरदन कुछ झुकती रहती है, प्रेम-पूर्ण नेत्र-कमल कुछ कुछ मिंच जाते हैं और सब अंग, अत्यंत श्वास के कारण, आलस्य-युक्त हो जाते हैं।

यहाँ जो स्मृति है, वह 'भाव' नहीं कही जा सकती; क्योंकि वह स्मृतिवाची शब्द ('स्मरामि' अथवा 'सुमिरौं') के द्वारा वर्णन की गई है, अतः व्यंग्य नहीं हो सकती। न 'स्मरणालंकार' ही है; क्योंकि यह स्मरण किसी प्रकार की समानता के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है। और, यह सिद्धांत है कि—समानता के कारण जो स्मरण होता है, उसे 'स्मरणालंकार' और स्मरण यदि व्यंग्य हो, तो 'स्मृति भाव' माना जाता है। सो यह मानना चाहिए कि इस पद्य में केवल विभाव (नायिका) का ही वर्णन है, परंतु चमत्कार-जनक होने के कारण, उसका किसी तरह रस में पर्यवसान हो जाता है।

३—व्रीडा (लज्जा)

स्त्रियों में पुरुष के मुख देखने आदि से और पुरुषों में प्रतिज्ञाभंग तथा पराजय आदि से उत्पन्न होनेवाली और विवर्णता तथा नीचा-मुख आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाली जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है, उसे 'व्रीडा' कहते हैं। जैसे—

कुच-कलशयुगान्तर्मामकीनं नखाङ्कं
सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना।
विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे
चकितनतनताङ्गी सद्म सद्यो विवेश॥

× × × ×

कुच-कलशन जुग बीच भयो जो मेरो नख-छत।
पुलक-सहित तन, मंद मंद तेहिं रही विलोकत॥
ताहि समय मुहिं देखि गोख में दीन्हे आनन।
चकित,नमाइ सरीर, सदन महँ प्रविशी तत-छन॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—कलशों के समान दोनों कुचों के मध्य में जो मेरे नख का क्षत हो गया था—नख उभड़ आया था—उसे वह (नायिका) पुलकितांग होकर धीरे-धीरे देख रही थी; पर, ज्योंही, उसने झरोखे में मुख डाले हुए मुझे देखा, त्योंही चकित हो गई और शरीर बिलकुल संकुचित करके सिमिटकर तत्काल घर में जा घुसी।

यहाँ नायिका को प्रियतम का दिखाई देना, और उसके कुचों के भीतर प्रियतम के नख-क्षत के देखने से उत्पन्न हुए हर्ष की सूचना देनेवाले रोमांच आदि का प्रियतम को दीख जाना विभाव है तथा तत्काल घर में घुस जाना अनुभाव है। अथवा, जैसे—

निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव ॥

× × × ×

धरत मोहिं, कूजत कपोत-ढिँग, रोकि कपोतिहिँ।
देखि, कछुक मुसक्याइ, मुखाम्बुज नाइ लियो तिहिँ ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैंने जाती हुई कबूतरी को, जबरन्, रोका और (कामातुरता के कारण) कूजते हुए कबूतर के सामने धर दिया; यह देखकर उस (नायिका) ने, मन्द हास से भीने, मुख-कमल को धीरे धीरे नीचा कर लिया।

पहले उदाहरण में जैसे कुछ त्रास की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार यहाँ भी किंचिन्मात्र हर्ष अभिव्यक्त होता है; पर वह लज्जा के अनुकूल ही है—उससे उसकी पुष्टि ही होती है। प्यारे का कबूतर के आगे कबूतरी धरना विभाव है और मुँह नीचा करना अनुभाव।

४—मोह

भय-बियोग आदि से जो एक ऐसी चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है कि जिसके कारण वस्तु की यथार्थता को पहचानना असंभव हो जाता है—मनुष्य आदि के सामने खड़े रहने पर भी वह अमुक है—यह नहीं पहचाना जा सकता—उसका नाम 'मोह' है, जो कि अन्तःकरणशून्यता के नाम

से पुकारी जानेवाली चिन्ता है। अर्थात् जिस चिन्ता में कुछ नहीं सूझता, उसे मोह कहा जाता है। अतएव नवीन विद्वानों का मत है कि यह भी चिन्ता ही है, केवल अवस्था का भेद है। अर्थात् चिन्ता ही जब इस दशा को पहुँच जाती है कि सूझना-साझना बन्द हो जाय, तो उसे मोह कहते हैं; इस कारण इसे चिन्ता से पृथक् नहीं गिनना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

विरहेण विकलहृदया विलपन्ती दयित दयितेति।
आगतमपि तं सविधे परिचयहीनेव वीक्षते बाला॥

× × × ×

विरह-महानल विकल हिय पिय-पिय कहि बिललात।
निकटहु आए अपरिचित-लौं तेहिँ दयित दिखात॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—उस (नायिका) का हृदय विरह के मारे विकल हो गया है और 'प्यारे प्यारे' पुकारती हुई वह, पास में आए हुए भी प्रिय को, इस तरह देख रही है कि मानो उसे जानती ही न हो।

यहाँ पति का वियोग विभाव है तथा इन्द्रियों की विकलता और लज्जादिक का अभाव अनुभाव हैं। अथवा, जैसे—

शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले
कल्लोलिन्याः किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः।

नैवाऽऽकर्षत्यम्बु नैवाऽम्बुजालिं
कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः ॥

× × × ×

किए सूँड़ कुंडल-सरिस ऊँघत तटिनी-तीर ।
कामिनि बिन जड़ गज गहत ना नीरज ना नीर ॥

एक दर्शक कहता है कि—हथिनी से वियुक्त हाथी निश्चेष्ट होकर, सूँड़ को गोल किए हुए और आँखों को सिकोड़े हुए नदी के तट पर तो खड़ा है; पर न जल को खींचता है न कमलों की पंक्ति को ।

५—धृति

जिस चित्तवृत्ति के कारण लोभ, शोक और ..य आदि से उत्पन्न होनेवाले उपद्रव शान्त हो जाते हैं, उसका नाम 'धृति' है। उदाहरण लीजिए—

सन्तापयामि हृदयं धावं धावं धरातले किमहम् ।
अस्ति मम शिरसि सततं नन्दकुमारः प्रभुः परमः ॥

× + × ×

धाइ-धाइ हौं धरनि-तल हिय तपात केहिँ काज ।
राजत मम सिर सरबदा प्रभुवर श्रीव्रजराज ॥

एक भक्त कहता है कि—मैं पृथिवीतल में दौड़ दौड़कर क्यों अपने हृदय को संतप्त कर रहा हूँ । मेरे सिर पर परम

प्रभु, सब स्वामियों के स्वामी, नन्दनन्दन सर्वदा विराजमान हैं—मुझे क्या चिन्ता है, वे अपने-आप सँभाल लेंगे।

यहाँ विवेक और शास्त्र-संपत्ति आदि विभाव हैं और चपलता आदि की निवृत्ति अनुभाव है। यदि आप कहें कि यहाँ उत्तरार्ध से तो यही बात व्यक्त होती है कि 'मुझे चिन्ता नहीं है', फिर इस पद्य को धृति-भाव की ध्वनि कैसे बताते हो, तो इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त बात धृति-भाव के लिये उपयुक्त होकर ही अभिव्यक्त होती है, अर्थात् उससे धृति की प्रतीति में सहायता मिलती है अतः उसका अलग अड़ंगा नहीं समझा जा सकता।

६—शङ्का

'मेरा क्या अनिष्ट होगा' यह जो एक प्रकार की चित्त-वृत्ति है, उसका नाम 'शङ्का' है। उदाहरण लीजिए—

विधिवञ्चितया मया न यातम्
सखि ! सङ्केत-निकेतनं प्रियस्य।
अधुना बत ! किं विधातुकामो
मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने ॥

× × × ×

विधि-वञ्चित हौं ना गई सखि ! संकेत-निकेत।
अब जानें मम मदन-नृप कहा करै इहि-हेत ॥

नायिका सखी से कहती है कि—हे सखी ! विधाता ने मुझे धोखा दिया और मैं अपने प्यारे के संकेत-स्थान पर न जा सकी। अब भय है कि, न जाने, महाराज कामदेव, मेरे विषय में, क्या करना चाहते हैं।

यहाँ राजा का अपराध विभाव है और, ऊपर से समझ लिए गए, मुँह का फीका पड़ना आदि अनुभाव हैं। इसमें और चिन्ता में यही भेद है कि यह भय आदि उत्पन्न करती है, अतः कंप-आदि का कारण है, परन्तु चिन्ता उन्हें उत्पन्न नहीं करती।

७—ग्लानि

मानसिक कष्ट और रोग आदि के कारण जो निर्बलता उत्पन्न हो जाती है, उससे उत्पन्न होनेवाला एवं विवर्णता, अंगों की शिथिलता और नेत्रों के फिरने लगने आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाला जो एक प्रकार का दुःख है, उसे 'ग्लानि' कहते हैं। जैसे—

शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव॥

× × × ×

कान्ति-शेष शशि-रेख सम सोई सेवल सेज।
मधुर चितौननि ही सविध थित पिय रही सहेज॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जिसमें केवल कान्ति ही बच रही हो ऐसी नवीन चन्द्र-कला के समान, सेवाल की सेज पर सोई हुई, वह सुन्दरी समीप में आए हुए भी पति का केवल मधुर चितवनों से ही सत्कार कर रही है।

यहाँ प्रेमी का विरह विभाव है और 'मधुर चितवनों से ही' यहाँ 'ही' के द्वारा समझाई हुई, स्वागत के लिये सामने जाने, प्रणाम करने और आलिंगन करने आदि की निवृत्ति अनुभाव है। यहाँ श्रम-भाव की शंका करना उचित नहीं; क्योंकि यहाँ किसी भी श्रमोत्पादक कारण का वर्णन नहीं है।

कुछ विद्वान् "रोगादि से उत्पन्न होनेवाले बल के नाश को ही 'ग्लानि' " कहते हैं। पर, उनके मत में यह बात विचारने योग्य है कि—जितने भाव हैं, वे सब चित्त-वृत्तिरूप हैं, फिर उनमें नाश (अभाव) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा ? अतः उनका यह कथन कुछ जँचता नहीं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों के "**बलस्याऽपचयो ग्लानिराधिव्याधिसमुद्भवः**—अर्थात् मानसिक कष्ट और रोगों से उत्पन्न होनेवाले बल के अपचय का नाम 'ग्लानि' है" इस लक्षण में 'अपचय' शब्द से नाश का ही बोध होता है, तथापि पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण, बल के नाश से उत्पन्न होनेवाले दुःख को ही 'बल का अपचय' इस शब्द से कहना अभीष्ट है, यह समझना चाहिए।

८—दैन्य

दुःख, दरिद्रता तथा अपराध आदि से उत्पन्न हुई और अपने-आप के विषय में हीन-शब्द बोलने आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाली एक प्रकार की चित्तवृत्ति 'दैन्य', कहलाती है। उदाहरण लीजिए—

हतकेन मया वनान्तरे जलजाक्षी सहसा विवासिता।
अधुना मम कुत्र सा सती पतितस्येव परा सरस्वती॥

× × × ×

सहसा, मैं हत, दीन्ह वन कमल-नयनि निकराय।
पतितहिं श्रुति-सम वह सती मोहिं कहाँ अब हाय!

मेरी बुद्धि मारी गई, मैंने कमल-नयनी (सीता) को जंगल में निकाल दिया। अब, वह पतिव्रता, पतित पुरुष को वेद-वाणी की तरह, मुझे कहाँ प्राप्त हो सकती है? यह सीता के परित्याग के अनंतर भगवान् रामचंद्र का वचन है।

यहाँ सीता का परित्याग अथवा परित्याग करने से उत्पन्न हुआ दुःख विभाव है और 'पतित के समान बताना' रूपी जो अपने विषय में हीनता का भाषण है, सो अनुभाव है। दैन्य-भाव के विषय में लिखा है कि—

चित्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद्दौर्गत्याच्च विभावतः।
अनुभावात्तु शिरसोऽप्यावृत्तेर्गात्रगौरवात्॥
देहोपस्करणत्यागाद् दैन्यं भावं विभावयेत्॥

अर्थात् चित्त की उत्सुकता, मन का ताप और दरिद्रता इन विभावों से और सिर हिलाना, शरीर का भारीपन और देह के सजाने का त्याग इन अनुभावों से 'दैन्य-भाव' को पहिचान लेना चाहिए। और यह कि—

दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्।

अर्थात् दरिद्रता आदि के कारण जो ओजस्विता का अभाव हो जाता है, उसे 'दैन्य' कहते हैं। वह मलिनता आदि को उत्पन्न करता है।

यहाँ मैंने उसे निकाल दिया है—'न कि विधाता ने'—इस बात की पुष्टि 'पतित' की उपमा से ही होती है, शूद्रादिक की उपमा से नहीं; क्योंकि शूद्रादिक के लिये तो विधाता ने, स्वभावतः ही, श्रुति दुर्लभ कर दी है; उनको उसके पढ़ने का अधिकार ही नहीं प्राप्त है। पर, ब्राह्मणादिक जो पतित हो जाते हैं, उनको स्वभावतः तो श्रुति सुलभ थी; किंतु उन्होंने वैसा पाप करके, अपने-आप, श्रुति को दूर कर दिया है। इस कारण, अपनी (श्रीराम की) पतित से समानता और श्री सीता की श्रुति से समानता, यह जो उपमालंकार है, वह दैन्य-भाव को अलंकृत करता है। सो वह भी दैन्य-भाव का पोषक है।

यहाँ 'मैंने' और 'उसे' इन दोनों पदों में उपादानलक्षणा है, जिसके कारण 'मैंने' का 'जिसे उसने अत्यन्त क्लेश में भी न छोडा, उस मैंने' यह, और 'उसे' का 'वन-वास की सङ्ख-

चरी उसे' यह अर्थ प्रतीत होता है, जिससे अपनी कृतघ्नता और उसकी कृतज्ञता एवं अपनी निर्दयता और उसकी दयालुता आदि अनेक धर्म ध्वनित होते हैं, जिनसे दैन्य-भाव और भी पुष्ट हो जाता है। इसी तरह 'उसे' शब्द के द्वारा जो स्मृति की थोड़ी-सी प्रतीति होती है, उससे भी दैन्य-भाव की पुष्टि होती है। अतः यहाँ दैन्य भाव ही प्रधान व्यंग्य रहा। कृतघ्नता आदि व्यंग्य गुणीभूत रहे। इसलिये यहाँ दैन्य-ध्वनि हुई।

९—चिन्ता

वांछित वस्तु के प्राप्त न होने और अनिष्ट वस्तु के प्राप्त हो जाने से उत्पन्न होनेवाली और विवर्णता, भूमि का लिखना और मुख का नीचा हो जाना आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाली एक प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम 'चिन्ता' है। जैसा कि कहा है—

> विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यभ्रंशनं तथा।
> इष्टार्थापहृतिः, शश्वच्छ्वासोच्छ्वासावधोमुखम्॥
> सन्तापः, स्मरणं चैव कार्श्यं देहानुपस्कृतिः।
> अधृतिश्चाऽनुभावाः स्युः सा चिन्ता परिकीर्त्तिता॥
> वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे पाश्चात्ये वोपजायते॥

अर्थात् जिसमें दरिद्रता, ऐश्वर्य (राज्यादिक) से च्युत हो जाना और वांछित वस्तु का अपहरण विभाव हों, और निरं-

तर श्वास तथा उच्छ्वास, नीचा मुख, संताप, स्मरण, दुर्बलता, देह को न सजाना और धैर्य का अभाव ये अनुभाव हों, उसे 'चिन्ता' कहा जाता है। इसके पहले अथवा पिछले क्षण में वितर्क (जिसका लक्षण आगे आवेगा) उत्पन्न हुआ करता है। और यह कि—

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः सन्तापादिकरी मता ।

अर्थात् लाभदायी वस्तु के प्राप्त न होने से जो विचार होता है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं, और वह सन्ताप आदि को उत्पन्न करती है। उदाहरण लीजिए—

अधरद्युतिरस्तपल्लवा, मुखशोभा शशिकान्तिलङ्घिनी ।
अकृतप्रतिमा तनुः कृता विधिना कस्य कृते मृगीदृशः ॥

× × × ×

पल्लव-जयिनी अधर-द्युति मुख-छवि ससि-सिरताज ।
अनुपम तन मृग-नयनि को किय विधना केहिँ काज ॥

नायक मन में कह रहा है कि—विधाता ने मृगनयनी के, ये पल्लवों की शोभा को पराजित करनेवाली अधरों की कान्ति, चन्द्रमा की छवि को उल्लंघन करनेवाली मुख की शोभा तथा जिसके सदृश कोई नहीं उत्पन्न किया गया वह शरीर, किसके लिये बनाए हैं।

यहाँ नायिका का न प्राप्त होना विभाव है और, ऊपर से समझ लिए गए, पश्चात्तापादिक अनुभाव हैं। 'यहाँ यह

पद्य उत्सुकता की ध्वनि है' यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि (पद्य के) 'किसके लिये' इस कथन से किसी अनिश्चित व्यक्ति के विषय में होनेवाली चिन्ता ही ध्वनित होती है; इस कारण, यद्यपि यहाँ उत्सुकता विद्यमान है, तथापि वह इस वाक्य के द्वारा प्रधानतया नहीं बोधित होती।

१०—मद

मद्य-आदि के उपयोग से उत्पन्न होनेवाली और शयन-रोदन आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाली उल्लास-नामक जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है, उसे 'मद' कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

संमोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः।

अर्थात् संमोह और आनन्द के मिश्रण का नाम मद है और वह मद्य के उपयोग से उत्पन्न होता है।

मद के उत्पन्न होने पर उत्तम पुरुष सोता है, मध्यम पुरुष हँसता और गाता है और नीच पुरुष रोता तथा गाली वगैरह देता है*। यह मद तीन प्रकार का है—तरुण, मध्यम और

* यद्यपि यह कथन 'काव्य-प्रदीप' के—

उत्तमसत्त्वः प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः।
परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्त्वः॥

अर्थात् मद के कारण उत्तम प्रकृति का पुरुष हँसता है, मध्यम प्रकृति का पुरुष गाता है और अधम प्रकृति का पुरुष गालियाँ देता है, सोता है और रोता है।—इस वचन से विरुद्ध है। तथापि अनुभव 'रसगंगाधर-

अधम। उनमें से जिसमें अक्षरों की अस्पष्टता, वाक्यों की असंबद्धता और अत्यन्त मृदु तथा फिसलती हुई चाल का अभिनय किया जाता है, वह तरुण-मद कहलाता है। जिसमें हाथों के फटकारे, फिसल पड़ने और घूमने आदि का अभिनय किया जाता है, वह मध्यम-मद होता है और जिसमें गति रुक जाने, स्मृति नष्ट हो जाने और हिचकी तथा वमन होने आदि का अभिनय किया जाता है, वह अधम-मद होता है। उदाहरण लीजिए—

मधुर-तरं स्मयमानः स्वस्मिन्नेवाऽऽलपन् किमपि।
कोकनदयंस्त्रिलोकीमालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबः॥

× × × ×

मधुर-मधुर कछु-कछु हँसत करत मनहि-मन बात।
निरालंब देखत अरुन-वरन जगत मद-मात॥

अत्यन्त मधुर रूप में थोड़ा-थोड़ा हँसता हुआ और अपने-आप ही कुछ भी बोलता हुआ एवं त्रिलोकी को—आँखों की ललाई के कारण—रक्त-कमल-सी बनाता हुआ मद-मत्त मनुष्य देख रहा है; पर उसे पता नहीं कि वह क्या देखना चाहता है।

कार' के ही मत को पुष्ट करता है; क्योंकि नशे में हँसना उत्तम-पुरुष का काम नहीं। उसे यदि नशे का अधिक चक्कर हुआ तो वह सो जायगा, इत्यादि सहृदयों के प्रत्यक्ष से सिद्ध है।—अनुवादक।

यहाँ मादक वस्तु का सेवन विभाव है और अस्पष्ट बोलना-आदि अनुभाव हैं। इस पद्य में जो मत्त पुरुष के स्वभाव का वर्णन किया गया है, वह उसके मद को ध्वनित करने के लिये किया गया है, इस कारण मद-भाव ही प्रधान है, 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार नहीं, किन्तु वह उसकी ध्वनि को शोभित करनेवाला ही है।

पर, यदि कहो कि 'क्षीब' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अतः उसमें विशेषण रूप से मद भी आ जाता है; और यह सिद्धांत है कि 'जिसमें किसी प्रकार भी वाच्य-वृत्ति का स्पर्श न हो, वही व्यंग्य चमत्कारी होता है'; तो हम स्वीकार करते हैं, कि यहाँ 'स्वभावोक्ति' अलंकार को ही प्रधान मानना उचित है, मद-भाव की ध्वनि को नहीं; अतः दूसरा उदाहरण लीजिए—

मधुरसान्मधुरं हि तवाऽधरं तरुणि ! मद्वदने विनिवेशय।
मम गृहाण करेण कराम्बुजं प-प-पतामि हहा! भ-भ-भूतले।

× × × ×

मधुर मधुहुते तुव अधर मो-मुख दै लउँ चूमि।
मम कर-अम्बुज कर पकरु प-प-प-परयो भ-भ-भूमि॥

नायक नायिका से कहता है—हे तरुणि! मधु के रस से भी मधुर अपने अधर को मेरे मुँह में डाल दे और मेरे कर-कमल को अपने हाथ में पकड़ ले; देख तो, ज-ज-जमीन पर प-प-पड़ा जा रहा हूँ।

यहाँ भी वही (मादक वस्तु का सेवन ही) विभाव है और अधिक वर्ण बोलना-आदि अनुभाव हैं। पूर्वार्ध का ग्राम्य-वचन और उत्तरार्ध में स्त्री के हाथ को कमल की उपमा देने की जगह अपने हाथ को उसकी उपमा देना भी 'मद-ध्वनि' का ही पोषण करते हैं।

११—श्रम

अत्यन्त शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होने-वाला एवं निःश्वास, अँगड़ाई तथा निद्रा आदि को उत्पन्न करनेवाला जो एक प्रकार का खेद होता है, उसे 'श्रम' कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

अध्वव्यायामसेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः।
गात्र-संवाहनैरास्य-सङ्कोचैरङ्ग-मोटनैः॥
निःश्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः॥

अर्थात् मार्ग में चलना, व्यायाम करना और सेवा आदि विभावों से और शरीर दबवाना, मुँह सिकुड़ जाना, अँगड़ाइयाँ, निःश्वास, उबासियाँ और धीरे-धीरे पैर पछाड़ना—इन अनुभावों से श्रम समझा जाता है। अथवा यह कि—

श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः।

अर्थात् मार्ग में चलने-आदि से जो खेद होता है, उसे 'श्रम' कहते हैं और वह निद्रा, निःश्वास आदि उत्पन्न करता है।

यह बल के विद्यमान होने पर भी उत्पन्न हो जाता है और शारीरिक कार्यों से ही होता है; किन्तु ग्लानि इस तरह नहीं होती, अत: ग्लानि का श्रम से भेद है। उदाहरण लीजिए—

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना।
चिराय चित्रे लिखितेव तन्वी न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमासीत्

× × × ×

हिय सोई, करि ग्रीव मम मुँह-समुहे, बल-छीन।
चित्र-लिखित-सी सुचिर लौं रंचहु विचल सकी न॥

नायक अपने किसी मित्र के सामने विपरीत-सुरत के अनन्तर की स्थिति का वर्णन कर रहा है। वह कहता है कि—वह कृशाङ्गी अपनी गरदन के अगले हिस्से को मेरे मुँह के सामने करके मेरे हृदय पर सो रही; और, चित्र में लिखी हुई की तरह, बहुत देर तक, थोड़ी भी न हिल सकी।

यहाँ विपरीत-सुरतरूपी शारीरिक कार्य विभाव है और बिना हिले सोए रहना-आदि अनुभाव।

यहाँ यह शंका न करनी चाहिए कि यह पद्य निद्रा-भाव को ध्वनित करके गतार्थ हो जाता है; क्योंकि यदि निद्रा होती, तो उसमें मनुष्य को ज्ञान नहीं रहता, इस कारण चेष्टा का अभाव होता; और 'थोड़ा भी न हिल सकी' इस कथन का कोई भी विशेष प्रयोजन नहीं रहता। दूसरे, 'शयाना' अथवा 'सोई' इस कथन से निद्रा वाच्य हो जाती है, सो वह व्यंग्य

हो भी नहीं सकती। रहा श्रम, सो उसके लिये तो इनका (विभावादिकों का) अनुकूल होना उचित है।

१२—गर्व

रूप, धन और विद्या आदि के कारण अपने उत्कर्ष का ज्ञान होने से जो दूसरे की अवज्ञा करना है, उसे 'गर्व' कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

× × × ×

मेरुमूल ते मलय-बलय-मय जलधि तीर तक।
जेते कविता-कर्म-निपुण, ते कहैं छाँड़ि सक॥—
निकरत द्राक्षामध्य भाग जो चिकनी रस-झर।
तिनको अति-माधुर्य भाग्य में जिनके निरभर॥
तिन बानिन को सकल-जग-वंदित जो आचार्य-पद।
तेहिं कहु मोते अन्य को धन्य भोगिहै लहि प्रमद॥

एक कविजी (पण्डितराज) कहते हैं कि—सुमेरु पर्वत की तरहटी से लेकर मलयाचल से घिरे हुए समुद्र के तट तक, जितने कविता करने में चतुर पुरुष हैं, वे साफ़ साफ़ कहें कि—दाखों के अन्दर से निकलनेवाली चिकनी रसधारा की मधुरता का भाग्य

जिन्हें प्राप्त है—अर्थात् जो उनके समान मधुर हैं, उन वाणियों के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मेरे अतिरिक्त और कौन पुरुष धन्य है, यह सौभाग्य और किसे प्राप्त हो सकता है ? उसका अधिकारी तो एक मैं ही हूँ।

यहाँ अपनी कविताओं को अन्य कविताओं के समान न समझना—सबसे उत्कृष्ट समझना—विभाव है, और अन्य कवियों का तिरस्कार करने के अभिप्राय से इस तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभाव है। इस (गर्व) को किसी अंश में असूया भी पुष्ट करती है।

वीर-रस की ध्वनि में उत्साह प्रधान होता है और गर्व गुप्त रहता है; और इस ध्वनि में गर्व प्रधान रहता है। यही उससे इसमें विशेषता है। जैसे—वीर-रस के प्रसंग में जो 'यदि वक्ति गिरां पतिः स्वयम्...', यह उदाहरण दिया गया है, उसमें 'बृहस्पति और सरस्वती के साथ भी मैं वाद करूँगा' इस कथन से जो उत्साह ध्वनित होता है, उसको 'सब पण्डितों से मैं अधिक हूँ' इस रूप में ध्वनित होनेवाला गर्व पुष्ट करता है; न कि उपर्युक्त पद्य की तरह 'पृथिवी पर मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है' इस प्रकार स्पष्ट वर्णन किए हुए चिढ़ा देने-वाले वचनरूपी अनुभाव से प्रधानतया प्रतीत होता है।

१३—निद्रा

श्रम-आदि के कारण जो चित्त का मुँद जाना है, उसे 'निद्रा' कहते हैं। नेत्रों का मिच जाना, अंगों

का निश्चेष्ट हो जाना-आदि इसके अनुभाव हैं। उदाहरण लीजिए—

सा मदागमनबृंहिततोषा जागरेण गमिताखिलदोषा।
बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न प्रातराननजसौरभलुब्धैः॥

× × × ×

मम आवन ते मुदित वह जागि गमाई रात।
मुख-सौरभ-लोभी मधुप बोधेहु जगी न प्रात॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरे आ जाने से उसकी प्रसन्नता में बाढ़ आ गई और उसने सब रात जागरण करके बिताई। प्रातःकाल के समय मुख की सुगन्ध के लोभी भौंरों के जगाने पर भी वह न जग सकी।

यहाँ रात्रि में जगने का श्रम विभाव है और भौंरों के जगाने पर भी न जगना अनुभाव है।

१४—मति

शास्त्रादि के विचार से जो किसी बात का निर्णय कर लिया जाता है, उसे 'मति' कहते हैं। इसमें निर्भय होकर उस काम को करना और संदेह नष्ट हो जाना-आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण लीजिए—

निखिलं जगदेव नश्वरं पुनरस्मिन्नितरां कलेवरम्।
अथ तस्य कृते कियानयं क्रियते हन्त! मया परिश्रमः॥

× × × ×

नासमान सब जगत ही तामें पुनि यह काय ।
तेहिँ हित कितनो करत मैं यह महान श्रम हाय !

एक विरक्त पुरुष कहता है कि—(प्रथम तो) सब जगत् ही विनाशशील है—उसकी कोई वस्तु स्थिर नहीं। और, फिर जगत् में भी यह शरीर सबसे अधिक विनाशशील है। इसका कुछ भी पता नहीं कि यह आज या कल भी रह सकेगा। मुझे खेद है कि मैं उसके लिये यह कितना परिश्रम कर रहा हूँ।

यहाँ "**शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमम्** (अर्थात् यह शरीर जल के बबूले के समान है)" इत्यादि शास्त्र की पर्यालोचना विभाव है, और 'हंत'-पद से प्रतीत होनेवाली अपनी निंदा, राज-सेवा-आदि का त्याग और तृष्णा की शून्यता-आदि अनुभाव हैं। यहाँ झट से मति-भाव का ही चमत्कार प्रतीत होता है, सो इस पद्य को 'ध्वनि' कहे जाने का कारण वही है, शान्त-रस नहीं; क्योंकि वह विलंब से प्रतीत होता है।

१५—व्याधि

रोग और वियोग आदि से उत्पन्न होनेवाला जो मन का ताप है, उसे 'व्याधि' कहते हैं। इसमें अंगों की शिथिलता और श्वास-आदि अनुभाव होते हैं। जैसा कि लिखा है—

एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः ।
वातपित्तकफानां स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः ॥
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते ।

अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषों के, एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के, प्रकोप से जो ज्वर-आदि रोग उत्पन्न होते हैं, उनसे उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति का नाम, साहित्यशास्त्र में, 'व्याधि' कहा जाता है। उदाहरण लीजिए—

हृदये कृतशैवलानुषङ्गा मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती।
तदुदन्तपरे मुखे सखीनामतिदीनामियमादधाति दृष्टिम्॥

× × × ×

हिय सेवालनि धारि, अँग इत-उत डारति, छीन।
पिय-बातनि रत सखिन मुख देत दीठि अति-दीन॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—सेवालों को हृदय से चिपटाए हुए, अंगों को इधर-उधर पटकती हुई, यह (नायिका) उस (प्यारे) की बातों में तत्पर सखियों के मुख पर अपनी अत्यन्त कातर दृष्टि डाल रही है—उनकी तरफ बड़ी दीनता से देख रही है।

यहाँ विरह विभाव है और अंगों का पटकना-आदि अनुभाव।

१६—त्रास

डरपोक मनुष्य के हृदय में व्याघ्रादि भयंकर जन्तुओं के देखने और बिजली की कड़क सुनने आदि से जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे 'त्रास' कहते हैं। इसके अनुभाव रोमांच, कँपकपी, निश्चेष्टता और भ्रम-आदि हैं। जैसा कि कहा गया है—

औत्पातिकैर्मनःक्षेपस्त्रासः कम्पादिकारकः ।

अर्थात् उत्पातकारी वस्तुओं से जो मन का विक्षेप होता है, उसे 'त्रास' कहते हैं, और वह कम्प-आदि को उत्पन्न करता है। उदाहरण लीजिए—

आलीषु केलीरभसेन बाला मुहुर्ममालापमुपालपन्ती ।
आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामनीयां सुषमामयासीत् ॥

× × × ×

बाल बात मम सखिन बिच बार-बार बतरात ।
दूरहि ते मम सबद सुनि लहि बिजुरी-दुति तात ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—बालिका क्रीड़ा के जोश में आकर, सखियों में, मेरी बात-चीत को दुहरा-दुहराकर कह रही थी; पर, दूर से, ज्योंही मेरी आवाज सुनी, तत्काल बिजली का-सा चमक्का कर गई—देखते-देखते ओझल हो गई।

यहाँ पति का अपनी बातें सुन लेना विभाव है और भग जाना अनुभाव। 'इस पद्य में लज्जा व्यंग्य है' यह शंका न करनी चाहिए; क्योंकि 'बाला' शब्द के प्रयोग से बालकपन के कारण लज्जा आपही निवृत्त हो जाती है अर्थात् बाल्यावस्था में लज्जा नहीं, किन्तु त्रास ही हुआ करता है।

पर, यदि कहो कि यहाँ बाला-पद से नायिका के शिशुत्व का बोध कराना अभीष्ट नहीं है, किन्तु उससे नायिका की विशेषता (अल्पवयस्कता) सूचित होती है; तो यह उदाहरण लीजिए—

मा कुरु कशां कराब्जे करुणावति ! कम्पते मम स्वान्तम् ।
खेलन्न जातु गोपैरम्ब ! विलम्बं करिष्यामि ॥

× × × ×

करु न कोररा कर, कँपत हिय, करुनावति अम्ब !
गोपन सँग खेलत कबहुँ करिहैं। अब न विलंब ॥

अरी दयावती ! तू अपने कर-कमल में कोरड़ा न ले, मेरा हृदय धड़क रहा है। मैया ! गोपालों के साथ खेलते हुए अब कभी विलंब न करूँगा। यह लीला से गोपकिशोर बने हुए भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की उक्ति है।

१७—सुप्त

निद्रारूपी विभाव से उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम 'सुप्त' है; जिसे आप 'स्वप्न' कह सकते हैं। इसके अनुभाव हैं बड़बड़ाना-आदि। नेत्र मींचना-आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, इसके नहीं; क्योंकि वे स्वप्न के कारण नहीं होते और जो प्राचीन आचार्यों ने "अस्याऽनुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनम् (अर्थात् इसके अनुभाव शरीर की निश्चेष्टता और नेत्र-मींचना हैं) " इत्यादि लिखा है, सो वे अनुभाव यद्यपि निद्रा के कारण अन्यथा सिद्ध हैं अर्थात् वे केवल स्वप्न में ही नहीं रहते, किंतु बिना स्वप्न के केवल निद्रा में भी रहते हैं; तथापि इस भाव में भी वे व्यापक रूप से रहते हैं—यह भाव भी उनसे खाली नहीं है; इस कारण लिख दिए गए हैं। सो यह आप भी सोच सकते हैं। उदाहरण लीजिए—

"अकरुण ! मृषाभाषासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चलम् ,
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ् ममे"त्यभिभाषिणीम् ॥
अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां,
क इह भवतीं भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ॥

× × × ×

"हे क्रूँठन सिरमौर ! निर्दयी ! तजु मम अंचल,
तेरो जान्यो नेह भले मैं" यों कहती कल ॥
अविरल आंसुन धार झरति कृशतन गतभूषन ।
प्यारिहिँ तो बिन नीँद ! करै को देवि ! निवेदन ॥

"हे दयाहीन ! हे मिथ्या-भाषणों के समुद्र ! मैंने तुम्हारे प्रेम को अच्छी तरह पहचान लिया। तुम मेरा पल्ला छोड़ दो।" इस तरह कहती हुई और अविरल अश्रुधारा बहाती हुई भूषणरहित कृशांगी को, हे कल्याणकारिणी निद्रे ! तेरे बिना कौन मिला सकता है ? देवि ! इस तरह मिला देने का सौभाग्य केवल तुझे ही प्राप्त है। यह स्वप्न में भी इस तरह कहती हुई प्रियतमा को देखनेवाले किसी विदेशगत नायक की उक्ति है।

यद्यपि यहाँ "हे निद्रे ! तैंने प्यारी की इस तरह की अवस्था का निवेदन करके मेरा महान् उपकार किया है" यह बात और विप्रलंभ-शृंगार दोनों प्रतीति में आ जाते हैं, तथापि प्रथम स्वप्न की ही स्फूर्त्ति होती है, अतः इस पद्य में स्वप्न के ध्वनित होने का उदाहरण दिया गया है; परंतु यदि इसी पद्य से अंत

में वे दोनों भी ध्वनित होते हैं, तो स्वप्न की अभिव्यक्ति उन्हें रोक नहीं सकती।

१८—विबोध

निद्रा के नष्ट होने के अनंतर जो बोध उत्पन्न होता है, उसे 'विबोध' कहते हैं। निद्रा का नाश निद्रा के पूरे हो जाने, स्वप्न का अंत हो जाने और बलवान् शब्द तथा स्पर्श से होता है, इस कारण वे इसके विभाव हैं और आँखें मलना, शरीर का मर्दन करना आदि अनुभाव हैं। संक्षेप से उदाहरण लीजिए—

नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे बत ! यामे चरमे निवेदितायाः।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत्प्रचुकोप वारिवाहः॥

× × × ×

पहर पाछले सुनयनिहिं नींद मिलाई आज।
वचन सुनन पूरब कुपित भयो जलद बिन काज॥

नायक अपने मित्र से कहता है—आनंद का विषय है कि मेरा हित चाहनेवाली निद्रा ने, पिछले पहर में अर्थात् सबेरा होते-होते, मुझसे मेरी प्रिया को मिलाया; पर ज्योंही मैं उसका वचन सुनता हूँ, त्योंही मेरे ऊपर जलधर कुपित हो गया; उसने गरजकर सब मज़ा किरकिरा कर दिया।

यहाँ गर्जना सुनना विभाव है और प्रिया के वचन सुनने के लिये जो उल्लास हुआ था, उसका नाश अनुभाव है; पर

उसे तर्कना करके समझ लेना चाहिए, उसका यहाँ स्पष्ट शब्दों में वर्णन नहीं है।

कुछ लोग 'विबोध' को अविद्या के नाश से उत्पन्न होनेवाला भी मानते हैं। उनके हिसाब से—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत !
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

अर्जुन कहता है कि—हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् जिन बातों को मैं भूल रहा था, वे मुझे फिर से उपस्थित हो गईं। अब मैं संदेहरहित होकर स्थित हूँ, आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। इस भगवद्गीता के पद्य को उदाहरण देना चाहिए।

यहाँ "नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे"... इस पद्य का वाक्यार्थ मेघ के विषय में होनेवाली असूया है" यह शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि जब पहले विबोध का ज्ञान हो जायगा, तब विबोध की अनुचितता का—बे मौके होने का—पता लगेगा; और उसके अनंतर होगी अनुचित विबोध के उत्पन्न करनेवाले मेघ में असूया। सो वह विबोध का मुँह देखनेवाली है अतएव विलंब से प्रतीत होती है, इस कारण उसकी प्रधानता नहीं हो सकती। हाँ, उसकी प्रधानता हो सकती है; पर तब, जब कि मेघ के विषय में निर्दयता आदि का बोध करानेवाला कुछ भी हो। इसी तरह यहाँ स्वप्न-भाव भी वाक्यार्थ

नहीं हो सकता; क्योंकि मेघ की गर्जना से उसके नाश का ही बोध होता है, उसका नहीं। पर, यदि कहो कि—यहाँ मूल पद्य में मेघ के लिये 'वारिवाह' शब्द है, और वारिवाह शब्द का अर्थ पनभरा (जल भरनेवाला) भी होता है; सो इस तरह के निकृष्ट शब्द के प्रयोग से असूया ध्वनित हो सकती है; और स्वप्रभाव की शान्ति की ध्वनि को तो आप भी स्वीकार कर चुके हैं। तो हम कहते हैं कि—लाओ, असूया और स्वप्रभाव की शांति के साथ इस भाव का संकर (मिश्रण) स्वीकार कर लेते हैं।

निम्नलिखित पद्य को तो इस भाव के उदाहरण में नहीं देना चाहिए—

गाढमालिङ्गय सकलां यामिनीं सह तस्थुषीम्।
निद्रां विहाय स प्रातरालिलिङ्गाऽथ चेतनाम्॥

× × × ×

करि आलिङ्गन सब रजनि रही नींद जो साथ।
तेहिं तजिकैं अब वह पर्‌यो प्रात चेतना-हाथ॥

एक दर्शक कहता है कि—जो नींद रात भर गहरा आलिंगन करती रही—जिसने उसे पूर्णतया अपने वश में कर रखा था उसने, उसे छोड़कर, अब प्रातःकाल चेतना को आलिंगन किया है।

क्योंकि यहाँ जो चेतना शब्द है, उसका अर्थ विबोध है, अतः वह वाच्य हो गया है। सो "जिस तरह एक सत्यप्रतिज्ञ

नायक, उपभोग के लिये, दो नायिकाओं को दो—पृथक् पृथक्—समय देकर, यथोचित समय पर एक नायिका को भोगने के अनंतर, दूसरे समय पर, उसे छोड़कर, दूसरी नायिका को भोगता है; वैसे ही इसने भी रात्रि में निद्रा को और प्रातःकाल में चेतना को आलिंगन किया है"। यह समासोक्ति (अलङ्कार) ही यहाँ प्रकाशित होती है।

१९—अमर्ष

दूसरे के किए हुए अपमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होनेवाली और मौन तथा वचनों की कठोरता आदि के उत्पन्न करनेवाली जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है, उसे 'अमर्ष' कहते हैं। पहले ही की तरह कारणों को विभाव और कार्यों को अनुभाव समझ लेना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

वक्षोजाग्र पाणिनाऽऽमृश्य दूरे
यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य।
शोणाग्राभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां
जोषं जोषं जोषमेवाऽवतस्थे॥

× × × ×

पिय चूचुकनि दबाइ कर गयो दूर ततकाल।
तेहिं मुख जोइ-जोइ-जोइ रहि भामिनि करि चख लाल॥

प्रियतम कुचों के अग्रभाग को हाथ से दबाकर तत्काल दूर चला गया; और क्रोधयुक्त नायिका, जिनके अग्रभाग लाल हो रहे हैं ऐसे, नेत्रों से देखती देखती चुप रह गई।

यहाँ अकस्मात् स्तनों के अग्रभागों का स्पर्श करना विभाव है और नयनों की ललाई तथा टकटकी लगाकर देखना अनुभाव हैं।

यहाँ आप पूछ सकते हैं कि स्थायी-भाव क्रोध और संचारी-भाव अमर्ष में क्या भेद है ? इसका उत्तर यह है कि—दोनों के विषय भिन्न भिन्न हैं—यही भेद है। और विषयों के भिन्न होने का बोध उनके कार्यों की विलक्षणता से होता है। देखिए, क्रोध के कारण झट से प्रतिपक्षी के नाश आदि में प्रवृत्ति होती है और अमर्ष के कारण केवल चुप रहना-आदि ही होते हैं। तात्पर्य यह कि वही भाव जब कोमलावस्था में रहता है तो अमर्ष कहलाता है और उत्कट अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो क्रोध।

२०—अवहित्थ

हर्ष आदि अनुभावों को, लज्जा आदि के कारण, छिपाने के लिये जो एक प्रकार की चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है, उसे 'अवहित्थ' कहते हैं।
जैसा कि लिखा है—

अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते।
तद्विभाव्यं भयव्रीडाधाष्टर्यकौटिल्यगौरवैः॥

अर्थात् अनुभावों को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है, उसे 'अवहित्थ' कहते हैं। उसके विभाव भय, लज्जा, धृष्टता, कुटिलता और गौरव होने चाहिएँ। जैसे—

प्रसंगे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-
रुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः।
विषज्वालाजालं झगिति वमतः पन्नगपतेः
फणायां साश्चर्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम्॥

× × × ×

गोपनि बातनि करी, गुरुन बिच, परम बड़ाई।
जदुपति की, कुलनारि सुनी, सो अति मन भाई॥
भए कपोलनि सेद-सलिल अरु पुलकनि पाँती।
होन लग्यो अति हरख प्रकट वाको इहिँ भाँती॥
सो विष-झारनि माल अति वमत कालि फनिपति फननि।
निरतन की कहिबे लगी बात सखिन अचरज-करनि॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—गोपों ने, प्रसंग आ जाने पर, गुरुजनों के बीच में, भगवान् कृष्णचंद्र की बड़ाई कर दी। पास में बैठी हुई एक कुलनारी ने भी यह प्रसंग सुन लिया। फिर क्या था, प्रेम के कारण कपोलों पर पसीना और रोमांच उत्पन्न हो गए। कुलवधू ने देखा कि अब सब चौपट हुआ जाता है, अतः उसने विषज्वाला के समूह को सपाटे से उगलते हुए अहिराज कालिय के फणों पर

(भगवान् कृष्ण के) नृत्य का आश्चर्य-सहित वर्णन करना प्रारंभ कर दिया, जिससे लोग समझ लें कि यह स्वेद और रोमांच कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, किन्तु उनके पराक्रम-वर्णन के कारण हुआ है।

यहाँ लज्जा विभाव है और वैसे (भयंकर) कालिय सर्प के फणों पर तांडव करने की कथा का प्रसंग अनुभाव है। इसी तरह भयादिक के द्वारा उत्पन्न होनेवाले अवहित्थ-भाव का भी उदाहरण समझ लेना चाहिए।

२१—उग्रता

तिरस्कार तथा अपमान आदि से उत्पन्न होने-वाली 'इसका क्या कर डालूँ' इस रूप में, जो चित्तवृत्ति होती है, उसे 'उग्रता' कहते हैं। जैसा कि लिखा है—

नृपापराधोऽसद्दोषकीर्त्तनं चौरधारणम्।
विभावाः स्युरथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने।
एते यत्राऽनुभावास्तदौग्र्यं निर्दयतात्मकम्॥

अर्थात् राजा का अपराध, झूठे दोषों का वर्णन और अपने चोर को रख लेना ये जिसमें विभाव हों और बाँधना, मारना, पीटना और धमकाना ये अनुभाव हों, वह 'उग्रता' होती है, जो कि निर्दयतारूप है। जैसे—

अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनुर्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते ॥

× × × ×

रन-आँगन लहि करन ते अशुभ पराजय आज।
निंदत मम गांडिव धनुष तुव हिय कंप न लाज॥

रणांगण में अंगराज कर्ण से अत्यंत अमंगल हार खाकर तू आज मेरे परम प्रभावशाली गांडीव धनुष की निंदा कर रहा है ! तेरा हृदय कंपित नहीं होता !! यह कर्ण से पराजित और गांडीव की निंदा करते हुए युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की उक्ति है।

यहाँ युधिष्ठिर की की हुई गांडीव धनुष की निंदा विभाव है और मारने की इच्छा अनुभाव।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि—'अमर्ष और उग्रता में कुछ भेद नहीं है' यह कह देना उचित नहीं; क्योंकि पहले जो अमर्ष की ध्वनि का उदाहरण दिया गया है, उसमें उग्रता नहीं है; सो आप दोनों उदाहरणों को मिलाकर स्पष्ट समझ सकते हैं। तात्पर्य यह कि अमर्ष निर्दयतारूप नहीं और यह तद्रूप होती है। न इसे क्रोध ही कह सकते हैं; क्योंकि वह स्थायी-भाव है और यह संचारी भाव। अर्थात् यही भाव जब स्थायीरूप से आवे तो क्रोध समझना चाहिए और संचारीरूप से आवे तो उग्रता।

२२—उन्माद

वियोग, परम आनंद और महा-आपत्ति से उत्पन्न होनेवाली, जो किसी मनुष्य अथवा वस्तु में किसी दूसरे मनुष्य अथवा वस्तु की प्रतीति होती है, उसे 'उन्माद' कहते हैं। यहाँ 'उत्पन्न होनेवाली' तक का जो कथन है, वह सीप में चाँदी के भानरूपी भ्रम में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये है क्योंकि वहाँ नेत्र दोष और अन्धकार आदि कारण है न कि वियोग आदि। उदाहरण लीजिए—

"अकरुणहृदय प्रियतम ! मुञ्चामि त्वामितः परं नाऽहम्"।
इत्यालपति कराम्बुजमादायाऽऽलीजनस्य विकला सा ॥

× × × ×

"अकरुन-हिय पिय ! तोहिं हौं ना छोरौं अब पाइ।"
यों बोलत गहि कर-कमल आलिन को अकुलाइ ॥

वह सखी के हाथ को पकड़कर "हे निर्दय हृदयवाले प्रियतम ! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुम्हें छोड़ती ही नहीं।" इस तरह विकल होकर बातें करती रहती है। यह प्रवास में गए हुए और अपनी प्रियतमा के समाचार पूछते हुए नायक के प्रति किसी संदेशवाहिनी—दूती—की उक्ति है।

यहाँ प्यारे का विरह विभाव है और असंबद्ध—बेमेल—बातें करना अनुभाव है। उन्माद का यद्यपि व्याधि-भाव में अंत-

भाव हो सकता है, तथापि इसे जो पृथक् लिखा गया है, सो यह समझने के लिये कि इस व्याधि में अन्य व्याधियों की अपेक्षा एक प्रकार की विचित्रता है—अर्थात् अन्य रोगों से इस रोग का ढंग कुछ निराला ही है।

२३—मरण

रोग आदि से उत्पन्न होनेवाली जो मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था है, उसे 'मरण' कहते हैं। यहाँ 'प्राणों का छूट जाना' रूपी जो मुख्य मरण है, उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्योंकि ये जितने भाव हैं, वे सब चित्तवृत्तिरूप हैं, उनमें उस प्रकार के मरण का कोई प्रसंग ही नहीं। दूसरे, शरीर-प्राण-संयोग हर्ष आदि सभी व्यभिचारी भावों का कारण है। वह ऐसा कारण नहीं कि केवल कार्य की उत्पत्ति के पूर्व ही वर्त्तमान रहे, किन्तु ऐसा कारण है जो कार्य की उत्पत्ति के समय भी रहता है। इस अवस्था में मरणभाव मुख्य मरण (शरीर-प्राण-वियोग) रूप में नहीं लिया जा सकता; क्योंकि उसकी उत्पत्ति के समय शरीर-प्राण-संयोग उसका कारण नहीं रह सकता। अतः मरण के पूर्वकाल की चित्तवृत्ति ही यहाँ मरणनामक व्यभिचारी भाव है। क्योंकि उसकी उत्पत्ति के समय शरीर-प्राण-संयोग रहता है। उदाहरण लीजिए—

दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती
शयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽसीत्।

अधुना खलु हन्त ! सा कृशाङ्गी
गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि ॥

× × × ×

जेहिं पिय-गुन सुमिरत अबहिं सेज विलोकी हाय !
अब वह बोलति ना सुतनु थके बुलाय बुलाय ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जिसको, अभी, प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुए, शय्या पर, देखा था; हाय ! वह कृशांगी, इस समय, बुलाने पर भी नहीं बोलती—उसकी जबान बंद हो गई है।

यहाँ प्यारे का विरह विभाव है और जबान बंद हो जाना अनुभाव। इस पद्य में 'हंत' अथवा 'हाय' पद अत्यंत उपकारक है, अतः यद्यपि यह भाव वाक्य भर का व्यंग्य है, तथापि यहाँ पद का व्यंग्य हो गया है। इससे "भाव यदि पद से व्यंग्य हो तो उसमें अधिक विचित्रता नहीं रहती" यह कथन परास्त हो जाता है। "प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुए" इस कथन से यह बात सूचित होती है कि—"यहाँ ध्वनित होनेवाली जो अंतिम अवस्था है, उसमें भी उसे प्यारे के गुणों का विस्मरण नहीं हुआ था", और वह अंत में अभिव्यक्त होनेवाले विप्रलंभ-शृंगार को अथवा करुण-रस के स्थायी-भाव शोक को पुष्ट करती है। यहाँ यह समझ लेने का है कि यह भाव, संदर्भ में, इस वाक्य के अनंतर आनेवाले दूसरे वाक्य से यदि नायिकादिक के पुन-

जीवन का वर्णन किया जाय, तब तो विप्रलंभ को, अन्यथा करुण-रस को, पुष्ट करता है। कवि लोग इस भाव का प्रधानतया वर्णन नहीं करते; क्योंकि यह भाव प्रायः अमंगल है।

२४—वितर्क

संदेह आदि के अनन्तर उत्पन्न होनेवाली तर्कना को 'वितर्क' कहते हैं। वह निश्चय के अनुकूल (उत्पादक) होता है। जैसे—

यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी नितरामेव न विद्यते भुवि।
अथ मे कथमस्ति जीवितं न विनाऽऽलम्बनमाश्रितस्थितिः॥

× × × ×

"जनक-सुता महि पर नहीं" यह बच जो आदेय।
तौ किमि मम थिति ? रहत ना बिन अधार आधेय॥

यदि जनकनंदिनी पृथिवी पर सर्वथा है ही नहीं; तब फिर मेरा जीवन किस प्रकार विद्यमान है; क्योंकि बिना आधार के आधेय (आधार में रहनेवाली वस्तु) की स्थिति नहीं रहती। तात्पर्य यह कि जनकनंदिनी ही इस जीवन का आधार है, उसके चले जाने पर यह रह ही कैसे सकता है ? यह भगवान् रामचंद्र का अपने मन में कथन है।

यहाँ "सीता पृथिवी पर है अथवा नहीं" यह संदेह विभाव है और पद्य में वर्णित न होने पर भी आक्षिप्त भौंह तथा अँगुलियों का नचाना अनुभाव है। "इस पद्य का व्यंग्य चिंता है" यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चिंता किसी

निश्चय को ही उत्पन्न करे, यह नियत नहीं है। दूसरे, इन दोनों भावों के विषय भी भिन्न भिन्न मिलते हैं। देखिए, चिंता का आकार है "क्या होगा" "कैसा होगा" इत्यादि; और वितर्क का आकार है "प्रायः इसका ऐसा होना उचित है" यह। एवं अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के रूप में 'बिना आधार के......" इत्यादि कथन भी वितर्क के ही अनुकूल है, चिंता के नहीं।

२५—विषाद

वाञ्छित के सिद्ध न होने तथा राजा और गुरु आदि के अपराध आदि से उत्पन्न होनेवाले पश्चात्ताप का नाम 'विषाद' है। उदाहरण लीजिए—

भास्करसूनावस्तं याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे।
दुर्योधनस्य जीवित ! कथमिव नाऽद्यापि निर्यासि ॥

× × × ×

अथए करन महारथी लही पांडवनि जीत।
कुरुपति के जीवन न तू अजहू भयो व्यतीत ॥

दुर्योधन अपने-आप कहते हैं कि—सूर्यसुत कर्ण के अस्त हो जाने और पांडवों का विजय हो जाने पर भी, हे कर्ण के दर्शन पर्यंत ही जीनेवाले, अथवा ग्यारह अक्षौहिणियों के पतियों से प्रणाम किए जानेवाले, यद्वा प्रताप से पांडवों के तेज को न गिननेवाले, किंवा पांडवों को वनवासादि दुःख देनेवाले दुर्योधन के जीवन ! तू आज भी किस तरह नहीं निकल रहा है ? क्या अब भी और कोई दुःख देखना शेष रह गया है ?

यहाँ अपने अपकर्ष और शत्रुओं के उत्कर्ष का देखना विभाव हैं और जीवन के निकलने की चाहना और उसके द्वारा आक्षिप्त मुँह नीचा करना आदि अनुभाव हैं। इसी विषाद की ध्वनि को, "दुर्योधन के" यह अर्थांतर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि—जिससे अत्यंत दुःखीपन आदि व्यक्त होता है—अनुगृहीत (परिपुष्ट) करता है। "यह पद्य 'त्रास-भाव' की ध्वनि है" यह शंका करना उचित नहीं; क्योंकि परमवीर दुर्योधन को त्रास का लेश भी स्पर्श नहीं कर सकता। न चिंता की ही ध्वनि कही जा सकती है; क्योंकि उसका यह निश्चय है कि "मैं युद्ध करके मरूँगा।" दैन्य की ध्वनि मानें सो भी नहीं; क्योंकि सब सेना का क्षय होने पर भी उसने विपत्ति को गिना ही नहीं। वीर-रस की ध्वनि भी नहीं बन सकती; क्योंकि वह अपने वचन में मरण को अपना रक्षक कह रहा है; और 'उत्साह' का प्राण है दूसरे को नीचा दिखाना, सो वह यहाँ है नहीं और बिना उसके 'वीर-रस' की बात उठाना ही अनभिज्ञता है।

निम्नलिखित पद्य को विषादध्वनि का उदाहरण कहना उचित नहीं—

अयि ! पवनरयाणां निर्दयानां हयानां
श्लथय गतिमहं नो सङ्गरं द्रष्टुमीहे।
श्रुतिविवरममी मे दारयन्ति प्रकुप्य-
द्भुजगनिभभुजानां बाहुजानां निनादाः।

× × × ×

करु हरुए रे ! नेक निर्दयी हय-गन की गति ।
हौं ना चाहत समर देखिबो, कंपत मो मति ॥
क्रुद्ध सर्प-सम उग्र भुजनवारे छत्रिन के ।
सुनि सुनि नाद विदीर्ण होत मम छिद्र श्रुतिन के ॥

भीरु पुरुष विराट-पुत्र उत्तर अपने सारथि बृहन्नलावेषधारी अर्जुन से कह रहा है—ए भैया ! तू इन निर्दयी घोड़ों की गति को मंदी कर दे, मैं युद्ध देखना नहीं चाहता । देख तो, क्रोधी सर्प के समान जिनकी भुजाएँ हैं, उन क्षत्रियों के नाद मेरे कानों के छिद्रों को विदीर्ण किए देते हैं—उन्हें सुन सुनकर मेरे कानों के परदे फटे जा रहे हैं ।

' यहाँ त्रास ही प्रतीत हो रहा है, इस कारण विषाद की प्रतीति नहीं हो सकती । पर यदि किसी अंश में प्रतीति मान भी लें, तथापि उसका भी त्रास में ही अनुकूल होना उचित है; सो वह इस योग्य नहीं कि इस काव्य को उसकी ध्वनि कहा जाय ।

२६—औत्सुक्य

"यह वस्तु मुझे इसी समय प्राप्त हो जाय" इस इच्छा को 'औत्सुक्य' कहते हैं । वांछित का न प्राप्त होना इसका विभाव होता है और शीघ्रता, चिंता आदि अनुभाव होते हैं । जैसा कि कहा गया है—

संजातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः ।
निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ॥
अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः ॥

अर्थात् वांछित के विरह से उत्पन्न होनेवाला और प्रिय की स्मृति से उद्दीपन किया जानेवाला, तथा जिसके निद्रा, आलस्य, शरीर का भारीपन और चिंता अनुभाव हैं, उस भाव को, भावों के समझनेवालों ने, 'औत्सुक्य' कहा है। उदाहरण लीजिए—

निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यतारकम्।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः॥

× × × ×

परत आँसुवन रोध हित भइ थिर तारा जासु।
नैन नील-नीरज वहै कबैं निरखिहौं तासु॥

नायक के जी में आ रहा है कि—(जिस समय मैं चलने लगा, उस समय, इस भय से कि कहीं अपशकुन न हो जाय) गिरते हुए आँसुओं के रोकने से जिसके तारा ने चंचलता छोड़ दी थी—स्थिर हो रहा था, क्योंकि यदि वह थोड़ा भी हिलता तो संभव था कि आँसू गिर पड़ते, मृगनयनी के, उस नयन-रूपी नीलकमल को कब देखूँ।

२७—आवेग

अनर्थ की अधिकता के कारण उत्पन्न होने-वाली चित्त की संभ्रम नामक वृत्ति को 'आवेग' कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

लीलया विहितसिंधुबंधनः सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः।
दर्पदुर्विलसितो दशाननः कुत्र यामि निकटे कुलक्षयः॥

× × × ×

लीला तें बाँध्यो जलधि सो यह रघुपति आत।
दरप भर्‌यो दसवदन, कहँ जाउँ, निकट कुलघात॥

जिन्होंने लीला से समुद्र का सेतु तैयार कर दिया, वे रघु-वंशनंदन—रामचंद्र—ये आ रहे हैं; और रावण है पूरा घमंडी—वह कभी झुकनेवाला नहीं। अब, मैं कहाँ जाऊँ, कुल का नाश बिलकुल नजदीक आ गया है—कोई बचाव की सूरत नहीं दिखाई देती। यह मंदोदरी का मन-ही-मन कथन है।

यहाँ रघुनंदन का आना विभाव है और 'कहाँ जाऊँ' इस कथन से अभिव्यक्त होनेवाला स्थिरता का अभाव अनुभाव है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि इस पद्य में चिंता प्रधान-तया अभिव्यक्त होती है; क्योंकि 'कहाँ जाऊँ' इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होनेवाले स्थिरता के अभाव से जिस तरह उद्वेग की प्रतीति होती है, उस तरह चिंता की नहीं होती। परंतु आवेग के आस्वादन में, उसके परिपोषक रूप से, गौणतया, चिंता भी अनुभाव में आ जाती है।

२८—जड़ता

चिंता, उत्कंठा, भय, विरह और प्रिय के अनिष्ट के देखने सुनने आदि से उत्पन्न होनेवाली और अवश्य करने योग्य कार्यों के अनुसंधान से रहित जो चित्तवृत्ति होती है, उसे 'जड़ता' कहते हैं। यह मोह के पहले और पीछे उत्पन्न हुआ करती है। जैसा कि कहा गया है—

कार्याविवेको जडता पश्यतः शृण्वतोऽपि वा ।
तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा ॥
अनुभावास्त्वमी तूष्णीम्भावविस्मरणादयः ।
सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम् ॥

अर्थात् देखते अथवा सुनते हुए भी कर्त्तव्य का विवेक न होने को जड़ता कहते हैं । उसके विभाव हैं प्यारे अथवा प्यारी के अनिष्ट का देखना-सुनना तथा रोग; और चुप हो जाना, भूल जाना—आदि अनुभाव हैं । वह मोह के पहले अथवा पीछे उत्पन्न हुआ करती है। यह विद्वानों का मत है। उदाहरण—

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां
सहचरि ! दैववशेन दूरतोऽभूत् ।
तदवधि शिथिलीकृता मदीयै-
रथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥

× × × ×

जब ते सखि ! दयितहिं दई कीन्ह लोचननि दूर ।
तब ते मम इंद्रिन क्रिया करी शिथिल भरपूर ॥

नायिका अपनी सखी से कहती है—हे सहेली ! दैवाधीन होने के कारण जब से प्रियतम आँखों से दूर हुए हैं, तब से मेरी इंद्रियों ने अपने अपने कामों से प्रेम शिथिल कर दिया है—अब वे काम करना चाहती ही नहीं ।

यहाँ प्यारे का विरह विभाव है और आँख-कान आदि इंद्रियों का अपने अपने ज्ञानों में प्रेम शिथिल कर देना—अर्थात्

आँख आदि से रूप आदि का जैसा चाहिए वैसा ज्ञान न होना अनुभाव है। मोह में नेत्रादिकों से देखना आदि कार्य होते ही नहीं; परंतु इस भाव में यह बात नहीं। इस भाव में वस्तुओं के दर्शन आदि तो होते हैं; पर, प्रायः, उनका विशेष रूप से परिचय नहीं होता—अर्थात् न जानना मोह का काम है और जैसा चाहिए वैसा न जानना जड़ता का। यही उससे इसमें विशेषता है। इसी कारण उदाहरण-पद्य में 'शिथिल कर दिया है' लिखा है, 'छोड़ दिया है' नहीं।

२९—आलस्य

अत्यन्त तृप्त हो जाने तथा गर्भ, रोग और परिश्रम आदि के कारण जो चित्त का कार्य से विमुख होना है, उसे 'आलस्य' कहते हैं। इसमें न अशक्ति होती है और न कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक का अभाव; अतः कार्य न करने रूपी अनुभाव के समान होने पर भी ग्लानि और जड़ता से इसका भेद है। उदाहरण लीजिए—

निखिलां रजनीं प्रियेण दूरा-
दुपयातेन विबोधिता कथाभिः।
अधिकं न हि पारयामि वक्तुम्,
सखि ! मा जल्प, तवाऽऽयसी रसज्ञा।

× × × ×

पिय आए अति दूर ते करी बात सब रात।
तुव रसना सखि ! लोह की हैं। ना बोलि सकात॥

पतिदेव दूर से आए थे, उन्होंने सब रात भर अनेक कथाएँ समझाईं। सो हे सखी! मैं अधिक नहीं बोल सकती; तू बात न कर; मालूम होता है तेरी जीभ तो लोह की है, तू क्या थकती थोड़े ही है। यह, पति के आने के दूसरे दिन, बार बार रात का वृत्तांत पूछती हुई सखी के प्रति रात में जगने से आलस्ययुक्त, किसी नायिका की उक्ति है।

यहाँ रात में जगना विभाव है और अधिक बोलने का अभाव अनुभाव। जड़ता का नियम है कि वह मोह से प्रथम अथवा पीछे हुआ करती है; पर इसमें यह बात नहीं; सो आलस्य में यह एक और भी विशेषता है।

यहाँ एक बात और समझ लेने की है। वह यों है—यदि यह माना जाय कि यहाँ जो कथा-शब्द आया है, वह असली बात छिपाने के लिये लाया गया है; अतएव अविवक्षितवाच्य है। सो 'कथा' शब्द का असली अर्थ है सुरत; और उसका व्यंग्य है नायिका का अत्यंत श्रमयुक्त होना। तो, जो श्रम-भाव अभिव्यक्त होता है, वह भले ही आलस्य का परिपोषक रहै; क्योंकि जो आलस्य श्रम से उत्पन्न हुआ है, उसमें श्रम का पोषक होना अनिवार्य है। पर, इसका अर्थ यह नहीं है कि जहाँ जहाँ आलस्य होता है, वहाँ उसका विभाव श्रम ही होता है। अतएव जहाँ अत्यंत तृप्त होने आदि से आलस्य उत्पन्न होता है, वहाँ आलस्य का विषय श्रम नहीं होता, किंतु अति-तृप्ति आदि होते हैं।

३०—असूया

दूसरे का उत्कर्ष देखने आदि से उत्पन्न होने-वाली और दूसरे की निंदा आदि का का ण, जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति होती है, उसे 'असूया' कहते हैं। इसी को 'असहन' अथवा 'असहिष्णुता' आदि शब्दों से भी व्यवहार किया जाता है। जैसे—

कुत्र शैवं धनुरिदं क्व चाऽयं प्राकृतः शिशुः।
भंगस्तु सर्वसंहर्त्रा कालेनैव विनिर्मितः॥

× × × ×

कहाँ शम्भु को धनुष यह कहँ यह प्राकृत बाल।
याको भंजन तो कियो सरब-सँहारी काल॥

कहाँ यह शिव का धनुष और कहाँ यह साधारण बालक; इसका भंग तो सब वस्तुओं के संहार करनेवाले काल ने ही कर दिया। इसका भावार्थ यह है कि इस धनुष का, इतने समय तक पड़े रहने के कारण, अपने आप ही चूरा हो गया है, अन्यथा यह काम इस साधारण क्षत्रिय बालक—रामचंद्र—के वश का नहीं है। यह, शिव-धनुष को तोड़नेवाले भगवान् रामचंद्र के पराक्रम को न सहनेवाले, उस सभा में बैठे हुए, राजाओं का कथन है।

यहाँ श्रीमान् दशरथनंदन के बल का सबसे उत्कृष्ट दिखाई देना विभाव है और 'साधारण बालक' इस पद से प्रतीत होने-वाली निंदा अनुभाव है।

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे
मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले, कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः! किंनु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडंबरः॥

× × × ×

चंचल नैन चकोर तृषित ह्वै प्राचिहिं जोवत,
कुमुद हु छाँड़त मौन रहे जे अब लौं सोवत।
धुनत धनुष मदनेश मान हू तजत मानिनिनि।
कहा उचित या समय विधे! विधु पै कादम्बिनि॥

कवि विधाता से कहता है*—चकोरों का समूह आशा से चंचल नेत्र किए हुए पूर्व दिशा को स्वीकार कर रहा है—टकटकी लगाकर उसी तरफ देख रहा है, कुमुदों के वृंद भी मौन छोड़कर चटक रहे हैं, कामदेव अपने धनुष को कंपित करके टंकार शब्द कर रहे हैं और मानिनियों का मान प्रस्थान करना चाहता है—कमर बाँधे खड़ा है; हे विधाता! ऐसे समय में क्या आपको यह उचित है कि चंद्रमा पर मेघाडंबर करें! राम! राम!! आपने बहुत बुरा किया।

---

* यह पद्य किसी ऐसे अवसर पर लिखा गया प्रतीत होता है जब कि किसी राजकुमार की उपस्थिति की अत्यन्त आवश्यकता थी; परंतु वह किसी दैवी कारण से उपस्थित न हो सका। क्योंकि "प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तांतस्य" इत्यादि आगे का ग्रंथ तभी संगत हो सकता है।

—अनुवादक

यहाँ, यद्यपि "विधाता की उच्छृंखलता आदि के दिखाई देने से उत्पन्न होनेवाली और उसकी—अनुचितकारितारूपी—निंदा के प्रकाशित होने से अनुभव में आनेवाली, विधाता के विषय में, कवि की असूया अभिव्यक्त होती है" यह कहा जा सकता है; तथापि यहाँ जो असूया के कार्य और कारण वर्णन किए गए हैं, वे ही अमर्ष के कार्य और कारण हो सकते हैं; अतः कार्य-कारणों की समानता के कारण वह अमर्ष से मिश्रित ही प्रतीत होती है, उससे रहित नहीं। यदि आप कहें कि इसी तरह आपके पूर्वोक्त उदाहरण (कुत्र शैवम्......) में भी अमर्ष और असूया का मिश्रण क्यों नहीं कहा जा सकता? तो इसका उत्तर यह है कि—जिस तरह दूसरे पद्य में विधाता का अपराध स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने राजकुमार को ऐसे आवश्यक समय पर उपस्थित न रहने दिया; इस तरह भगवान् राम का कोई अपराध नहीं है, जिससे कि कवि की तरह वीरों का भी अमर्ष अभिव्यक्त हो। आप कहेंगे कि धनुषभंग करके राजाओं का मानमर्दन कर देना रामचंद्र का भी तो अपराध है। सो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि अत्यंत उन्नत कार्य करना वीर-पुरुषों का स्वभाव है—वे उसे किसी का दिल दुखाने के लिये नहीं करते।

अब, यदि आप कहें कि—यहाँ चंद्रमा का वृत्तांत तो प्रसंगप्राप्त है नहीं; अतः यह मानना पड़ेगा कि उसके द्वारा प्रसंगप्राप्त राजकुमारादिकों का वृत्तांत ध्वनित होता है; सो

इस पद्य को असूया-भाव की ध्वनि मानना ठीक नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि से विरोध नहीं है—अर्थात् एक ही पद्य साथ-ही-साथ दो अर्थों की भी ध्वनि हो सकता है; क्योंकि यदि ऐसा न मानो तो महावाक्य की ध्वनियों का अवांतर वाक्यों की ध्वनियों के साथ होना और अवांतर वाक्यों की ध्वनियों का पदों की ध्वनियों के साथ होना, कहीं भी, न बन सकेगा।

३१—अपस्मार

वियोग, शोक, भय और घृणा आदि की अधिकता तथा भूत-प्रेत के लग जाने आदि से जो एक प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है, उसे 'अपस्मार' कहते हैं। इसकी भी गणना यद्यपि 'व्याधिभाव' में ही हो जाती है, तथापि इसे जो विशेष रूप से लिखा गया है, सो इस बात को समझाने के लिये कि 'वीभत्स' और 'भयानक' रसों का यही व्याधि अंग होती है, अन्य नहीं। परन्तु विप्रलंभ-शृंगार के तो अन्यान्य व्याधियाँ भी अंग हो सकती हैं। उदाहरण लीजिए—

हरिमागतमाकर्ण्य मथुरामन्तकान्तकम्।
कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले॥

× × × ×

अंतक के अंतक हरिहिं मथुरा आए जानि।
साँस लेत अरु कँपत महि परयो कंस भय मानि॥

कवि कहता है—काल के भी कालरूप भगवान् श्रीकृष्ण-चंद्र को जब मथुरा में आए सुना तो कंस कंपित हो गया, उसे साँस चढ़ने लगा और पृथिवी पर गिर पड़ा।

यहाँ भय विभाव है और काँपना, अधिक साँस लेना तथा गिर पड़ना आदि अनुभाव हैं।

३२—चपलता

अमर्ष आदि से उत्पन्न होनेवाली और कठोर वचन आदि को उत्पन्न करनेवाली चित्तवृत्ति को 'चपलता' कहते हैं। जैसा कि कहा है—

अमर्षप्रातिकूल्येर्ष्यारागद्वेषाश्च मत्सरः।
इति यत्र विभावाः स्युरनुभावास्तु भर्त्सनम्॥
वाक्पारुष्यं प्रहारश्च ताडनं वधबन्धने।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमिष्यते॥ इति॥

अर्थात् जिसमें अमर्ष, प्रतिकूलता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और असहिष्णुता ये विभाव हों और धमकाना, वचन की कठोरता, चोट पहुँचाना, पीटना, मारना और कैद करना ये अनुभाव हों, उसे 'चपलता' कहते हैं; जिसे कि 'बिना सोचे विचारे काम करना' समझिए। उदाहरण लीजिए—

अहितव्रत! पापात्मन्! मैवं मे दर्शयाऽऽननम्।
आत्मानं हंतुमिच्छामि येन त्वमसि भावितः॥

× × × ×

अहित नियम तुव, पापमय, मोहिं मुख न यों दिखाय।
हौं आपुहिं मारन चहत जेहिं तोहिं दिय उपजाय॥

हे अनिष्टकारी नियमों के पालन करनेवाले दुरात्मन्! तू इस तरह मुझे मुख मत दिखा। मैं अपने को मार देना चाहता हूँ, जिससे कि तू उत्पन्न किया गया है। यह हिरण्यकशिपु का, प्रह्लाद के प्रति, उस समय का, कथन है, जब कि उसे उसकी भगवद्भक्ति के हटने का कोई उपाय न सूझ पड़ा।

यहाँ भगवान् के द्वेष के द्वारा उद्दीप्त किया हुआ पुत्र का द्वेष विभाव है और आत्महत्या की इच्छा अनुभाव।

यहाँ यह न कहना चाहिए कि—इस पद्य में 'अमर्ष' ही व्यंग्य है; क्योंकि सदा से ही भगवान् से प्रेम करनेवाले प्रह्लाद के साथ हिरण्यकशिपु का जो अमर्ष था, वह बहुत समय से संचित था; अतः यदि अमर्ष के कारण ही उसकी आत्महत्या की इच्छा हुई—यह माना जाय, तो इस इच्छा का इस समय ही पहले बार होना नहीं बन सकता; यदि यह इच्छा उसी कारण से हुई होती तो इतने वर्षों तक ही क्यों न हो गई होती। अब, जब कि वह इच्छा पहले-पहल उत्पन्न हुई है, तो उसका कारण भी पहले-पहल उत्पन्न हुआ है—यह मानना चाहिए। तब पुरानी चित्तवृत्ति जो अमर्ष है, उससे भिन्न चपलता नामक चित्तवृत्ति ही उसका कारण सिद्ध होती है। पर, यदि कहो कि आत्महत्या आदि का कारण अमर्ष की अधिकता ही है, अतः यहाँ उसी की अभिव्यक्ति माननी

चाहिए; तो हम कहते हैं कि अधिकता भी वस्तु के स्वाभाविक रूप से तो विलक्षण होती है—अर्थात् स्वाभाविक रूप में और अधिकता में भेद होता है, यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। बस, तो उसी पदार्थ का नाम चपलता है; अर्थात् प्रकृष्ट अमर्ष ही चपलता कहलाता है।

३३—निर्वेद

जो नीच पुरुषों में गालियाँ मिलने, तिरस्कार होने, रोगी हो जाने, पिट जाने, दरिद्र होने, वांछित के न मिलने और दूसरे की संपत्ति देखने आदि से और उत्तम पुरुषों में अवज्ञा आदि से उत्पन्न होती है और जिसका नाम विषयों से द्वेष है, तथा जिसके कारण रोना, लंबे साँस और चेहरे पर दीनता आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उस चित्त-वृत्ति का नाम 'निर्वेद' है। उदाहरण लीजिए—

यदि लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा न मदीक्षासरणिं समेष्यति ।
अमुना जडजीवितेन मे जगता वा विफलेन किं फलम् ॥

× × × ×

लछमन, जो वह मृगनयनि मो नैननि ना आय ।
या जड़जीवन अरु विफल जग ते का फल हाय ॥

श्रीरामचंद्र सीता के वियोग में लक्ष्मण से कह रहे हैं—हे लक्ष्मण ! यदि वह मृगनयनी मेरे नेत्रपथ में न आवेगी—मुझे न दिखाई देगी, तो इस जड़—अर्थात् चेष्टा-रहित—जीवन

से अथवा निष्फल जगत् से क्या फल है! मेरे लिये न यह जीवन काम का है, न जगत्।

यहाँ यदि आप शंका करें कि 'निर्वेद' शांत-रस का स्थायी भाव है, सो इस पद्य को शांत-रस की ही ध्वनि क्यों न मान लिया जाय, भाव की ध्वनि क्यों माना जाय; तो इसका समाधान यह है कि जो निर्वेद शांत-रस का स्थायी भाव है, वह नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेक से उत्पन्न हुआ करता है; पर यह वैसा नहीं है; सो इस निर्वेद के कारण यह पद्य रस की ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

३४—देवता आदि के विषय में रति

जैसे—

भवद्द्वारि क्रुध्यज्जयविजयदण्डाहतिदल-
त्किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः।
वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया
वराकाः के तत्र क्षपितमुर! नाकाधिपतयः॥

× × × ×

क्रोधयुक्त जय-विजय-दंड की गहरी चोटन।
दलित किरीट, सुकीट-सरिस, विधि औ बलसूदन॥
नैनपात की चाह रहें ठाढ़े तुव द्वारे।
कौन मुरारे! तहाँ नाकपति हैं बेचारे॥

भक्त की भगवान् के प्रति उक्ति है कि—हे मुरारे! आपके द्वार पर, क्रोधयुक्त जय-विजय नामक पार्षदों के डंडों की चोटों

से जिनके किरीट टूटे जा रहे हैं, वे ब्रह्मा और महेंद्र आदिक देवता, आपके नेत्रपरिपात की—एक बार अच्छी तरह देख लेने की—उत्कंठा से खड़े रहते हैं, फिर बेचारे स्वर्ग के स्वामी यम, कुवेर आदिक कौन चीज हैं—उन्हें तो गिनता ही कौन है।

यद्यपि आप कह सकते हैं कि यहाँ, 'अपमान सहन करके भी भगवान् के द्वार की सेवा करने और उनके कटाक्ष-पात की इच्छा आदि' से भगवान् के विषय में ब्रह्मादिकों का प्रेम अभिव्यक्त नहीं होता, किंतु 'भगवान् का ऐश्वर्य वचन और मन के द्वारा अवर्णनीय तथा अज्ञेय है' यही अभिव्यक्त होता है; तथापि हम कहेंगे कि यहाँ कवि का भगवद्विषयक प्रेम अभिव्यक्त होता है और उसका अनुभाव है उस प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन करना। सो इसे देवताविषयक रति की ध्वनि का उदाहरण मानने में कोई बाधा नहीं।

पर यदि आप कहें कि यहाँ प्रधानतया ऐश्वर्य का ही वर्णन है, कवि की रति तो गौण है; तो छोड़िए झगड़ा, यह उदाहरण लीजिए—

न धनं न च राज्यसम्पदं न हि विद्यामिदमेकमर्थये।
मयि धेहि मनागपि प्रभो! करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम्॥

× × × ×

ना धन, ना नृप-संपदा, ना विद्या की चाह।
यही चहौं मो पै करहु करुनाभरी निगाह॥

भक्त भगवान् से कहता है—मैं न धन चाहता हूँ, न राज्य की संपत्ति चाहता हूँ और न विद्या ही चाहता हूँ। मैं तो एक यही चाहता हूँ कि हे प्रभो—हे मेरे स्वामिन्—तू मेरे ऊपर, दया की रचना से लहराती हुई दृष्टि को, यदि अधिक न हो सके तो थोड़ी सी ही, डाल दे।

यहाँ धनादिक की अपेक्षा से रहित भक्त की भगवान् के कटाक्षपात की अभिलाषा उनके विषय में उसके प्रेम को अभिव्यक्त करती है।

इस तरह संक्षेप से भावों का निरूपण कर दिया गया है।

भाव ३४ ही क्यों हैं ?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भावों की संख्या का नियम कैसे हो सकता है, वे ३४ ही क्यों हैं ? क्योंकि काव्यादिकों में अनेक स्थलों पर मात्सर्य, उद्वेग, दंभ (कपट), ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैब्य (कायरपन), क्षमा, कौतूहल, उत्कंठा, विनय (नम्रता), संशय और धृष्टता आदि भाव भी दिखाई देते रहते हैं, सो यह संख्या ठीक नहीं। इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त भावों में ही उनका भी समावेश हो जाता है, अतः उन्हें पृथक् गिनने की कोई आवश्यकता नहीं। यद्यपि वास्तव में असूया से मात्सर्य का, त्रास से उद्वेग का, अवहित्थ से दंभ का, अमर्ष से ईर्ष्या का, मति से विवेक और निर्णय का, दैन्य से क्लैब्य का, धृति से क्षमा का, औत्सुक्य से कौतूहल और उत्कंठा का, लज्जा से विनय का, तर्क से संशय का और

चपलता से धृष्टता का सूक्ष्म भेद है; तथापि ये भाव एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते—अर्थात् जहाँ असूया होगी वहाँ मात्सर्य अवश्य ही होगा—इत्यादि; अतः इन्हें उनसे पृथक् नहीं माना गया; क्योंकि जहाँ तक मुनि (भरत) के वचन का पालन हो सके, उच्छृंखलता करना अनुचित है।

इन संचारी भावों में से कुछ भाव ऐसे भी हैं, जो दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव हो जाते हैं; जैसे ईर्ष्या निर्वेद का विभाव है और असूया का अनुभाव; चिंता* निद्रा का विभाव है और औत्सुक्य का अनुभाव इत्यादि स्वयं सोच लेना चाहिए।

रसाभास

अच्छा, अब रसाभास की बात सुनिए। उसके लक्षण के विषय में कुछ विद्वानों का मत है—"अनुचित विभाव को आलंबन मानकर यदि रति आदि का अनुभव किया जाय तो 'रसाभास' हो जाता है। रहा यह कि किस विभाव को अनुचित मानना चाहिए और किसको उचित; सो यह लोक-व्यवहार से समझ लेना चाहिए। अर्थात् जिसके विषय में लोगों की यह बुद्धि है कि 'यह अयोग्य है', वही अनुचित है।" पर दूसरे विद्वान् इस लक्षण को सुनकर चुप नहीं

---

* चिंता को निद्रा का विभाव बताना कहाँ तक ठीक है, इसे सहृदय पुरुष सोच देखें।

—अनुवादक

रहना चाहते। वे कहते हैं—इस लक्षण के द्वारा यद्यपि मुनिपत्नी आदि के विषय में जो रति आदि होते हैं, उनका संग्रह हो जाता है; क्योंकि इतर मनुष्य मुनि-पत्नी आदि को अपना प्रेमपात्र माने यह अनुचित है; तथापि अनेक नायकों के विषय में होनेवाली और प्रियतम-प्रियतमा दोनों में से केवल एक ही में होनेवाली रति का इसमें संग्रह नहीं होता; क्योंकि वहाँ विभाव तो अनुचित है नहीं, किंतु प्रेम अनुचित रूप से प्रवृत्त हुआ है; अतः 'अनुचित' विशेषण रति आदि के साथ लगाना उचित है। अर्थात् यह लक्षण बनाना चाहिए कि "जहाँ रति आदि अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों, वहाँ रसाभास होता है"। इस तरह, जिसमें अनुचित विभाव आलंबन हो, जो अनेक नायकों के विषय में हो और जो प्रियतम-प्रियतमा दोनों में न रहती हो, उस रति का भी संग्रह हो जाता है। अनुचितता का ज्ञान तो इस मत में भी पूर्ववत् (लोक-व्यवहार से) ही कर लेना चाहिए।

रसाभास रस ही है अथवा उससे भिन्न ?

रसाभासों के विषय में एक और विचार है। कुछ विद्वानों का कथन है—"जहाँ रसादि के आभास होते हैं, वहाँ रस आदि नहीं होते और जहाँ रस आदि होते हैं, वहाँ रसाभास आदि नहीं होते, उन दोनों का साथ साथ रहना नियम-विरुद्ध है; क्योंकि जो निर्मल हो—जिसमें अनुचितता न हो—उसी का नाम रस है; जैसे कि जो हेत्वाभास

होता है, वह हेतु नहीं होता।" दूसरे विद्वानों का कथन है—"अनुचित होने के कारण स्वरूपनाश नहीं हो सकता अर्थात् वह रस ही है, किंतु दोषयुक्त होने से उन्हें आभास कहा जाता है; जैसे कोई अश्व (घोड़ा) दोषयुक्त हो, तो लोग उसे अश्वाभास कहते हैं।"

उदाहरण लीजिए—

शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने।
विबोध्य क्षामाङ्गीं चकितनयनां स्मेरवदनां
सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहह! सुकृती राजरमणीम्॥

× × × ×

करि सैकरनि उपाय शिखर पै पहुँच्यो महलनि।
सोई अमृतफेन-सुच्छ सेज्जा रचि कुसुमनि॥
चकितनयनि स्मितमुखी विरह-कृशतनु नृप-रमनिहिं।
भेंटत, धन्य, जगाइ, उसासनजुत, श्रम-शमनिहिं॥

कवि कहता है—सैकड़ों उपाय करके, किसी प्रकार, महलों की चोटी पर पहुँचा और अमृत के झागों के समान निर्मल पुष्पों की सेज पर सोई हुई कृशांगी को जगाया। उसने जगते ही उसे चकित नेत्रों से देखा और उसका मुखकमल खिल उठा। अहह! इस अवस्था में स्थित राजांगना को पुण्यवान् पुरुष, साँस भरे हुए आलिंगन कर रहा है।

यहाँ जिससे प्रेम करना अनुचित है, वह राजांगना आलंबन है। एकांत और रात्रि का समय आदि उद्दीपन हैं। साहस करके राजा के जनाने में जाना, प्राणों की परवा न करना, साँस भर जाना और आलिंगन करना आदि अनुभाव हैं एवं शंका आदि संचारी भाव हैं। यहाँ प्रेम का आलंबन जो राजांगना है, वह लोक तथा शास्त्र के द्वारा निषिद्ध है, इस कारण रस आभासरूप हो गया है।

यदि आप कहें कि यहाँ राज-रमणी के निषिद्ध होने के कारण रस आभास नहीं हुआ है, किंतु राज-रमणी का जो 'चकितनयना' विशेषण है, उससे यह अभिव्यक्त होता है कि उसे पर-पुरुष के स्पर्श से त्रास उत्पन्न हो गया है, और तब यह सिद्ध हो जाता है कि नायिका को कामी से प्रेम नहीं है, सो प्रेम के अनुभयनिष्ठ—अर्थात् केवल नायक में—होने के कारण रस आभास हो गया है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि, यद्यपि नायिका बहुत समय से इस पर आसक्त है, तथापि अंतःपुर में पर-पुरुष का जाना सर्वथा असंभव है, अतः 'यह मुझे कौन जगा रहा है' इत्यादि समझकर उसे त्रास होना उचित ही है। परंतु उसके अनंतर जब उसे उसका परिचय हुआ, तो उसने सोचा कि 'यह मेरा वह प्रियतम, मेरे लिये प्राणों को तिनका समझकर—उनकी कुछ परवा न करके, यहाँ आया है' तब उसे हर्ष उत्पन्न हुआ। इसी हर्ष को अभिव्यक्त करता हुआ राजरमणी का 'स्मेरवदना' विशेषण उसके प्रेम को

अभिव्यक्त करता है। परंतु इस पद्य में है नायक के प्रेम की ही प्रधानता; क्योंकि पूरे वाक्य का अर्थ वही है—यह पद्य उसी के वर्णन में लिखा गया है।

अच्छा, अब अनेक नायकों के विषय में प्रेम का उदाहरण सुनिए—

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव॥

× × × ×

विशत भवन, देखे गवन, आयसु चहत, दयाल।
बाल, तरुन-गन पै करी, नैन-नीरजनि माल॥

कवि कहता है—बालिका जब अपने घर में घुसने लगी तो उसने देखा कि मार्ग में युवा पुरुषों की एक टोली की टोली बिदाई के लिये किंचिन्मात्र आज्ञा प्राप्त करना चाहती है। करुणावती बालिका से न रहा गया, उसने सब युवाओं के ऊपर एक ही साथ नेत्र-कमलों की माला गिरा दी—सभी को प्रेमभरी दृष्टि से देख लिया।

यहाँ, कोई-एक नायिका कहीं से आ रही थी; रास्ते में उसके रूप-यौवन ने कुछ युवकों का चित्त चुरा लिया और वे लगे उसके पीछे पीछे चलने। नायिका जब घर में घुसने लगी, तो उसने देखा कि बेचारे युवक अपनी सेवा की सफलता समझने के लिये, बिदाई के आज्ञारूपी लाभ के लिये, ललचा रहे हैं; और उसे उनका परम परिश्रम स्मरण हो आया—उसे

याद आया कि बेचारे कब से पीछे पीछे डोल रहे हैं, सो दया आ गई; तब नायिका ने उन पर नयन-कमलों की माला डाल दी। यह नयन-कमलों की माला डालना रूपी जो अनुभाव है, उसके वर्णन से नायिका के प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, और 'तरुणेषु' इस बहुवचन के कारण 'वह अनेकों के विषय में है' यह सूचित होता है; सो यह भी रसाभास है।

अच्छा, अब अनुभयनिष्ठा रति का उदाहरण भी सुनिए—

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधूः।
तत्काल-जालपतिता बालकुरंगीव वेपते नितराम्॥

× × × ×

नव दुलहिन भुज-पींजरे पकरी वर, बेहाल।
कांपत, ज्यों बालक मृगी परी जाल ततकाल॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—नई ब्याही हुई दुलहिन को, वर ने, भुजा-रूपी पींजरे में पकड़ ली; सो वह बेचारी तत्काल जाल में पड़ी हुई हरिण की बच्चा की तरह काँप रही है।

यहाँ नववधू को प्रेम का थोड़ा भी स्पर्श नहीं है, सो रति अनुभयनिष्ठ होने के कारण आभासरूप हो गई। जैसा कि कहा गया है—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथाऽनुभयनिष्ठायाम्॥ इति॥

अर्थात् जहाँ उपनायक (जार), मुनि और गुरु की स्त्री के विषय में तथा अनेक नायकों के विषय में प्रेम हो, एवं स्त्री-पुरुष दोनों में से एक को प्रेम हो और एक को नहीं, (वहाँ रसाभास हुआ करता है)। यहाँ मुनि और गुरु शब्द उपलक्षणरूप से आए हैं, अतः इन शब्दों से राजादिकों का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए।

अच्छा, अब बताइए, निम्न-लिखित पद्य में क्या व्यंग्य है ?

व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः ।
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः ॥

× × × ×

परत पांडवन पै प्रथम द्रुपद-सुता के मंजु ।
अतिनत, चंचल, विकसित रु अति व्याकुल दृग-कंजु ॥

कवि कहता है कि—पांडवों के ऊपर, द्रौपदी की सबसे पहली दृष्टियाँ अत्यंत नम्र, चंचल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिर रही हैं।

"यहाँ नम्रता से, युधिष्ठिर के विषय में, धर्मात्मा होने के कारण, भक्तियुक्त होने को; चंचलता से, भीमसेन के विषय में, भारी डील-डौल होने के कारण, त्रास-युक्त होने को; विकसितता से, अर्जुन के विषय में, अलौकिक वीरता सुनने के कारण, हर्षयुक्त होने को तथा अत्यंत व्याकुल होने से, नकुल और सहदेव के विषय में, परम सुंदर होने के कारण, उत्सु-

कता को अभिव्यक्त करती हुई दृष्टियों के द्वारा द्रौपदी का अनेक नायकों के विषय में प्रेम अभिव्यक्त होता है; इस कारण यहाँ रसाभास ही व्यंग्य है।" यह है नवीन विद्वानों का मत। पर प्राचीनों* का तो मत है कि "अविवाहित अनेक नायकों के विषय में होने पर ही रति आभास रूप होती है, अन्यथा नहीं; अतः यहाँ विवाहित नायकों के विषय में प्रेम होने के कारण रस ही है"।

विप्रलंभाभास

व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमथो मौनं समालम्बते
सर्वस्मिन् विदधाति किञ्च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम्।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा! हन्त!! लङ्केश्वरः॥

× × × ×

अटपट बोलत बैन छनहिं, छन मौन रहत है।
सबहि वस्तु पै देत दीठि, पै कछु न गहत है॥
लेत सांस अति दीह, तनिक हु न धीरज धारत।
हा! लंकेशहिं जनकसुता-सौंदर्य सँहारत॥

---

* इस मत में अरुचि है, और उसका कारण यह है कि— जिस तरह अविवाहित अनेक नायकों से प्रेम अनुचित होता है, उसी प्रकार विवाहितों से भी। सो यहाँ विवाहित-अविवाहित का पचड़ा लगाना ठीक नहीं, और न लक्षण में ही विवाहित-अविवाहित के लिये पृथक व्यवस्था की गई है। यह है नागेश का अभिप्राय।

श्रीमती जनकनंदिनी के सौंदर्य से ग्रस्त किया हुआ लंकेश्वर-रावण बड़ा बेहाल हो रहा है। वह थोड़ी देर अंट-संट बोलता है तो थोड़ी देर चुप हो जाता है। सब चीजों को देखता है, पर उसकी आँखें कहीं जम नहीं पातीं। वह लंबे साँस लिया करता है और उसके अंगों में तनिक भी धीरज नहीं है। कभी हाथ पटकता है कभी पैर, उससे थोड़ा भी शांत नहीं रहा जाता।

यहाँ सीता के विषय में जो लंकेश का विरहावस्था का प्रेम है, सो अनुभयनिष्ठ—केवल रावण में—होने के कारण और जगद्गुरु भगवान् रामचंद्र की पत्नी के विषय में होने के कारण 'आभास' रूप है। उसे (प्रेम को) अटपट बोलने के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला उन्माद, चुप होने के द्वारा व्यक्त होनेवाला श्रम, आलंबनरहित देखने से अभिव्यक्त होनेवाला मोह, लंबे साँसों के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली चिंता और अंगों की अधीरता के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली व्याधि, ये संचारी भाव भी जगद्गुरु की पत्नी के विषय में होने के कारण आभासरूप होकर, पुष्ट करते हैं, और उनके द्वारा पुष्ट की हुई आभासरूप रति इस पद्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहे जाने का कारण है।

इसी तरह क्लेशकारी कुपूत आदि के विषय में वर्णन किया जानेवाला और वीतराग—अर्थात् संसार से प्रेम छोड़ देनेवाले—पुरुषों में वर्णन किया जानेवाला शोक, ब्रह्मविद्या के अनधिकारी

चंडालादिकों में वर्णन किया जानेवाला निर्वेद, निंदनीय और कायर पुरुषों में तथा पिता प्रभृति के विषय में वर्णन किए जाने-वाले क्रोध और उत्साह, बाजीगर आदि के विषय में वर्णन किया जानेवाला विस्मय, गुरुजन आदि के विषय में वर्णन किया जानेवाला हास, महावीर में वर्णन किया जानेवाला भय और यज्ञ के पशु के चरबी, रुधिर और मांस आदि के विषय में वर्णन की जानेवाली जुगुप्सा 'रसाभास' होते हैं। विस्तार हो जाने के भय से हमने यहाँ इनके उदाहरण नहीं लिखे हैं, सुबुद्धि पुरुषों को चाहिए कि वे सोच निकालें।

भावाभास

इसी तरह जिनका विषय अनुचित होता है, वे भाव 'भावाभास' कहलाते हैं। जैसे—

सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता
विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
नैवाऽपयाति हृदयादधिदेवतेव॥

× × × ×

सबै विषय बिसरे, गई विद्या हू विलखात।
हिय ते यह अधिदेवि-सम हरिननैनि ना जात।

सभी विषय विस्मरण के मार्ग में पहुँच गए और विद्या भी खिन्न होकर विमुख हो गई; पर केवल वह हरिण के बच्चे के

से नेत्रवाली, अधिदेवता के समान, मेरे हृदय से नहीं हट रही है—आज भी ज्यों की त्यों हृदय में बसी है। यह गुरुकुल में विद्याभ्यास करते समय, गुरुजी की पुत्री के लावण्य से मोहित हुए पुरुष की अथवा जिसका गमन अत्यंत निषिद्ध है, उस स्त्री को स्मरण करते हुए अन्य किसी की—जब वह विदेश में रहता था, तब की—उक्ति है।

यहाँ माला, चंदन आदि इंद्रियों के भोग्य पदार्थों में और बहुत समय तक सेवन की हुई विद्या में, अपने को छोड़ देने के कारण कृतघ्नता, और हरिणनयनी ने नहीं छोड़ा इस कारण उसकी अलौकिकता, व्यतिरेक (एक अलंकार) रूप से अभि-व्यक्त होती है। पर वे दोनों स्मृति को ही पुष्ट करती हैं, सो 'स्मृति-भाव' ही प्रधान है। इसी प्रकार न छोड़ने में भी जो सार्वदिकता (सब समय रहना) है, उसे अभिव्यक्त करनेवाली अधिदेवता* की उपमा भी उसी को पुष्ट करती है। यह स्मृति अनुचित (गुरुकन्या अथवा वैसी ही अन्य) के विषय में होने के कारण और अनुभयनिष्ठ होने—अर्थात् केवल नायक से संबंध रखने—के कारण 'भावाभास' है। पर, यदि यह माना जाय कि यह उस (हरिणनयनी) के वर की ही उक्ति है, तो यह पद्य 'भावध्वनि' ही है, यह समझना चाहिए।

* शास्त्रीय सिद्धांत है कि प्रत्येक वस्तु में एक अधिदेवता रहता है, और वह उसे कभी नहीं छोड़ता।

भावशांति

जिनके स्वरूप पहले वर्णन किए जा चुके हैं, उन भावों में से किसी भी भाव के नाश को 'भाव-शांति' कहते हैं। पर, वह नाश उत्पत्ति के समय का ही होना चाहिए—अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिए, उसके काम कर चुकने के बाद का नहीं; क्योंकि सहृदय पुरुषों को वही चमत्कृत करता है। उदाहरण लीजिए—

मुञ्चसि नाद्यापि रुषं भामिनि! मुदिरालिरुदियाय।
इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः॥

× × × ×

"भामिनि! अजहु न तजसि तू रिस उनई घन-पाँति।"
गयो सुतनु-दग-कोन रँग सुनि पिय-बच इहि भाँति॥

"हे कोपने! तू अब भी रोष नहीं छोड़ती, देख तो, मेघों की माला उदय हो आई है" इस तरह पति के वचनों ने, कृशांगी के नेत्र-कमल के कोने में जो अरुणकांति थी, उसे पी डाला—वह उत्पन्न होते होते ही उड़ गई।

यहाँ प्यारे के पूर्वोक्त वचन का सुनना विभाव है, नेत्र के कोने में उत्पन्न हुई ललाई का नाश, अथवा उसके द्वारा अभि-व्यक्त होनेवाली प्रसन्नता अनुभाव है और इनके द्वारा उत्पत्ति के समय में ही रोष का नष्ट हो जाना व्यंग्य है।

भावोदय

इसी तरह **भाव की उत्पत्ति को भावोदय कहते हैं।** उदाहरण लीजिए—

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी।
अंसदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥

× × × ×

देखि भामिनी दयित-उर हारचिह्न दुख-मूरि।
गल लिपटी निज-भुजलता कीन्हीं छिन में दूरि ॥

क्रोधिनी नायिका ने, प्यारे की छाती पर, सौत के हार का चिह्न देखते ही, जो बाहु-लता कंधे के चारों ओर लिपट रही थी, उसे तत्काल खींच लिया।

यहाँ भी प्यारे के वक्षःस्थल पर सौत के हार का चिह्न दीखना विभाव है और उसके कंधे पर से लिपटी हुई भुजलता का खींच लेना अनुभाव है। इनसे रोषादिक व्यंग्य हैं।

यद्यपि भावशांति में किसी दूसरे भाव का उदय और भावोदय में किसी पूर्व भाव की शांति आवश्यक है; तात्पर्य यह कि भावशांति और भावोदय एक दूसरे के साथ नियत रूप से रहते हैं; अतः इन दोनों के व्यवहार का विषय पृथक् पृथक् नहीं हो सकता। तथापि एक ही स्थल पर दोनों तो चमत्कारी हो नहीं सकते, और व्यवहार है चमत्कार के अधीन—अर्थात् जो चमत्कारी होगा उसी की ध्वनि वहाँ कही जायगी;

अतः दोनों के विषय का विभाग हो जाता है, चमत्कार के अनुसार उनको पृथक् पृथक् समझा जा सकता है।

भावसंधि

इसी तरह, **एक दूसरे से दबे हुए न हों, पर एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के एक स्थान पर रहने को 'भाव-संधि' कहते हैं।** उदाहरण लीजिए—

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः॥

× × × ×

जोबन-उद्गम तें सु अहैं जे अतिसै शंकित।
शील, शौर्य, बल, कांति देखि पुनि जे हैं लोभित॥
ते मिथिलाधिपसुता-नयनकमलनि की शोभा।
सँकुचत विकसत निरखि रामतन लहि-लहि छोभा॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—यौवन के उत्पन्न हो जाने के कारण अत्यंत शंकायुक्त और सच्चरित्रता, शूरवीरता, बल और कांति के कारण लोभयुक्त श्रीजनकनंदिनी के नेत्र-कमलों की शोभाएँ, श्री रघुवर के विषय में, संकुचित और विकसित हो रही हैं।

यहाँ भगवान् रामचंद्र के अंदर संसार भर से श्रेष्ठ यौवन की उत्पत्ति का एवं वैसी ही सच्चरित्रता, शूरवीरता आदि

का, देखना विभाव है, तथा नेत्रों के संकोच और विकास अनुभाव हैं; और, इनके द्वारा लज्जा और औत्सुक्य नामक भावों की संधि व्यंग्य है।

भावशबलता

एक दूसरे के साथ बाध्य-बाधकता का संबंध रखनेवाले अथवा उदासीन रहनेवाले भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं। मिश्रण शब्द का अर्थ यह है—कि अपने अपने वाक्य में पृथक् पृथक् रहने पर भी, महावाक्य का जो चमत्कारोत्पादक एक बोध होता है, उसमें सबका अनुभूत हो जाना। उदाहरण लीजिए—

पापं हन्त! मया हतेन विहितं सीताऽपि यद्यापिता
सा मामिन्दुमुखी विना बत! वने किं जीवितं धास्यति।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां किं ते वदिष्यन्ति माम्
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदम्, न प्राणितं कामये॥

× × × ×

जो सीतहिं मैं मृतक तजी हा! कियो पाप यह।
मो बिन बन में कहा जिएगी विधुवदनी वह॥
किमि सज्जन-मुख नैन यहै मम देखि सकेंगे।
अँगुरिन मोहिं दिखाय हाय! वे कहा कहेंगे॥
जाय राज्य पाताल यह मोहिं न याकी चाह है।
प्रान हु करैं पयान मुहिं इनकी ना परवाह है॥

सीता को वनवास देने के अनंतर भगवान् राम कहते हैं—अरे ! मुझ मृतक ने सीता को भी (जो पतिव्रताओं में प्रधान है) निकाल दिया—यह पाप किया है, हाय ! क्या वह चंद्रवदनी मेरे बिना जंगल में जी सकती है ? मैं भले मानुसों का मुँह कैसे देखूँ ! वे मुझे क्या कहेंगे ! यह राज्य रसातल में जाय, मैं जीना नहीं चाहता !

यहाँ 'अरे ! मुझ मृतक ने' इस शब्द खंड से **असूया**, 'सीता को भी निकाल दिया' इससे **विषाद**, 'यह पाप किया है' इससे **मति**, 'वह चंद्रवदनी' इससे **स्मृति**, 'क्या मेरे बिना जी सकती है ?' इससे **वितर्क**, 'मैं भले मानुसों का मुँह कैसे देखूँ !' इससे **लज्जा**, 'वे मुझे क्या कहेंगे' इससे **शंका**, और 'यह राज्य रसातल में जाय, मैं जीना नहीं चाहता !' इससे **निर्वेद**; ये भाव पूर्वोक्त विभावों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं और उनकी यहाँ शबलता हो गई है ।

शबलता के विषय में विचार

काव्यप्रकाश की टीका लिखनेवालों ने जो यह लिखा है कि "उत्तरोत्तर भाव से पूर्व पूर्व भाव के उपमर्द (दबा दिए जाने) का नाम शबलता है"; सो ठीक नहीं; क्योंकि "पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी, हस्तालंबं वितर हहहा ! व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।" इस पद्य में शंका, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और औत्सुक्य भाव, यद्यपि एक दूसरे

का लेशमात्र भी उपमर्द नहीं करते—परस्पर किंचिन्मात्र भी नहीं दबाते—तथापि स्वयं काव्यप्रकाशकार ने ही, पाँचवें उल्लास में, इन सबकी शवलता को राजा की स्तुति में गुणीभूत बतलाया है। यदि आप कहें कि—"अनंतरभावी विशेष-गुण से पूर्वभावी विशेष-गुण का नाश हो जाया करता है" यह नियम है, और चित्तवृत्तिरूप भावों का, नैयायिकों के सिद्धांत के अनुसार, इच्छा आदि विशेष-गुण में समावेश होता है, अतः बिना पूर्वभाव का नाश हुए उत्तर भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता, सो आपका कहना ठीक नहीं। तो हम कहेंगे कि—आप जिसकी बात कर रहे हैं, वह नाश न तो व्यंग्य होता है, न उसका नाम उपमर्द है, न चमत्कारी ही है कि उसे व्यंग्यों के भेदों में पृथक् गिना जाय। इस कारण यों मानना चाहिए कि—

> नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे।
> विलक्षणो यथाऽऽस्वादो भावानां संहतौ तथा॥

अर्थात् जिस तरह नारियल के जल, दूध, मिश्री और केलों के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार भावों के मिश्रण में भी होता है। तात्पर्य यह कि—जैसे पूर्वोक्त नारियल के जल आदि पदार्थ, मिलने पर, एक दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं करते, किंतु सब मिलकर, अपना-अपना स्वाद देते हुए भी, एक नया स्वाद उत्पन्न कर देते हैं;

उसी तरह भाव भी अपना अपना आस्वादन करवाते हुए भी एक नया आस्वादन उत्पन्न कर देते हैं।

भावशांति आदि की ध्वनियों में भाव प्रधान होते हैं, अथवा शांति आदि ?

यहाँ यह समझ लेने का है कि जो ये भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता की ध्वनियां उदाहरणों में दी गईं हैं, वे भी भावध्वनियाँ ही हैं। जिस तरह विद्यमानता की अवस्था में भावों का आस्वादन किया जाने पर अवस्था का प्राधान्य नहीं, किंतु भावों का प्राधान्य माना जाता है, इसी प्रकार उत्पन्न होते हुए, विनाश होते हुए, एक दूसरे से सटते हुए और एक साथ रहते हुए आस्वादन किए जाने पर भी भावों की ही प्रधानता उचित है; क्योंकि चमत्कार का विश्राम वहीं (भाव की चर्वणा में ही) जाकर होता है, केवल अवस्था मात्र में नहीं। यद्यपि उत्पत्ति, विनाश, संधि और शबलता का तथा उनसे संबंध रखनेवाले भावों का—दोनों का—आस्वादन समानरूप में होता है, अतः कौन प्रधान है और कौन अप्रधान यह नहीं समझा जा सकता; तथापि जब स्थिति की अवस्था में भावों की प्रधानता मानी जा चुकी है, तब भावशांति आदि में भी जिनके शांति आदि हैं, उन अभिव्यक्त होनेवाले भावों में ही प्रधानता की कल्पना करना उचित है। और यदि यह स्वीकार करोगे कि भावशांति आदि में भाव

प्रधान नहीं हैं, किंतु गौण हैं और शांति आदि प्रधान हैं, वे जिन काव्यों में भाव व्यंग्य होते हैं और शांति आदि वाच्य होते हैं, उनको आप भावशांति आदि की ध्वनियाँ नहीं कह सकते। जैसे कि—

उषसि प्रतिपक्षनायिकासदनादन्तिकमञ्चति प्रिये।
सुदृशो नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः ॥

× × × ×

सौति-सदन ते निजनिकट पिय आए लखि प्रात।
सुतनु-नयन-कोननि उदै भई तुरत दुति रात ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—विरोधिनी नायिका (सौत) के घर से, सबेरे के समय, जब प्रियतम अपने घर आए, तो सुनयनी नायिका के नयनकमलों के कोनों में झट अरुण कांति उदय हो आई।

यहाँ मूल में 'उदियाय' शब्द के द्वारा भाव के उदय की प्रतीति वाच्यरूप से ही कराई जा रही है। पर यदि आप कहें कि उदय के वाच्य होने पर भी भाव के वाच्य न होने के कारण इस काव्य को ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं तो हम कह सकते हैं कि आपके हिसाब से जो प्रधान है उदय, वह जब काव्य को ध्वनि कहलवाने की योग्यता नहीं रखता, तब अप्रधान (भाव) के कारण काव्य को ध्वनि कहना कैसे बन सकता है? पर हमारे मत में तो उत्पत्ति

के वाच्य होने पर भी जो उत्पत्ति से व्याप्त अमर्ष-भाव प्रधान है, उसके वाच्य न होने के कारण, इस पद्य को 'भावोदयध्वनि' कहना उचित ही है।

इसी तरह आपके मत में भाव ध्वनित होता हो और शांति वाच्य हो, तो वहाँ भी भावशांति की ध्वनि न होगी। जैसे—

क्षमापणैकपदयोः पदयोः पतति प्रिये।
शेमुः सरोजनयना नयनारुणकान्तयः॥

× × × ×

छमा करावन मुख्य थल चरन परे जब कांत।
कमलनयनि के नयन की अरुन कांति भइ शांत॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—क्षमा करवाने के सर्व प्रधान स्थान चरणों पर पति के गिरते ही कमलनयनी के नेत्रों की अरुण कांतियां शांत हो गईं।

यदि आप कहें कि—इन पद्यों में, शब्दों के द्वारा वाच्य जो शांति आदि हैं; उनका अन्वय अरुणकांति के साथ ही है, अमर्ष आदि भावों के साथ तो है नहीं; अतः यहाँ अरुणकांति के शांति आदि ही वाच्य हुए, न कि उनसे अभिव्यक्त होनेवाले रोषशांति आदि। कारण, व्यंग्य और व्यंजक दोनों पृथक् पृथक् होते हैं—यह तो अवश्य मानना पड़ेगा; सो यहाँ अरुणकांति की शांति के वाच्य होने पर भी रोष की शांति व्यंग्य ही रही; क्योंकि अरुणकांति की शांति व्यंजक है और

रोष की शांति व्यंग्य। यदि हम कहें कि—अरुणता के द्वारा व्यंग्य जो रोष है, उसी का वाच्य शांति आदि के साथ अन्वय है—अर्थात् हम व्यंग्य का ही वाच्य के साथ अन्वय मान लेते हैं तो आप कहेंगे, यह उचित नहीं। क्योंकि यह सिद्ध है कि पहले वाच्य की प्रतीति होती है, फिर व्यंग्य की; तब यह मानना पड़ेगा कि—जिस समय वाच्यों का अन्वय होगा, उस समय व्यंग्य उपस्थित ही नहीं हो सकता; फिर बताइए वाच्यों के साथ व्यंग्यों का अन्वय कैसा? दूसरे, यदि ऐसा ही मानो तो प्रथम-पद्य (उषसि...) में 'सुनयनी के नयन-कमलों में' इस वाक्यखंड का अन्वय नहीं हो सकता; क्योंकि अमर्ष तो चित्त-वृत्तिरूप है, वह आँखों में आवेगा कहाँ से? अतः उन वाच्य शांति आदि का अरुणकांति आदि के साथ ही अन्वय मानना ठीक है; सो इन पद्यों में भावशांति आदि वाच्य नहीं हो सकती। पर ऐसा न कहिए। क्योंकि ऐसा मानने पर भी—

निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः।
चिरापराधस्मृतिमांसलोपि रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव॥

× × × ×

स्मृति ते अतिबल भई सुचिर अपराधनि गन की।
कीन्हीं जाने परम विवशता निज तन-मन की॥
सो रिस मिस सो कीन्ह भई पाहुनि इक छन की।
जुवतिन धीरज-हरनि निरखि शोभा हरि-तन की॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—स्त्रियों के धैर्य को बलात् निकाल फेंकती हुई भगवान् कृष्णचंद्र की शोभा मृगनयनी ने ज्योंही पान की, त्योंही बहुत समय के अपराधों के स्मरण के कारण अत्यंत प्रबल हुआ भी रोष एक क्षण भर का पाहुना हो गया—उसका थोड़ा भी साहस न हुआ कि कुछ तो ठहरे।

इत्यादिक पद्य भी भावशांति की ध्वनियाँ होने लगेंगे। क्योंकि यहाँ यद्यपि रोष भाव वाच्य है, तथापि आपके हिसाब से जो प्रधान है, वह शांति "क्षण भर का पाहुना हुआ" इस अर्थ से व्यंग्य है। अब यदि आप कहें कि भाव और शांति दोनों का व्यंग्य होना अपेक्षित है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वोक्त दोनों पद्यों में शांति रूप से शांति (फिर वह रोष की हो चाहे अरुण कांति की) और इसी तरह उदय रूप से उदय (फिर वह अमर्ष का हो चाहे अरुण कांति का) वाच्य हो गए हैं, अतः वे पद्य उन दोनों ध्वनियों के उदाहरण न हो सकेंगे। और इस बात को स्वीकार कर लेना—कह देना कि हम तो इन्हें भावशांति और भावोदय की ध्वनियाँ मानते ही नहीं, सहृदयों के लिये अनुचित है। अतः यह सिद्ध होता है कि भावशांति आदि में भी प्रधान-तया भाव ही चमत्कारी होते हैं, शांति आदि तो गौण होते हैं; सो उनका वाच्य होना दोष नहीं।

हाँ, भावों की ध्वनियों से भावशांति आदि की ध्वनियों के चमत्कार की विलक्षणता में मुख्य कारण यह है कि भाव

ध्वनियों में भावों का स्थिति के साथ अमर्ष आदि के रूप में अथवा केवल अमर्ष आदि के रूप में ही आस्वादन होता है; पर भावशांति आदि की ध्वनियों में भावों के साथ शांति आदि की अवस्थावाले होने का भी आस्वादन होता है।

रसों की शांति आदि की ध्वनियाँ क्यों नहीं होतीं?

रसों में तो शांति आदि होते ही नहीं; क्योंकि उनका मूल है स्थायी भाव; और यदि उसकी भी उत्पत्ति और शांति होने लगे तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो जाय, उसमें और साधारण भावों में भेद ही क्या रहे? पर यदि कहो कि स्थायी भाव की भी अभिव्यक्ति के तो नाश आदि होते हैं, बस, उनको ही उसके शांति आदि मान लेंगे, सो उसमें कुछ चमत्कार नहीं; क्योंकि अभिव्यक्ति के नाश के उपरांत रहेगा ही क्या? इस कारण उसका यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

रस भाव आदि अलक्ष्यक्रम ही हैं अथवा लक्ष्यक्रम भी?

यह जो पूर्वोक्त रति आदि व्यंग्यों का प्रपंच है, वह जहाँ प्रकरण स्पष्ट हो, वहाँ, जो पुरुष अत्यंत सहृदय है, उसे तत्काल विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का ज्ञान हो जाता है, और उसके होते ही, बहुत ही थोड़े समय में प्रतीत हो जाता है, अतः अनुभवकर्त्ता को कारण और कार्य की पूर्वा-परता का क्रम नहीं दिखाई पड़ता, सो इसे 'अलक्ष्यक्रम' कहा

जाता है। पर, जहाँ प्रकरण विचार करने के अनंतर ज्ञात होता हो और जहाँ प्रकरण के स्पष्ट होने पर भी विभावादिकों की तर्कना करनी पड़े, वहाँ सामग्री के विलंब के अधीन होने के कारण चमत्कार में कुछ मंदापन आ जाता है, वह धीरे धीरे प्रतीत होता है; सो वहाँ यह रति आदि व्यंग्य-समूह संलक्ष्यक्रम भी होता है। जैसे—"तल्पगताऽपि च सुतनुः······" इस पद्य में, जो कि पहले उदाहरण में आ चुका है, 'संप्रति' इसके अर्थ का ज्ञान विलंब से होता है। सो उन्हें संलक्ष्यक्रम व्यंग्य भी मानने में कोई बाधा नहीं। और यह भी नहीं है कि रति आदि की ध्वनियाँ जिस प्रमाण से ग्रहण की जाती हैं, उस प्रमाण से उनकी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता सिद्ध होती हो, जिससे कि हमें उन्हें असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य मानने के लिये बाध्य होना पड़े। तात्पर्य यह कि वे संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य होते ही न हों, सो बात नहीं है। अतएव लक्ष्य-क्रमों के प्रसंग में आनन्दवर्धनाचार्य (ध्वन्यालोककार) का यह कथन है कि **"एवंवादिनि* देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥**

* यह पद्य 'कुमारसंभव' का है। इसका पूर्व प्रसंग और अर्थ यों है। पार्वती देवी की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने उन्हें वरण करने के लिये वरदान दिया। और उसका परिपालन करने के लिये उन्होंने महर्षि नारद को पार्वती के पिता पर्वतराज हिमालय के पास भेजा। जब वे उससे विवाह प्रसंग की बात कर रहे थे, उस समय की कवि की उक्ति है कि—

इस पद्य में बालिकाओं के स्वभाव के अनुसार भी मुख की नम्रता सहित खेलने के कमलों के पत्रों का गिनना सिद्ध हो सकता है; अतः, थोड़े बिलंब से, जब नारदजी के किए हुए विवाह के प्रसंग का ज्ञान होता है, तब, पीछे से, लज्जा का चमत्कार होता है, सो यह (लज्जा की) ध्वनि (अभिव्यक्ति) लक्ष्यक्रम है।" और अभिनवगुप्ताचार्य (ध्वन्यालोक की टीकालोचन के कर्त्ता) का भी यह कथन है कि "रस भाव आदि पदार्थ ध्वनित ही होते हैं, कभी वाच्य नहीं होते, तथापि सभी अलक्ष्यक्रम का विषय नहीं हैं—अर्थात् वे संलक्ष्यक्रम भी हैं।"

पर, यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि ये रसादिक संलक्ष्यक्रम भी हों, तो अनुरणनात्मक ध्वनियों के भेदों के प्रसंग में "अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते हैं"। यह अभिनवगुप्त की उक्ति और "सो यह बारह प्रकार का है" यह मम्मट भट्ट की उक्ति असंगत हो जायगी। क्योंकि व्यंजक अर्थ दो प्रकार का होता है—एक वस्तुरूप, दूसरा अलंकाररूप। और उनमें से प्रत्येक स्वतःसंभवी (अर्थात् संसार में उपलब्ध हो सकनेवाला), कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविकल्पित कथन मात्र से सिद्ध) और कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध (अर्थात् कवि ने जिसका अपने ग्रंथ में वर्णन किया है, उस वक्ता की प्रौढ़ोक्ति

नारदजी ने पिताजी के पास इस तरह बात की, तो पार्वती नीचा मुँह करके जो खेलने के कमल थे, उनके पत्रों को गिनने लगी।

मात्र से सिद्ध) इन तीन तीन उपाधियों से युक्त होते हैं; अतः जिस तरह व्यंग्य वस्तु और अलंकार ६-६ रूपों में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार रसादिक भी ६ रूपों में अभिव्यक्त होंगे, और इस तरह पूर्वोक्त भेद, बारह की जगह अठारह होने चाहिएँ।

इसका प्रत्युत्तर यह है कि अभिनवगुप्तादिकों के अभिप्राय का इस तरह वर्णन कर दो कि स्पष्ट प्रतीत होनेवाले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के परिज्ञान होने के अनंतर, क्रम का ज्ञान न होकर, जिस रति आदि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है, वही रसरूप बनता है, क्रम के लक्षित होने पर नहीं। क्योंकि रसरूप होने का अर्थ ही यह है कि स्थायी भाव का, झट से उत्पन्न होनेवाले अलौकिक चमत्कार का विषय बन जाना, यह नहीं कि धीरे धीरे समझने के बाद उसमें अलौकिक चमत्कार का उत्पन्न हो जाना। अतः जिस रति-आदि की प्रतीति का क्रम लक्षित हो जाता है, उसे वस्तु-मात्र—अर्थात् केवल रति आदि ही—कहना चाहिए, रसादिक नहीं। सो उनकी उक्तियों का विरोध नहीं रहता। तात्पर्य यह कि इस तरह रस आदि के छः भेद भी वस्तु के ही अंतर्गत हो जाते हैं, सो अठारह भेद लिखने की आवश्यकता नहीं रहती। पर, इस बात को सिद्ध करने के लिये कि 'अलक्ष्यक्रम होने पर ही रस मानना चाहिए और लक्ष्यक्रम होने पर नहीं'; युक्ति विचारने की आवश्यकता है। अर्थात् इस कथन में कोई युक्ति

नहीं है, अतः संलक्ष्यक्रम होने पर भी रस मानने में कोई बाधा नहीं*। रहा पूर्वोक्त अभिनवगुप्त का वाक्य, सो उसमें जो 'रस,

---

* यहां भी नागेश भट्ट की टिप्पणी है, और मार्मिक है। वे कहते हैं कि विभाव आदि की प्रतीति और रस की प्रतीति में जो सूक्ष्मकाल का अंतर होता है, जिसे कि क्रम कहा जाता है, उसकी यदि सहृदय पुरुष को प्रतीति हो जावे, तो विभावादिकों के और रस के पृथक्-पृथक् प्रतीत होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समय भी विभावादिकों की प्रतीति पृथक् रहेगी, और इस तरह विगलितवेद्यांतरता—अर्थात् रस के ज्ञान के समय दूसरे ज्ञातव्य पदार्थों का न रहना—नहीं बन सकती। और जब तक वह न बने, तब तक उसे रस कहा ही नहीं जा सकता। रही रस की विगलितवेद्यांतरता, सो वह तो सभी सहृदयों को संमत है, अतः आप (पंडितराज) को भी है ही। सो इस बात में साधकयुक्ति है, फिर इसे युक्तिरहित कहना ठीक नहीं। यह तो है प्राचीन विद्वानों की रीति से समाधान।

अब नवीन विद्वानों का समाधान सुनिए। वे कहते हैं कि—कोई पद अथवा पदार्थ वक्ता आदि की विशेषता और प्रकरण आदि का साथ होने पर ही व्यंजक हो सकता है; अतः यह सिद्ध होता है कि उनके सहित ही विभावादिकों का ज्ञान होने के अनंतर रस की प्रतीति होती है, और विभाव आदि के ज्ञान तथा रस की प्रतीति के मध्य में जो क्रम रहता है, उसके न दिखाई देने के कारण अलक्ष्यक्रम कहा जाता है। अब सोचिए कि यदि प्रकरण आदि के ज्ञान का विलंब होने से विभाव आदि के ज्ञान में विलंब हो भी जाय, तथापि, पूर्वोक्त उदाहरण में, अलक्ष्यक्रमता में कोई बाधा नहीं होती। क्योंकि विभावादिकों के ज्ञान और उसके उत्पन्न करनेवाले प्रकरणादि के ज्ञान के क्रम को लेकर अलक्ष्यक्रमता नहीं मानी जाती, किंतु विभावादिकों के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले रस आदि के ज्ञान के क्रम को लेकर मानी जाती है। इसी

भाव आदि' अर्थ लिखा है, वहाँ 'रस आदि' शब्द का अर्थ 'रति आदि' समझना चाहिए, वास्तविक रस नहीं।

ध्वनियों के व्यंजक

सो इस तरह यह जो रस आदि ध्वनियों का व्यंजक निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदों, वर्णों, रचनाओं, वाक्यों, प्रबंधों (ग्रंथों) और पद के अंशों एवं जो अक्षररूप नहीं हैं, उन रागादिकों के द्वारा निरूपण की जाती है। उनमें से प्रत्येक का विवरण सुनिए—

पदध्वनि

यद्यपि वाक्य के अंतर्गत जितने पद होते हैं, वे सभी अपने अपने अर्थ को उपस्थित करके, समान रूप से ही, वाक्यार्थ के ज्ञान का साधन होते हैं, तथापि उनमें से कोई एक ही पद

अभिप्राय के अनुसार "अर्थशक्तिमूलक के १२ भेद होते हैं" इस अभिनवगुप्त की उक्ति को और विभावादिकों के अतिरिक्त अन्य किसी वाच्यार्थ की अपेक्षा से क्रम भी ग्रहण किया जा सकता है, सो लक्ष्यक्रम होने की उक्ति को—दोनों को—किसी तरह ठीक कर लेना चाहिए। सहृदयों का अनुभव इस बात की साक्षी नहीं देता कि विभावादि की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य किसी वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर भी विगलितवेद्यांतरता हो जाय, कि जिससे वाच्यार्थ और विभावादि के क्रम का ज्ञान होने पर भी रसत्व नष्ट हो जाय। तात्पर्य यह कि विगलितवेद्यांतरता विभावादि की प्रतीति और रस की प्रतीति का क्रम न जानने पर हो जाती है, वाच्यार्थ और विभावादि के क्रम से उससे कुछ संबंध नह ।

काम कर जानेवाला अतएव चमत्कारी होता है कि जिसके कारण वाक्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहा जा सके। जैसे—"मंदमाक्षिपति" अथवा "हरुए रही उठाय" इसमें "मंदम्" अथवा "हरुए" शब्द।

वर्ण, रचना ध्वनि

रचना और अक्षर, यद्यपि पदों और वाक्यों के अंतर्गत होकर ही व्यंजक होते हैं, क्योंकि पृथक् रचना और अक्षरमात्र तो व्यंजक पाए नहीं जाते; अतः यह कहा जा सकता है कि वैसी रचना और वर्ण से युक्त पद और वाक्य व्यंजक होते हैं। सो उनकी व्यंजकता में जो पदार्थ विशेष रूप से रहने-वाले हैं, उन्हीं में इनका भी प्रवेश हो जाता है, अतः इन्हें स्वतंत्र रूप से व्यंजक मानने की आवश्यकता नहीं रहती, तथापि पदों और वाक्यों से युक्त रचना और वर्ण व्यंजक है अथवा रचना और वर्ण से युक्त पद और वाक्य; इन दोनों में से एक बात को प्रमाणित करने के लिये कोई साधन नहीं है, इस कारण प्रत्येक की व्यंजकता सिद्ध हो जाती है। जैसे कि घड़े का कारण चाकसहित डंडा माना जाय अथवा डंडा-सहित चाक; इनमें से जब एक बात को सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, तब—चाक और उसे फिराने का डंडा—दोनों पृथक् पृथक् कारण मान लिए जाते हैं। सो वर्ण और रचना को भी पृथक् व्यंजक मानना अनुचित नहीं। यह तो है प्राचीन विद्वानों का मत।

परंतु नवीन विद्वानों का उनसे मतभेद है। वे कहते हैं कि—वर्ण और उनकी भिन्न भिन्न प्रकार की वैदर्भी आदि रचनाएँ माधुर्य आदि गुणों को ही अभिव्यक्त करती हैं, रसों को नहीं; क्योंकि ऐसा मानने में एक तो व्यर्थ ही रसादिकों के व्यंजकों की संख्या बढ़ती है; दूसरे, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं। पर, यदि आप कहो कि माधुर्य आदि गुण रसों में रहते हैं, अतः उन्हें अभिव्यक्त किए बिना केवल गुणों की अभिव्यक्ति कैसे की जा सकती है? सो ठीक नहीं; क्योंकि बिना गुणी की अभिव्यक्ति के गुणों की अभिव्यक्ति न होती हो—यह कोई, नियम नहीं है। देखिए, इस नियम का, नासिका आदि तीन इंद्रियों में, भंग हो गया है। वे गंध आदि गुणों को अभिव्यक्त करती हैं, पर उन गुणों से युक्त पृथिवी आदि पदार्थों को नहीं। अर्थात् नाक से पृथिवी का अनुभव नहीं होता, केवल गंध का ही होता है इत्यादि। इस तरह यह सिद्ध होता है कि गुणी, गुण और इनके अतिरिक्त अन्य तटस्थ पदार्थों को अपने अपने अभिव्यंजक उपस्थित करते हैं; फिर वे कभी परस्पर संमिलित रूप से और कभी उदासीन रूप से उन उन ज्ञानों (दर्शन-श्रवणादिकों) के विषय हो जाते हैं, वैसे ही रस और उनके गुण भी अभिव्यक्ति के विषय होते हैं—अर्थात् वे पृथक् पृथक् व्यंजकों से उपस्थित किए जाते हैं, और, फिर कभी सम्मिलित रूप से तथा कभी उदासीन रूप से ग्रहण किए जाते हैं। सारांश यह कि वर्णों और रचनाओं को

रसों का व्यंजक मानना ठीक नहीं, उन्हें केवल गुणों का व्यंजक मानना चाहिए।

वर्णों और रचनाओं की व्यंजकता का उदाहरण **"तां तमालतरुकांतिलंघिनीम्..."** इत्यादि पहले बता ही चुके हैं।

वाक्यध्वनि

वाक्यों की व्यंजकता का उदाहरण भी "आविर्भूता यद-वधि मधुस्यंदिनी......" इत्यादि दिखाया जा चुका है।

प्रबंधध्वनि

प्रबंधों—अर्थात् ग्रंथों—की व्यंजकता के विषय में सुनिए। शांत-रस का उदाहरण है "योगवासिष्ठ" एवं करुण-रस का उदाहरण है "रामायण"। और रत्नावली आदि तो शृंगार के व्यंजक होने के कारण प्रसिद्ध ही हैं। रहे भाव के उदा-हरण, सो उनमें मेरी (पंडितराज की) बनाई हुई "गंगा-लहरी" आदि पाँच लहरियाँ हैं।

पदैकदेशध्वनि

पदों के अंशों की व्यंजकता का उदाहरण, जैसे पूर्वोक्त "निखिलमिदं जगदंडकं वहामि" इस पद्यांश में अल्पार्थक 'क' रूपी तद्धित-प्रत्यय वीर-रस का अभिव्यंजक है। अर्थात् उस प्रत्यय से वाक्य का यह तात्पर्य हो गया, कि यह छोटा सा जगत् का गोला क्या चीज है, जिससे वक्ता का उत्साह, जो वीर-रस का स्थायी भाव है, प्रतीत होता है। इसी तरह

में सहृदयों का हृदय ही प्रमाण है। अर्थात् यदि उनका अनुभव है, तो उसे भी स्वीकार करना चाहिए।

इस तरह इन रसादिकों के प्रधान होने पर उदाहरण निरूपण कर दिए गए हैं। जब ये गौण हो जाते हैं, तब उनके उदाहरण और नाम (रसवान् आदि) वर्णन किए जायँगे।*

एक विचार

इस विषय में भी विद्वानों का मतभेद है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि—"जब ये रसादिक प्रधान होते हैं, तभी इनको रसादिक कहना चाहिए, अन्यथा रति आदि ही कहना चाहिए। सो गौणता की अवस्था में, "रसवान्" नाम में जो रस शब्द है, उसका अर्थ रति आदि ही है, शृंगार आदि नहीं।"

दूसरे विद्वानों का कथन है कि "रसादिक तो वे भी हैं, पर उनके कारण उन काव्यों को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) नहीं कहा जा सकता।"

---

* खेद है कि पंडितराज अपनी इस प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर सके। उनका ग्रंथ अपूर्ण ही प्राप्त होता है और उसमें यह प्रकरण नहीं आ सका।

—अनुवादक

'हिंदी-रसगंगाधर' में आए हुए पद्यों की सूची

१

संस्कृत-पद्य

२

हिंदी-पद्य

पुस्तक पढ़ने से प्रथम कृपया इतना अवश्य सुधार लीजिए।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	८	मभङ्गर	मभङ्गुर
३	१६	करते ही	मात्र से ही
३४	१८	वी सत्थे	वीसत्थे
३४	२०	दरी असीहेण	दरीअसीहेण
३६	११	ओण्णिाद	ओण्णिादं
४९	२०	गात्रात्रे	गोत्रात्रे
५२	५	द्रोहो क	द्रोहोद्रेक
५८	६	बोरा	बटेरा (सकोरा)
५९	३	जाता	जा सकता
७४	१८	मान	मानस
७६	५	का द्वारा	के द्वारा
१०४	२०	निर्दयता से	निर्दयता ते
११०	७	तनिक हूँ	तनिक हू
१११	२१	बूझैं	जूझैं
१२१	१७	ँ सता	हँसता
१३४	७	करते हैं	कहते हैं
१६०	१८	सपुलका	सपुलकः

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६६	१३	क ना	करना
१७१	१५	है यह"	है" यह
१७५	१८	अर्थव्यक्ति	अर्थव्यक्ति है,
१८०	९	रहा है	रही है
१८४	५	वर्गों	वर्णों
१८६	१६	होता नहीं	तो होता नहीं
१८७	१९	आगे	ऐसा आगे
१९०	८	जिह्वामूलियों	जिह्वामूलीयों
१९०	१२	वर्गों	वर्णों
१९१	३	पूवार्ध में	पूर्वार्ध में
१९१	५	बर्गों	वर्णों
१९५	२२	शांत	इसी समय शांत
१९६	५	तीसरा संयोग	तीसरे अक्षर का संयोग
२०६	८	व्यभिचार्यं जितो	व्यभिचार्यञ्जितो
२०७	७	अभिव्यञ्जकता	केवल अभिव्यञ्जकता
२१३	५	बुद्धि-साधारण	बुद्धि साधारण
२२८	१४	तवाऽध	तवाऽधरं
२४२	१४	वक्षोजाग्र	वक्षोजाग्रं
२४८	८	छुट जाना	छूट जाना
२५५	१५	अनुभाव	अनुभव

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५९	२	का ण	कारण
२६१	७	अम	अमर्ष
२७४	३	जा	जो
२८८	७	नयना नयना	नयनानयना
२८९	१	ारा	द्वारा
२९६	४	व्यंजक	प्रपंच